प्रबन्ध-प्रभाकर

उच्चकोटि के साहित्यिक एवं अन्य प्रकार के निबंध

(सातवाँ संशोधित और परिवर्धित संस्करण)

श्री गुलाबराय एम. ए., एल-एल. बी.

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालंधर और इलाहाबाद

जुलाई १९४९

विषय-सूची

निबंध-संख्या

विवेचनात्मक निबंध

) परिचयात्मक तथा तुलनात्मक आलोचना

घ) भाषा सम्बन्धी

प्रबन्ध-प्रभाकर

लेखन-कला के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

आवश्यकता और महत्त्व

साधारण बोलचाल की भाषा में शिक्षित मनुष्य को पढ़ा-लिखा कहते हैं। हम लोग प्रायः शिक्षित तो सभी हैं, किन्तु इसमें कुछ संदेह है कि हम अपने शिक्षा-काल में पढ़ने के साथ कुछ लिखना भी सीखते हैं या नहीं। हम में से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो वास्तव में 'पढ़े-लिखे' कहे जा सकते हैं।

हमारा अधिकांश पढ़ना हमको लिखना नहीं सिखाता। इसका कारण यह है कि हम प्रायः परीक्षा पास करने के लिए पढ़ते हैं, योग्यता प्राप्त करने के लिए नहीं। कई कारणों से हमारा शिक्षा का ध्येय कुछ गिर-सा गया है, नहीं तो परीक्षा पास करना और योग्यता प्राप्त करना दो प्रतिकूल बातें नहीं हैं। दोनों एक साथ संभव हैं, केवल अध्ययन की प्रणाली में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि अध्ययन रुचि के साथ हो, उसमें पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर उसे मनन का विषय बनाया जाय तो वह अवश्य उत्पादक बन सकता है। उचित प्रकार के अध्ययन से अधीत विषय अध्ययनकर्ता के मस्तिष्क के सम्मुख में न रहकर बाहर आने को उत्सुक रहेगा। वह ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति चाहेगा। हमारे वे सभी विचार और भाव, जो कुछ शक्ति रखते हैं, प्रकाश में आना चाहते हैं। उनका प्रकाशन यद्यपि अधिकतर

स्वाभाविक होता है तथापि उसमें शिक्षा और कला की थोड़ी आवश्यकता रहती है। विचारों का सरल और सुन्दर भाषा में प्रकाशन ही उनको स्पष्टता देता है। बिना लिखे हुए विचार नीहार की भाँति अस्पष्ट और धूमिल रहते हैं। लेखन-कला में दीक्षा प्राप्त कर मनुष्य व्यवहार-कुशल बन जाता है और वह आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

अध्ययन

लिखने की शक्ति प्राप्त करने से पूर्व थोड़ी-बहुत प्रतिभा या 'गाँठ की अक्ल' के साथ अध्ययन, अनुभव और अभ्यास की आवश्यकता है। प्रतिभा ईश्वरी देन है। किन्तु वह अध्ययन आदि से बढ़ायी जा सकती है। अध्ययन को सफल बनाने के लिए उसमें थोड़ी सावधानी अपेक्षित है। हमारा अध्ययन हमारे मानसिक संस्थान का अंग तभी बन सकता है जब कि अधीत विषय का अपने पूर्वार्जित ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय। इसके लिए मनन आवश्यक है। हमको भेद और समानताएँ दोनों ही को ध्यान में रखना वाञ्छनीय है। विचार और भाषा दोनों की ही नवीनताओं और विशेषताओं को नोट कर उन्हें अपने मानस-पटल पर अंकित करना, नये प्रयोगों को ध्यान में रखकर उनको व्यवहार में लाना और शब्दों पर अधिकार प्राप्त करने के अर्थ उनकी व्युत्पत्ति और कोश का अर्थ जानना लाभदायक सिद्ध होगा। हमको अपना अध्ययन इस लक्ष्य से करना चाहिए कि हम उसको किस प्रकार उपयोगी बना सकते हैं। जिस लेख को हम पढ़ें उसको केवल मनोविनोद के लिए नहीं वरन् उससे कुछ लाभ उठाने के लिए पढ़ें। हमको यह देखना आवश्यक है कि अमुक कथा, लेख, उपन्यास या कवित किस उद्देश्य से लिखा गया है ? और जिस उद्देश्य से वह लिखी ग है उसकी पूर्ति करती है या नहीं ? यदि नहीं तो उसमें क्या कमी और हम उस कमी को पूरा कर सकते हैं अथवा नहीं ? हमको केव इसी से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, वरन् उसी उद्देश्य को लेक हम नवीन कृति रचकर तैयार करनी चाहिए। ऐसा करने से हमा

अध्ययन हमारी स्फूर्ति और प्रतिभा को बढ़ाने में सहायक होगा।

अध्ययन के साथ-साथ निरीक्षण भी आवश्यक है। अध्ययन दूसरों की आँखों से देखना है और निरीक्षण स्वयं अपनी आँखों से। अपनी आँखों-देखी बात सुनी हुई बात से अधिक महत्त्व रखती है। संसार में हमको आँख खोलकर चलना चाहिए। अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि जो कोई घटना हम देखें उसका अपने पुस्तकस्थ ज्ञान से मिलान करें और विचार और विवेचना के पश्चात् यदि आवश्यक समझें तो अपने ज्ञान में संशोधन कर लें। लेखक को अपनी कल्पना से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। निरीक्षित वस्तु को कल्पना में उलट-फेरकर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उसके साहित्यिक वर्णन में कितनी काट-छाँट वा नमक-मिर्च की आवश्यकता होगी। हम जिसके संपर्क में आवें उसकी विशेषताएँ, उसका उठना-बैठना, उसकी रहन-सहन, उसकी प्रसन्नता और नाराज़गी की बातों को नोट करना अपना कर्तव्य समझें। ऐसा करना हमें व्यवहारकुशल बना देगा। हमें सांसारिक ज्ञान से अनभिज्ञ न रहना चाहिए। पूर्णतया शिक्षित होने के लिए दूसरे देशों के रीति-रिवाज जानना भी स्पृहणीय है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि कौन चीज़ कहाँ और किस समय उत्पन्न होती है। ऐसा न करने से हमारी रचनाओं में देश और काल-सम्बन्धी विरोध के दूषण रह जाना संभव है। जानवरों की विशेषताएँ जानना भी एक उपादेय गुण है। जिन पौधों और जिन वृक्षों का साहित्य में वर्णन आता है, यदि उनका निजी परिचय प्राप्त कर लिया जाय तो बहुत अच्छा है।

निरीक्षण

तीसरी बात जो लेखक बनने के लिए आवश्यक है वह अभ्यास है। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता। लेख ठीक कराने का चाहे अवसर मिले या न मिले, लेख लिखना उपयोगी है। यदि स्वयं अपने विचार

अभ्यास

स्वाभाविक होता है तथापि उसमें शिक्षा और कला की थोड़ी आवश्यकता रहती है। विचारों का सरल और सुन्दर भाषा में प्रकाशन ही उनको स्पष्टता देता है। बिना लिखे हुए विचार नीहार की भाँति अस्पष्ट और धूमिल रहते हैं। लेखन-कला में दीक्षा प्राप्त कर मनुष्य व्यवहार-कुशल बन जाता है और वह आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

अध्ययन

लिखने की शक्ति प्राप्त करने से पूर्व थोड़ी-बहुत प्रतिभा या 'गाँठ की अक्ल' के साथ अध्ययन, अनुभव और अभ्यास की आवश्यकता है। प्रतिभा ईश्वरी देन है। किन्तु वह अध्ययन आदि से बढ़ायी जा सकती है। अध्ययन को सफल बनाने के लिए उसमें थोड़ी सावधानी अपेक्षित है। हमारा अध्ययन हमारे मानसिक संस्थान का अंग तभी बन सकता है जब कि अधीत विषय का अपने पूर्वार्जित ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय। इसके लिए मनन आवश्यक है। हमको भेद और समानताएँ दोनों ही को ध्यान में रखना वाञ्छनीय है। विचार और भाषा दोनों की ही नवीनताओं और विशेषताओं को नोट कर उन्हें अपने मानस-पटल पर अंकित करना, नये प्रयोगों को ध्यान में रखकर उनको व्यवहार में लाना और शब्दों पर अधिकार प्राप्त करने के अर्थ उनकी व्युत्पत्ति और कोश का अर्थ जानना लाभदायक सिद्ध होगा। हमको अपना अध्ययन इस लक्ष्य से करना चाहिए कि हम उसको किस प्रकार उपयोगी बना सकते हैं। जिस लेख को हम पढ़ें उसको केवल मनोविनोद के लिए नहीं वरन् उससे कुछ लाभ उठाने के लिए पढ़ें। हमको यह देखना आवश्यक है कि अमुक कथा, लेख, उपन्यास वा कविता किस उद्देश्य से लिखी गयी है? और जिस उद्देश्य से वह लिखी गयी है उसको पूरा करती है या नहीं? यदि नहीं तो उसमें क्या कमी है और हम उस कमी को पूरा कर सकते हैं अथवा नहीं? हमको केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, वरन् उसी उद्देश्य को लेकर एक नवीन कृति रचकर तैयार करनी चाहिए। ऐसा करने से हमारा

अध्ययन हमारी स्फूर्ति और प्रतिभा को बढ़ाने में सहायक होगा।

निरीक्षण

अध्ययन के साथ-साथ निरीक्षण भी आवश्यक है। अध्ययन दूसरों की आँखों से देखना है और निरीक्षण स्वयं अपनी आँखों से। अपनी आँखों-देखी बात सुनी हुई बात से अधिक महत्त्व रखती है। संसार में हमको आँख खोलकर चलना चाहिए। अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि जो कोई घटना हम देखें उसका अपने पुस्तकस्थ ज्ञान से मिलान करें और विचार और विवेचना के पश्चात् यदि आवश्यक समझें तो अपने ज्ञान में संशोधन कर लें। लेखक को अपनी कल्पना से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। निरीक्षित वस्तु को कल्पना में उलट-फेरकर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उसके साहित्यिक वर्णन में कितनी काट-छाँट वा नमक-मिर्च की आवश्यकता होगी। हम जिसके संपर्क में आवें उसकी विशेषताएँ, उसका उठना-बैठना, उसकी रहन-सहन, उसकी प्रसन्नता और नाराज़गी की बातों को नोट करना अपना कर्तव्य समझें। ऐसा करना हमें व्यवहारकुशल बना देगा। हमें सांसारिक ज्ञान से अनभिज्ञ न रहना चाहिए। पूर्णतया शिक्षित होने के लिए दूसरे देशों के रीति-रिवाज जानना भी स्पृहणीय है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि कौन चीज़ कहाँ और किस समय उत्पन्न होती है। ऐसा न करने से हमारी रचनाओं में देश और काल-सम्बन्धी विरोध के दूषण रह जाना संभव है। जानवरों की विशेषताएँ जानना भी एक उपादेय गुण है। जिन पौधों और जिन वृक्षों का साहित्य में वर्णन आता है, यदि उनका निजी परिचय प्राप्त कर लिया जाय तो बहुत अच्छा है।

अभ्यास

तीसरी बात जो लेखक बनने के लिए आवश्यक है वह अभ्यास है। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता। लेख ठीक कराने का चाहे अवसर मिले या न मिले, लेख लिखना उपयोगी है। यदि स्वयं अपने विचार

न हों तो किसी दूसरे के विचारों को अपनी भाषा में लिखने का अभ्यास डाला जाय। विद्यार्थियों को चाहिए कि लेख लिखकर उन्हें स्वयं दो–तीन बार पढ़ें, उनमें स्वयं ही आवश्यक परिवर्तन और संशोधन करें और स्वयं ही उनकी शुद्ध लिपि तैयार करें। यदि किसी को दिखाकर सम्मति प्राप्त करने या संशोधन कराने का अवसर मिले तो बहुत ही अच्छा है और यदि नहीं तो भी अभ्यास के लिए लिखना अवश्य चाहिए। ऐसा न हो कि निबन्ध-लेखन का पहला अभ्यास परीक्षा-भवन में ही किया जाय। जो संशोधन किया जाय उनको याद रखना उचित है, एक-एक प्रकार के कई लेख लिखे जाने वाञ्छनीय हैं। पहले छोटे लेख लिखे जायँ फिर क्रमशः बड़े लिखे जायँ। जो कुछ लिखा जाय उसमें पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए, असावधानी से लेखन-शैली बिगड़ जाती है।

प्रबन्धों के प्रकार

यद्यपि विषयों की अनन्तता के कारण प्रबन्धों के कई प्रकार हैं तथापि उनमें चार भेद मुख्य हैं—(१) विवरणात्मक (Narrative), (२) वर्णनात्मक (Descriptive), (३) विवेचनात्मक (Reflective), (४) भावात्मक (Emotional)

विवरणात्मक

विवरणात्मक लेखों में किसी काल में बीती हुई बात का विवरण रहता है। कथाओं का कहना, घटनाओं, लड़ाइयों, यात्राओं, सम्मेलनों, राजाओं के शासनकाल आदि का विवरण देना, ऐसे लेखों का मुख्य विषय रहता है।

वर्णनात्मक

वर्णनात्मक लेखों में नगरों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों, प्राकृतिक दृश्यों, कारखानों, योजनाओं, वस्तुओं की निर्माणविधि आदि का स्पष्ट और ब्यौरेवार वर्णन रहता है। विवरणात्मक लेखों में कालक्रम की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वर्णनात्मक में वस्तु को बीती हुई न बताकर वरन् सामने घटित होती हुई-सी या स्थित-सी वर्णित की जाती है। दोनों प्रकार के

निबन्धों के बीच की रेखा बड़ी क्षीण है और प्रायः लेखों में विवरण और वर्णन दोनों के ही तत्त्व रहते हैं।

विवेचनात्मक

विवेचनात्मक लेखों में विवादास्पद विषयों का पक्ष-प्रतिपक्ष प्रतिपादन, किसी वस्तु वा प्रथा के गुण-दोष-विवेचन, किसी पुस्तक वा कवि की समालोचनाएँ तथा सिद्धान्तों का उद्घाटन आदि रहता है। इसमें बुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक लेखों में कल्पना के सामने चित्र उपस्थित किया जाता है। कुछ लेख भावात्मक भी होते हैं; उनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय से अधिक काम लिया जाता है। इस प्रकार के लेख प्रायः गद्य-काव्य के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं।

विचार-संग्रह और क्रम बद्ध करना

लेख लिखने से पूर्व हमको अपने विषय के सम्बन्ध में पूरा विचार कर लेना चाहिए। जो विचार आवें उनको लिखकर उनमें क्रम स्थापित कर लेना आवश्यक है। जो विचार एक साथ रक्खे जा सकते हैं उनको एक संदर्भ वा परिच्छेद (Paragraph) के लिए रख लेना वांछनीय है। उन संदर्भों में एक स्वाभाविक आनुपूर्वी स्थापित कर लेना लेख में संगति और तार्किकता उत्पन्न कर देगा। लेख की थोड़ी-सी भूमिका देकर उसके पक्ष वा विपक्ष में जो कुछ विचारणीय बातें हों वे अलग अलग आनी चाहिएँ। तदनन्तर उसके व्यावहारिक पहलू पर (यदि उसका व्यावहारिक पहलू हो तो) विचार, कर लेना भी श्रेयस्कर होगा। अन्त में उसके फल-स्वरूप दो चार ऐसे और सारगर्भित सुन्दर वाक्य लिखना वांछनीय होगा जो बहुत देर तक हमारे ऊपर अपना प्रभाव बनाये रहें।

लेख का आरम्भ आकर्षक रूप से करना चाहिए, जिससे पाठक की उत्सुकता बढ़ जाय। कहीं पर एक साधारण सिद्धान्त बतलाकर लेख आरम्भ किया जाता है, कहीं पर समस्या उपस्थित कर दी जाती है और कहीं पर परिभाषा से शुरू कर देते हैं। किन्तु परिभाषा देना

अधिक अच्छा नहीं समझा जाता। इसका कोई नियम नहीं स्थापित किया जा सकता। विषय और अवसर के अनुकूल अपनी अपनी स्फूर्ति से काम लेना उचित होगा। वर्णनात्मक वा विवरणात्मक लेखों में स्वाभाविक क्रम रखना चाहिए। यात्रा में घर से चलने से पूर्व अभीष्ट स्थान पर पहुँचने का वर्णन देना असंगत होगा। कहानी को भी क्रम से ही कहना पड़ता है। उसमें काल का क्रम रहता है। इमारत आदि के वर्णन में देश का क्रम रहता है। पहले अड़ोस-पड़ोस की स्थिति का, फिर दरवाजे का, उसके पीछे भीतर की कारीगरी इत्यादि का वर्णन होना चाहिए।

संगति और निर्वाह

विचारों में संगति रखना परम आवश्यक है। यह संगति तब ही आ सकती है जब कि विचार स्पष्ट हों। यदि विचार स्पष्ट नहीं हैं तो उतने ही विचार रक्खे जावें जितने कि स्पष्ट हों। विचारों की अस्पष्टता भाषा में भी अस्पष्टता उत्पन्न कर देती है। जो कुछ लिखा जाय उसका पूरा निर्वाह करना लेखकों को अपना प्रथम कर्तव्य समझना चाहिये। विषय के प्रतिपादन में किसी प्रकार की असावधानी न की जावे। एक अधिकरण में एक ही प्रधान विचार से सम्बन्ध रखनेवाले पोषक विचार रक्खे जावें। जहाँ तक हो विचार इधर उधर न घूमें। ऐसा न हो कि कभी एक विचार आ जावे और कभी दूसरा अथवा एक के पूरे होने से पूर्व दूसरा बीच में ही कूद पड़े। विचारों के सम्बन्ध में जहाँ तक हो संगति रखना आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से हम वस्तु को देखें, उसी दृष्टिकोण की बातें लिखें। यदि दृष्टिकोण दूसरा बनावें तो उसे स्पष्टतया बतला देवें।

भाषा और शैली

भाषा और शैली की उत्तमता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचारों की। उत्तम भाषा और शैली से लेखक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और पाठकों के हृदय की ग्राहकता बढ़ जाती है। अशुद्ध

और अस्पष्ट भाषा सुन्दर से सुन्दर विचारों की आकर्षकता को नष्ट कर देती है और वे विचार मरुभूमि में पड़े बीजों की भाँति अनुत्पादक रह जाते हैं। भाषा में सब से पहले इस बात की ज़रूरत है कि वह सर्व-साधारण के समझने योग्य हो। यद्यपि क्लिष्ट विषय के लिए क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है तथापि साधारण विचार को अलंकारों के आवरण में छिपा देना अथवा पाण्डित्य प्रदर्शन के हेतु पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करना उचित नहीं।

शब्दों में अर्थ की उपयुक्तता के साथ ध्वनि की मधुरता भी वांछनीय है। यद्यपि ध्वनि के लिए अर्थ का बलिदान करना श्रेयस्कर नहीं है तथापि जहाँ पर निभ सके एक स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों का एक साथ आना श्रवण-सुखद होता है। छोटे शब्दों के बाद बड़े शब्दों का रखना श्रेयस्कर होगा। जैसे—अनुगामी और सेवक के स्थान में सेवक और अनुगामी अधिक श्रुति-मधुर है। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शब्दों का तार्किक क्रम न बिगड़े। जहाँ उतार का क्रम हो वहाँ उतार का रहे और जहाँ चढ़ाव का क्रम हो वहाँ चढ़ाव का रहे। 'ऊख, मयूख, पियूख' में चढ़ाव का क्रम है। यथा सम्भव शब्दों की उपयुक्तता का ध्यान रखते हुए उनकी पुनरावृत्ति से बचना चाहिए जैसे 'चाहिए चाहिए' की पुनरावृत्ति अच्छी नहीं लगती। उसके स्थान कहीं पर 'वांछनीय लिखना और कहीं पर 'आवश्यक' या 'उचित होगा' से काम लेन श्रेयस्कर होगा।

अनुप्रास शैली का गुण है किन्तु उसका बाहुल्य शैली का दोष हो जाता है। एक से शब्दों की पुनरावृत्ति एकतानता (Monotony) उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार गद्य में तुकबन्दी के शब्द अग्राह्य हो उठते हैं।

मुहावरों का प्रयोग भाषा की शक्ति को बढ़ा देता है। चिरकाल

से प्रयुक्त होने के कारण उनके व्यवहार में आत्मीय के मिलन का सा आनन्द प्राप्त होता है।

अपने विषय का प्रतिपादन करते हुए जोश में न आना चाहिए। बहुत भावोत्तेजक शब्द लिखना शिक्षा की कमी का द्योतक होता है। 'हा ! अहो, भाइयो, पाठको' आदि शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है। बिना भावोत्तेजक शब्दों के व्यवहार किये भी भाषा ज़ोरदार बनायी जा सकती है। गांभीर्य रखते हुए कहीं-कहीं हास्य का पुट आ जाना सोने में सुगन्ध का काम करता है। उससे पढ़नेवाले पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और वह ऊबने नहीं पाता। हास्य जहाँ तक साहित्यिक हो वहाँ तक अच्छा है। कभी-कभी बड़े लेखकों या कवियों के प्रसिद्ध वाक्यों में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर देना बड़ा शिष्ट हास्य उत्पन्न कर देता है; जैसे रघुवंश के 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' के स्थान में 'रोगेनान्ते तनुत्यजाम्' लिख देना अथवा 'उमा दारु योषित की नाईं सबहिं नचावे राम गुसाईं' तुलसीदास जी की इस चौपाई में 'राम गुसाईं' के स्थान में 'दाम (धन) गुसाईं' लिख देने से बात बड़ी रोचक बन जाती है।

शब्दों के चुनाव में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। सब पर्यायवाची शब्द एक ही अर्थ नहीं रखते; जैसे—भय अधिकतर वर्तमान का और कभी-कभी भविष्य का भी होता है, आशंका केवल भविष्य की ही होती है। आशंका में अनिश्चय की मात्रा अधिक रहती है। लज्जा दूसरों से होती है, ग्लानि के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। जहाँ तक हो बहुत समासवाले या कर्णकटु शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए। संस्कृत के जो शब्द रक्खे जावें शुद्धरूप में रक्खे जावें, विकृतरूप में न रक्खे जावें। फारसी अंगरेजी के भी तत्सम शब्द रक्खे जायँ, किन्तु उनमें विभक्तियाँ आदि हिन्दी की ही लगाना उपयुक्त होगा और अब फारसी की तत्समता निभाने के लिए क या ख के नीचे बिन्दी लगाना वाञ्छनीय नहीं समझा जाता। खुराक ही लिखेंगे ख़ुराक नहीं।

विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ लोगों का तो यह कथन है कि दूसरी भाषा का एक भी शब्द लाने की आवश्यकता नहीं है। थर्मामीटर को तापमापक, फोटोग्राफी को छायाचित्रण आदि संस्कृत शब्दों से पुकारा जाय। इसके विपरीत कुछ लोग बेधड़क अंगरेज़ी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों के पक्ष में हैं। अन्य भाषाओं के जो शब्द प्रचार में आ गये हैं उनके स्थान में अप्रचलित शब्द रखना अधिक युक्ति-संगत नहीं है। यद्यपि अन्य भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा संस्कृत के शब्द अधिक ग्राह्य समझे जाते हैं, तथापि केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए संस्कृत शब्दों का प्रयोग उचित नहीं। शब्दों का अक्षर-विन्यास (हिज्जे) एक सा ही होना वांछनीय है। यदि संस्कृत के ढंग से अनुस्वार के स्थान में पंचम वर्ण का प्रयोग किया जाय तो वैसा ही सब स्थानों में करना उचित होगा।

उपर्युक्त शब्द-योजना के अतिरिक्त अच्छे लेखक को वाक्य-संगठन की ओर ध्यान देना आवश्यक है। प्रायः वे वाक्य अच्छे समझे जाते हैं जिनका आशय अन्त में पूरा हो जिस से वाक्य के खतम करने तक आकांक्षा और कौतूहल बना रहे। ऐसे वाक्यों को वाक्योच्चय (Period) कहते हैं। नीचे का वाक्य देखिए:—

'सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गये त्यों-त्यों उनके मूलरूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये।' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

शिथिल वाक्य (Loose)—ऐसे वाक्यों में अनुचित विस्तार-दोष हो जाता है। एक विशेषण-वाक्य में दूसरा विशेषण-वाक्य लगाना भी अच्छा नहीं समझा जाता।

कभी कभी एक-से संगठन के वाक्यों का तारतम्य उपस्थित करना कथन की प्रभावोत्पादकता को बढ़ा देता है। ऐसे वाक्यों को समीकृत (Balanced) वाक्य कहते हैं। नीचे का वाक्य इसका उदाहरण है:—

'उसने निश्चय किया कि वह उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी, जिसका आश्रय लेकर पुरुष उसे रमणी समझता है, उस गृह-बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देगी जिस की सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी जिसके कारण उसे बाह्य जगत के कठोर संघर्ष से बचने के लिए पुरुष के निकट रक्षणीया होना पड़ा है।' श्रीमती महादेवी वर्मा)।

इस शब्दावली में भिन्नता होते हुए भी शब्दों का संगठन एक-सा है। एक से वाक्यों का सामूहिक प्रभाव पड़ता है।

वाक्य प्रायः छोटे अच्छे होते हैं किन्तु विषय के अनुकूल वाक्यों का बड़ा हो जाना बुरा नहीं, किन्तु उनमें स्पष्टता का ध्यान रखना चाहिए। बड़े वाक्यों में स्पष्टता लाने के लिए विराम-चिह्न बड़े सहायक होते हैं। शैलियाँ दोनों तरह की होती हैं। कहीं-कहीं थोड़े में बहुत-से भाव भर दिये जाते हैं। जिस शैली में भाव ठसे हुए रहते हैं उसे समास शैली कहते हैं और जिसमें फैले रहते हैं उसे व्यास शैली कहते हैं। विचारात्मक निबन्धों के लिए 'समास शैली अच्छी होती है और भावात्मक के लिए व्यास शैली। समास शैली इतनी कठिन न होनी चाहिए कि रचना पढ़नेवाले को लोहे के चनों की भाँति कठिन बन जाय।

अच्छी रचना में बुद्धि, कल्पना और रागात्मक तत्त्वों का सुखद संतुलन रहता है। कल्पना पर प्रभाव डालने के लिए भाषा में चित्रोपमता लाना आवश्यक होता है। सूक्ष्म सिद्धान्त की अपेक्षा स्थूल चित्र कल्पना को अधिक ग्राह्य होते हैं। इसी लिए रूपक भाषा को सजीवता प्रदान करने में समर्थ होते हैं। मन-कामना 'पूर्ण हुई' की अपेक्षा 'फलीभूत हुई' अधिक भाव-व्यञ्जक होता है। 'भूखा है' न कहकर 'पेट में चूहे कलाबाजी कर रहे हैं' या 'पेट पीठ चिपक गये हैं'—कहना अधिक प्रभावोत्पादक है। आनन्द लूटना, सौरभ बिखेरना, रूप सुधा का पान करना, कार्य भर से दबना, कार्य सञ्चालन करना

आदि प्रयोग कल्पना को चित्रों द्वारा प्रभावित करने के उदाहरण हैं। ऐसे प्रयोगों में भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लिया जाता है। लक्षणा और व्यञ्जना के सफल प्रयोग से गद्य में भी काव्य का सा आनन्द और चमत्कार आ जाता है। 'अन्धे का दुख गूंगा होकर आया', 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है' आदि वाक्यों पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

विद्यार्थियों को चाहिए कि प्रशस्त लेखकों की शैली का अध्ययन कर देखें कि वे कौन-से साधनों को काम में लाये हैं। उन साधनों को जानकर उन से लाभ उठाते हुए विद्यार्थियों को अपनी स्वतंत्र शैली का निर्माण करना चाहिए।

यह लेख-माला विद्यार्थियों के मानसिक विस्तार के लिए लिखी गयी है। इसमें उनको बहुत-से स्वतंत्र लेखों के लिए सामग्री मिलेगी; किन्तु इनको पढ़कर ही उनके कार्य की इति-श्री नहीं हो जाती। जिन विचारों को इन लेखों द्वारा उत्तेजना मिले उनकी अन्य ग्रन्थों से पुष्टि करना परम आवश्यक है। विद्यार्थियों को चाहिए कि इनसे मिलते-जुलते और भी विषयों पर लेख लिखें। एक विषय के लेख के लिए उससे सम्बद्ध दूसरे लेखों से भी सामग्री का चयन करें। एक उदाहरण लीजिए; 'क्या विज्ञान का कविता और धर्म के साथ विरोध है?' इस शीर्षक के निबन्ध के साथ, 'वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्त्व' भी पढ़कर ध्यान में रखना अच्छा होगा। विज्ञान और धर्म का एक स्वतन्त्र लेख तैयार किया जा सकता है। जहाँ तक सम्भव हुआ है सम्बद्ध विषय ए साथ रक्खे गये हैं। विद्यार्थियों के लाभ के लिए इस संस्करण में कुछ लेख और बढ़ा दिये गये हैं।

विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए हिन्दी में पर्याप्त हत्य है। भरे घर का चोर क्या उठाये और क्या छोड़े। फिर भी डाक्टर श्याम सुन्दर दास का हिन्दी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन, पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा तुलसीदास,

प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री का हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, मिश्र-बंधुओं का हिन्दी नवरत्न, प्रोफेसर रामकुमार वर्मा का हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास और साहित्य-समालोचना, पं० पद्मसिंह शर्मा लिखित बिहारी-सतसई की भूमिका और हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र का देव और बिहारी, 'रसाल' का साहित्य परिचय, बख्शी जी का हिन्दी-साहित्य विमर्श और साहित्य शिक्षा, आचार्य द्विवेदी जी का रसज्ञ-रंजन, पं० किशोरीदास वाजपेयी की साहित्य-मीमांसा, श्री नगेन्द्रजी का साकेत का एक अध्ययन और सुमित्रानन्दन पन्त, प्रोफेसर सत्येन्द्र की साहित्य की झाँकी और गुप्त जी की कला, श्री धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दी भाषा और लिपि तथा विचार धारा, कृष्णशंकर शुक्ल का आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक का नवरस, हिन्दी नाट्य विमर्श, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप इत्यादि ग्रन्थ विद्यार्थियों का साहित्यिक ज्ञान परिपक्व करने में बड़े सहायक होंगे। वैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने में लेखक की विज्ञान वार्ता पढ़ना उपयोगी होगा। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उच्चकोटि के निबन्ध लिखने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। लेखक ने भी इन ग्रन्थों में से बहुत से ग्रन्थों से लाभ उठाया है। उनके सुयोग्य लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ लेखक इस लेखमाला को विद्यार्थियों के हाथ सौंपता है। आशा है कि वे अपने मानसिक विकास में सहायता लेकर यथोचित लाभ उठाएँगे और उसके परिश्रम को सफल करेंगे।

---

१. काव्य का क्या लक्षण है और उसका मानव-जीवन से क्या सम्बन्ध है ?

यद्यपि काव्य की यथार्थ परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद है, तथापि इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि उसका उदय मानव-हृदय में होता है और वह मानव-हृदय को प्रभावित कर आनन्द का उत्पादक होता है। 'काव्य क्या है ?' इसके उत्तर में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखनेवाले अनुभवों की आनन्द-प्रदायिनी सुन्दर शब्द-मयी अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। काव्य में भाव का प्राधान्य रहता है। थोड़ी सामग्री में बहुत-से भावों को व्यंजित कर देना काव्य का बाहरी लक्षण है।

कविता का मानव-जीवन से विशेष सम्बन्ध है। उसका दृष्टिकोण ही मानवीय है। काव्य उन्हीं अनुभवों को लेता है जिनका कि मनुष्य से भावात्मक संबंध है। यह बात काव्य और विज्ञान का दृष्टिकोण-भेद बतला देने से और भी स्पष्ट हो जायगी। विज्ञान जिस वस्तु को देखता है उसको वैसा ही कहता है, उसके लिए सुन्दर और असुन्दर कुछ नहीं। जल ओषजन(Oxygen) और उदजन (Hydrogen) से मिलकर बनता है, इसमें न उसको हर्ष है, न विषाद। फूल के लिए वह बता देगा कि उसमें इतनी पंखुड़ियाँ हैं, इतने तन्तु हैं, वह कार्बन (Carbon) और उदजन (Hydrogen) आदि से बना है। किन्तु कवि फूल को अपने हृदय से देखेगा। फूल के देखने से कवि के हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, वह उसको बतलायेगा। कवि फूल में सौन्दर्य देखता है। फूल उसके लिए हँसता और खिलखिलाता है। वह प्रकृति-देवी की प्रसन्नता का सूचक है। वह उसके प्रियतम भगवान

के प्रेम-संदेश का वाहक है। कवि के लिए शिथिल पत्रांक में सोती हुई सुहागभरी जुही की कली मलयानिल से प्रेमालाप करती है। कवि सारी सृष्टि को मानवीय रूप में देखता है और उसमें मानवीय भावों को आरोपित कर अपनी सहानुभूति के क्षेत्र को विस्तृत कर लेता है। वैज्ञानिक वस्तु की सचाई को बतलाता है। कवि अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभाव को सच्चे रूप में बतलाता है। वैज्ञानिक के लिए मनुष्य भी भौतिक तत्त्वों का संघात है और भौतिक नियमों से शासित होता है, किंतु कवि के लिए मनुष्य ईश्वर का अंश है; उसमें जीते-जागते भाव हैं जो उसके हृदय को प्रभावित करते हैं, मनुष्य उसके लिए एक कर्त्तव्य और लक्ष्य रखने वाला जीव है। कवि की दृष्टि से मनुष्य स्वतंत्र है; उसकी आत्मा भौतिक नियमों के बंधन से परे है। उसके भाव सरिता की स्वच्छन्द गति से बहते हैं। मनुष्य स्वयं सुन्दर है और वह सौन्दर्य का उत्पादक भी है।

इस विवेचना से प्रकट होता है कि वैज्ञानिक के लिए मनुष्य भी प्रकृति का एक अंग है, उसमें कोई विशेषता नहीं, और कवि के लिए प्रकृति भी मानवीय रूप धारण कर लेती है। यद्यपि वैज्ञानिक भी प्रकृति को मनुष्य जाति की अनुचरी बना कर उसका उपयोग मानवीय हित के लिए करता है, तथापि उसकी दृष्टि में प्रकृति का प्राधान्य है। वह मनुष्य को भी प्राकृतिक नियमों के बन्धन में रखता है और उसको प्राकृतिक दृष्टिकोण से देखता है। कवि इसके विपरीत प्रकृति को भी मानवीय दृष्टिकोण से देखता है। इसलिए काव्य का विशेष रूप से मानव-जीवन से सम्बन्ध है।

यह तो रही साधारण सिद्धान्त और दृष्टिकोण की बात। काव्य का मनुष्य जीवन से कई अन्य प्रकारों से भी सम्बन्ध है। सबसे पहले तो काव्य आनन्द देता है और आनन्द मनुष्य का मुख्य ध्येय है। काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द का भाई बतलाया गया है। मनुष्य जब अपने जीवन में चारों ओर संघर्ष पाता है

तब काव्य ही उसके जीवन में साम्य उपस्थित कर उसके जीवन-भार को हलका करता है। काव्य के द्वारा मनुष्य-जाति की सहानुभूति बढ़ती है। मनुष्य अपने संकुचित घेरे से बाहर आ जाता है। वह भावों की समता के कारण सारी मानव-जाति को एक परिवार के रूप में देखने लगता है। अच्छे साहित्यिक के लिए कोई जाति-भेद नहीं रहता। जो भाव वह कालिदास में देखता है वही वह शेक्सपीयर में पाता है। वह टैंपेस्ट की एकान्त-वासिनी नायिका मिरैंडा में तपोवन-विहारिणी शकुन्तला का रूप देखता है। यदि जातियों के भेद-भाव दूर होने की संभावना है तो साहित्य का उसमें बहुत बड़ा भाग होगा। कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वभारती इसी लक्ष्य को सामने रखकर काम कर रही है। काव्य का अनुशीलन मानव-हृदय को विस्तृत बना देता है। मनुष्य सारे संसार में और सब काल में मानव हृदय की समस्याओं की एकता पाता है। काव्य के वर्णन देश-काल विशेष से घिरे हुए नहीं होते। शकुन्तला की विदा का दृश्य प्रत्येक गृहस्थ की कन्या के पतिगृह-गमन का दृश्य बन जाता है। मालती और माधव का प्रेम मालती और माधव का प्रेम नहीं रहता, वरन् उस स्थिति के प्रेमी और प्रेमिका मात्र का प्रेम बन जाता है।

सहानुभूति के अतिरिक्त काव्य के अनुशीलन से व्यवहार-कुशलता भी बढ़ जाती है। काव्यों में मानवजाति का अनुभव घनीभूत होकर चिरस्थायी बन जाता है। हम दूसरों की असफलता और सफलता से लाभ उठा सकते हैं। काव्य मानव जाति की सामूहिक स्मृति है। जो स्थान व्यक्ति के जीवन में स्मृति का है वही स्थान समाज के जीवन में काव्य का है। प्राचीनों की सत्कृतियों का स्मरण दिला कर काव्य हमारे हृदय में उत्साह और कर्मण्यता का संचार कर देता है। काव्य हम में आत्मगौरव और स्वाभिमान की उत्पत्ति करता है। काव्य के द्वारा हमें भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न भिन्न काल के व्यवहारों का ज्ञान होता है, उससे हमको परस्पर व्यवहार में सहायता मिलती है। जो अनुभव

मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में नहीं प्राप्त कर सकता वह अनुभव उसको नाटक और उपन्यासों से मिल जाता है। वह मानवजाति के मनोविज्ञान को समझने लग जाता है और उसमें कुछ व्यवहार-कुशलता प्राप्त कर लेता है।

काव्य से हमारे भाव और मनोवेगों की शुद्धि, पुष्टि और परिमार्जन होता है। यदि हमारी भावना-शक्ति को सामग्री न मिले तो उसका ह्रास हो जाता है। प्रत्येक इन्द्रिय और शक्ति को व्यायाम की आवश्यकता है। हमारी भावना-शक्ति को काव्य में एक प्रकार का सुलभ व्यायाम मिल जाता है। बिना वास्तविक दुःखों के अनुभव किये दुःख से जो हमारे मन का पवित्री-करण होता है वह सुलभतया प्राप्त हो जाता है। हमारे व्यक्तिगत अनुभव में सब प्रकार के भावों की पुष्टि का अवसर नहीं होता, किन्तु काव्य में सब प्रकार के भावों की पुष्टि हो सकती है। इनके अतिरिक्त काव्य और रीति-ग्रन्थों के पढ़ने से भावों के बाह्य व्यंजकों का भी ज्ञान हो जाता है। हम जानते हैं कि गुस्से में नथुने फूल जाते हैं, मुँह लाल हो जाता है, हाथ काँपने लगते हैं। हम इन चिह्नों को देख लेने से मानव-हृदय के आन्तरिक भावों के समझने की पटुता प्राप्त कर लेते हैं और क्रोध के अवसर को बचाकर अपना काम निकाल सकते हैं। आकृति के परिवर्तनों द्वारा मानवीय भावों के जान लेने का विज्ञान हमारी समझ में आ जाता है और हम अपने भाइयों से व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त हमको शब्दों का ठीक प्रयोग भी आ जाता है। हमको ज्ञात हो जाता है कि कैसे समय में कैसे शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। कहाँ हास्य या व्यंग्य से काम लेना चाहिए और कहाँ गांभीर्य से। समाज में बहुत से लड़ाई-झगड़े अपने भावों को पूर्णतया व्यक्त न कर सकने के कारण अथवा दूसरों के भावों को न समझने के कारण होते हैं। काव्य के अनुशीलन से इन दोनों बातों में सुलभता प्राप्त हो जाती है। एक मित्र के भ्रम को दूर कर देना सहज कार्य नहीं। बात के हेर-फेर के

कारण ही बहुत से समझौते रुके रहते हैं। काव्य का अनुशीलन करने वाला शब्दों की शक्ति को जानता है। वह यह भी जानता है कि कौन अर्थ किस शब्द से समझा जा सकता है। वह दूसरों की बात को भी भली प्रकार समझ सकता है, क्योंकि उसका मानव-हृदय से परिचय रहता है। वह अपने को दूसरे की स्थिति में रख सकता है। उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि एक वस्तु कई दृष्टियों से देखी जा सकती है। इस प्रकार काव्य का अनुशीलन जीवन को सफल, साम्यमय और सरल बनाने में सहायक होता है। वह बेकार को भी खाली नहीं रखता, उसको प्रसन्नता देकर मानव-जाति के प्रति घृणा के भावों को कम कर देता है। काव्य का अध्ययन निरापत्तिजनक व्यसन है। वह जीवन को जीवन के योग्य बनाता है। इसीलिए कहा है कि—

काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

—oo—

२. काव्य-कला और चित्र-कला

कला आनन्द से उद्वेलित (तरंगित) आत्मा का अभिव्यंजन (प्रकटीकरण) है। जब आत्मा आनन्द-विभोर होकर भीतर से बाहर प्रकट होना चाहती है, तभी कला की उत्पत्ति होती है। जब मीरा आनन्द-मग्न होकर गा उठती है कि—'मेरे तो गिरधरगोपाल दूसरो न कोई' तब उसकी आत्मा संगीत में प्रकट होने लगती है। यही सच्ची कला है। मनुष्य अपनी आत्मा का, कहीं तो स्थूल प्रस्तर मूर्तियों द्वारा, कहीं चित्रों द्वारा और कहीं लेखों और काव्य द्वारा प्रकटीकरण करता है। कहीं पर उसका आनन्द नृत्य का रूप धारण कर लेता है और कहीं पर उसकी आन्तरिक स्फूर्ति अपने शरीर को अलंकृत करने में प्रस्फुटित होती है, ये सब कला के रूप हैं।

भारतवर्ष में ६४ कलाएँ मानी गई हैं। वास्तव में कलाएँ अनन्त हैं। यह आत्मा का अभिव्यंजन भौतिक सामग्री द्वारा होता है। आत्मा भौतिक सामग्री पर अपनी छाप डाल देती है। कई कलाओं में भौतिक सामग्री का प्राचुर्य रहता है और कई में कमी। वे ही कलाएँ श्रेष्ठ या उच्च गिनी जाती हैं, जिनमें भौतिक सामग्री का आश्रय कम हो और आत्मा की छाप अधिक। इसी कसौटी पर कलाएँ कसी जाकर ऊँची और नीची ठहराई जाती हैं। स्थापत्य को सामग्री के बाहुल्य के कारण सब से नीचा स्थान दिया जाता है। संगीत और काव्य का सम्बन्ध ध्वनि से है। संगीत केवल ध्वनि को प्रधानता देता है, इसलिए उसमें इतनी सम्पन्नता नहीं आती जितनी काव्य में, जो कि शब्द (ध्वनि) और अर्थ दोनों को मुख्यता देता है और दोनों में परस्परानुकूलता देखता है।

चित्र-कला और काव्य-कला दो प्रधान कलाएँ हैं; पहली का सम्बन्ध रंग और रेखाओं से है, दूसरी का शब्दों से। भारतवर्ष में इनका आदि-काल से आदर चला आया है। साहित्य के रीति-ग्रंथों में चित्र-दर्शन भी पूर्वानुराग (जो वास्तविक मिलन से पूर्व हो) का एक कारण माना गया है। पुराणों में चित्रलेखा आदि कुशल चित्रकर्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है। चित्रों के आधार पर ही दूर देश के विवाह निश्चित होते थे। हम नाटकों में पढ़ते हैं कि नायक लोग अपने आनन्द और प्रेम के प्रकाशनार्थ अपनी प्रेयसियों के चित्र बनाया करते थे और उन्हें अपनी पटरानियों से छिपा कर रखते थे। शकुन्तला नाटक के धीर-ललित नायक महाराज दुष्यन्त बड़े ही कुशल चित्रकार थे। मुद्रिका-द्वारा परित्यक्ता शकुन्तला की स्मृति जाग्रत हो जाने पर उन्होंने उसका एक ऐसा सुन्दर चित्र बनाया था कि उसे देखकर शकुन्तला की सखी मिश्रकेशी अप्सरा भी धोखे में पड़ गई थी, भौंरे का धोखा खा जाना तो कोई बात ही नहीं। इसी प्रकार काव्य का भी आदर वैदिक काल से चला आता है। गीता में स्वयं

परमात्मा का वर्णन कवि कह कर किया गया है—"कविं पुराणमनुशासितारम्" । हमारे देश की काव्य-कला तो और भी बढ़ी-चढ़ी थी। कालिदास और भवभूति की कविताएँ आज भी अद्वितीय हैं।

अब यह देखना है कि चित्र-कला और काव्य-कला में और कलाओं से क्या विशेषता है, और ये एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं। स्थापत्य (भवन-निर्माण-कला) और मूर्ति-तक्षण कला से चित्र-कला में भौतिक सामग्री बहुत कम लगती है और आत्मा की अभिव्यक्ति अधिक रहती है। मूर्ति में तो लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई रहती है; चित्र केवल लम्बाई चौड़ाई वाले धरातल पर ही बनाये जाते हैं। समान-भूमि में ही ऊँचाई, निचाई, गहराई दिखा दी जाती है। काव्य में तो भौतिक सामग्री का प्रायः अभाव-सा ही हो जाता है और आत्मा ही आत्मा का खेल रहता है। इस दृष्टि से काव्य-कला सर्वोपरि है।

चित्र-कला और काव्य-कला में इस भेद के अतिरिक्त और भी कई भेद हैं, और भेदों के साथ समानताएँ भी हैं। समानता के बिना कोई भेद नहीं रह सकता। काव्य में जहाँ तक वर्णन रहता है, वहाँ तक वह चित्र-कला की भाँति है। चित्र-कला रेखाओं और रंगों से काम लेती है, काव्य कला शब्दों से। काव्य में जो 'चित्र-काव्य' के नाम से प्रख्यात है, वह तो एक प्रकार की चित्र-कला ही है, काव्य नहीं। शब्दों द्वारा कल्पनापट पर अङ्कित काव्य के एक चित्र का उदाहरण देखिए—

फिर-फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत;
देखत रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे,
पिछले गात समेटत आगे।
अध-रोंथी मग दाभ गिरावत,
थकित खुले मुख ते बिखरावत।

लेत कुलाँच लखो तुम अब ही,

धरत पाँव धरती जब तब ही।

यह भागते हुए मृग का कितना सजीव और गतिमय चित्र है ! रंग और स्याही की रेखाओं में इस चित्र का लाना थोड़ा कठिन अवश्य है, किन्तु चित्रकार की कला से बाहर नहीं। एक चित्र और देखिए। 'उत्तर-रामचरित' से तापस कुमार-वेश-धारी लव का वर्णन सुनिए—

दोऊ बगलन और पीठ पै निषंग राजै,

तिन के त्रिसिख सिखा चुम्बति सुहावै है।

अलप विभूति उर पावन रमाये मंजु,

धारे रुरु मृग-छाला, छटा छिति छावै है।

मौरवी लता की बनी कौंधनी कलित कटि,

कौपीन मजीठा-रंग-रँगी सरसावै है।

कर में धनुष, तथा पीपर को दंड चारु,

आछी रुद्राछी माला मोद उपजावै है।

यहाँ तक तो इसका रंगीन चित्र भी अच्छा बन सकता है। चित्र-कला और काव्य-कला का साथ है। किन्तु आगे चलकर काव्य इससे आगे बढ़ जाता है। चित्र-कला का विषय वही पदार्थ हो सकते हैं, जो नेत्रों के विषय हैं। काव्य गन्ध और शब्दों के भी चित्र खींच सकता है। चित्र केवल भौतिक दृश्यों का ही होता है। उसमें आध्यात्मिकता रहती अवश्य है, किंतु वह भौतिक पदार्थों द्वारा प्रकट होती है। चित्र-कला में भी वास्तविकता के साथ आदर्श-वाद रहता है, जैसा कि बंगाल के चित्रों में अथवा पुरानी बौद्ध-कला में। किंतु शुद्ध आध्यात्मिक भावों के चित्रण में चित्रकला असफल रहती है। प्रेम का यदि चित्र खींचना है, तो चित्रकार लम्बी, खिंची, एकटक आँखें बना देगा, मुख पर प्रसन्नता का भाव भी ले आवेगा, शायद रोमांच और स्वेद का भी भाव प्रकट कर देगा, कुछ वस्त्रों की

लापरवाही दिखा देगा, किन्तु ये सब बाहरी व्यंजक हैं। भवभूति ने जिस प्रकार प्रेम का वर्णन किया है, वह चित्रकार के कौशल से बाहर है। देखिए—

सुख दुख मैं नित एक, हृदय को प्रिय विराम-थल।
सब विधि सों अनुकूल विषद लच्छनमय अविचल ॥
जासु सरलता सकै न हरि कबहूँ जरठाई ॥
ज्यों ज्यों बाढ़त, सघन-सघन सुन्दर सुखदाई ॥
जो अवसर पै सँकोच तजि परनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुर्लभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत ॥

चित्रकार के वर्णन-सम्बन्धी चित्रों में यद्यपि स्पष्टता अधिक रहती है, तथापि वह एक देश और काल विशेष की स्थिति को अंकित कर देता है। एक चित्र एक क्षण का ही हो सकता है। संसार में स्थिरता नहीं, प्रवाह है। इस कमी को चल-चित्रों ने पूरा करना चाहा है। चल-चित्रों में क्षण-क्षण के कई चित्र लेकर एक चित्र बनाया जाता है और उसमें वास्तविक वस्तुओं की गतिशीलता आ जाती है। यह होते हुए भी वह सीमित है। प्लासी के युद्ध की किसी घटना का चित्र बना सकते हैं। वह चित्र हमारे सामने दृश्य को स्थिर करके रख देगा और उस दृश्य का ज्ञान हमको काव्य के वर्णन से अधिक होगा। किंतु वह सब बाहरी होगा। कवि का वर्णन एक साथ ही भीतरी और बाहरी हो सकता है! संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसके अनन्त सम्बन्ध न हों। चित्रकला उन अनन्त सम्बन्धों को प्रकट करने में असमर्थ रहती है। चित्र में भावोत्पादन शक्ति रहती है किंतु वह उन भावों के वर्णन करने मे असमर्थ रहता है। तारागणों का आप चित्र बना दीजिए। चित्र श्वेत-बिंदुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेगा। तारागणों से हमारे जिन भावों की उत्पत्ति होगी उनके वर्णन में यह चित्र नितांत असमर्थ है। कवि के लिए कोई सीमा नही रहती। वह अपनी भाव-

लहरों का धारा-प्रवाह वर्णन करता चला जाता है। कविवर सुमित्रानंदन ने तारागणों का क्या ही उत्तम वर्णन किया है। चित्रकार इन भावों को नहीं ला सकता। देखिए—

ऐ अज्ञात देश के नाविक !
ऐ अनंत के हृत्कंपन !
नव प्रभात के अस्फुट अंकुर !
निद्रा के रहस्य-कानन !
ऐ शाश्वत-स्मिति ! ऐ ज्योतित स्मृति !
स्वप्नों के गति-हीन विमान !
गाओ हे, हाँ, व्योम विटप से,
गाओ खग ! निज नीरव गान !
ऐ असंख्य भाग्यों के शासक !
ऐ असीम छवि के सावन !
ऐ अरण्य निशि के आश्वासन !
विश्व-सुकवि के सजग नयन !
ऐ सुदूरता के सम्मोहन !
ऐ निर्जनता के आह्वान !
काल-कुहू; मेरा दुर्गम-मग !
दीपक कर दो, हे द्युतिमान !

नक्षत्रों के मनुष्य से जो भिन्न-भिन्न सम्बन्ध है, उनका यहाँ पर द्योतन कर दिया गया है। कुछ कवि ने अपनी कल्पना से भी रच लिये हैं। नक्षत्रों में जो कंपन दिखाई पड़ता है, उसको अनन्त का हृत्कंपन बतला कर सजीवता दे दी है। उनमें मुसकराहट भी है, और वह मुसकराहट ज्योतिर्मयी है। उनकी गति में नियम है, क्रम है, वही उनका नीरव-गान है। ज्योतिष शास्त्र उनको भाग्यों का शासक बताता ही है। रात्रि में वन के विपथ पुरुष के लिए वे सहचर-का-सा आश्वासन देते हैं। अनेक सम्बन्धों में कवि उनको देखता है और

उनका कुशलता से वर्णन कर देता है। यही चित्रकार से अधिक कवि की विशेषता है। चित्रकार ने जो एक कलम चला दी, उसके ऊपर दूसरी कलम नहीं आ सकती। वह देश-कृत बन्धनों से बँध जाता है। एक देश में दो रेखाओं के लिए स्थान नहीं। कवि के लिए यह बात नहीं, वह परमात्मा की भाँति देश और काल के बन्धनों से परे है। वस्तु अनन्त है, चित्र सांत है; वस्तु घटती बढ़ती है और चित्र स्थिर रहता है। चित्रकार की इसी कमी को देखकर कविवर बिहारीलाल ने क्या ही सुन्दर और अमर शब्दों में अपने भावों की अभिव्यक्ति की है—

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

चतुर चितेरे बेचारे क्या करें यदि उनका चिर संचित 'गरब-गरूर' चूर हो जाता है। यह बात तो चित्र-कला के क्षेत्र से ही बाहर है। कवि भी उसका वर्णन करता है, किंतु वह सिवाय इसके कुछ नहीं कह सकता कि—

अंग अंग छवि की लपट उपटत जाति अछेह।
खरी पातरी हू मनो लगति भरी सी देह ॥

कवि सौंदर्य की अनंतता को बतला देता है। कवि क्षण क्षण की नवीनता का द्योतन कर देता है, इसलिए वह चित्रकार से एक कदम आगे अवश्य बढ़ गया है, किन्तु वास्तविकता के वर्णन में वह भी बहुत दूर रह जाता है। नेत्रों का अवश्य बड़ा महत्त्व है, किंतु सौंदर्य के सागर के अवगाहन करने के लिए नयन भी लघु मान-स्वरूप हैं। वे पार नहीं जा सकते। इसीलिए कवि लोग अपलक-नयन और अनिमेष दृष्टि बतलाकर अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। यदि नेत्र थोड़ा बहुत पार भी पा जावें, तो भी गोस्वामी जी के चिरस्मरणीय शब्दों में यही कहना पड़ता है कि—

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'।

३. समाज पर साहित्य का प्रभाव

मनुष्य मननशील है। मनुष्य शब्द ही इस बात की सब से बड़ी गवाही देता है, क्योंकि यह मन् धातु से, जिसका अर्थ चिन्तन अर्थात् विचार करना है, बना है। विचारशील होने के ही कारण मनुष्य उन्नतिशील है। शेर और हाथी जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व रहते थे, वैसे ही अब भी रहते हैं। उनके रहन-सहन में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा। यदि थोड़ा-बहुत पड़ा है तो वह मनुष्य के संपर्क से। उसमें उनका कोई श्रेय नहीं। किन्तु मनुष्य में ऐसा नहीं है। उसका शारीरिक विकास यद्यपि बन्द-सा है, तथापि उसका मानसिक और सामाजिक विकास पर्याप्त रूप से चल रहा है। मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति कर रहा है। मनुष्य ने प्रकृति का अध्ययन कर उस पर विजय पा ली है। वह उसकी शक्तियों को अपने उपयोग में लाता है। पहले जो भौतिक सुख बादशाहों को नसीब नहीं थे आज सबको सुलभ हो रहे हैं। जो शक्तियाँ बड़ी तपस्या से प्राप्त होती थीं, वे आज पैसा खर्च करने पर ही मिल जाती हैं। पहले ज़माने में जो ज्ञान सौभाग्यशाली जन ही प्राप्त कर सकते थे, आज वह सर्वसाधारण को प्राप्त हो रहा है। इस सब का एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य विचारशील है। उन्नति विचार की अनुगामिनी है।

ये विचार किस प्रकार फलवान होते हैं? विचार मानव-मस्तिष्क की अन्धकारमयी कन्दरा में नहीं रहना चाहते। वे सदा प्रकाश चाहते हैं। वे भाषा का परिधान पहन अथवा यों कहिए की भाषा में मूर्तिमान हो, समाज में आते हैं और सक्रिय हो समाज की गति निश्चित करते हैं। भाषा में अवतरित हो विचार अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। उत्तम भाषा में प्रकट किये हुए मानव-समाज के उत्तमोत्तम विचार संगृहीत

होकर साहित्य का रूप धारण करते हैं। सहित अर्थात् संग्रह के भाव को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य का घेरा बड़ा व्यापक है। धर्म, दर्शन और विज्ञान, काव्य (जिसमें गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका सब ही सम्मिलित हैं), इतिनीति राजनैतिक और अर्थ-शास्त्र आदि जितना सरस्वती देवी का भंडार है, जितना वाङ्मय है, सब साहित्य के भीतर आ जाता है। संकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय है।

साहित्य विचारों का समूह है और विचार ही समाज में काम करते हैं। साहित्य का रूप धारण किये हुए विचारों में एक प्रकार की संक्रामकता विशेष रहती है। जहाँ एक विचार प्रकट हुआ, वहीं वह सारे देश में अग्नि की भाँति फैल गया। विचारों की गति और संक्रामकता भाषा पर ही निर्भर है। बिना भाषा के विचार चाहे जितने सुन्दर और मूल्यवान हों, ऊसर में पड़े हुए बीज की भाँति अनुत्पादक होते हैं। भाषा द्वारा ही विचार एक मनुष्य से दूसरे तक पहुँच कर व्यापकता धारण कर लेते हैं। साहित्य के कलेवर में सुरक्षित विचार नये विचारों पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। इस प्रकार विचारों की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रहती है और उसी के साथ मनुष्य उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता है। यदि साहित्य न होता तो हमारे विचार बुद्बुद् के समान क्षणिक और अस्थायी हो जाते। साहित्य ही विचारों को अमर बना कर उनको गति वा शक्ति देता है। आजकल का संसार विचारों का ही संसार है। जो कोई परिवर्तन वा विप्लव होता है उसका मूल स्रोत किसी विचार-धारा में ही है। वट-बीज के समान विचारों की बड़ी संभावनाएँ हैं। वर्तमान सब राजनीतिक आन्दोलन विचारों के ही फल हैं। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत होकर हमको वर्तमान से असंतुष्ट बनाता है। साहित्य हमारी हीन अवस्था की दूसरों की उन्नत अवस्था से तुलना कर हमारा नेत्रोन्मीलन कर, हममें शक्ति का संचार करता है। वर्तमान निष्क्रिय-प्रतिरोध

बौद्धकालीन विचारों एवं टालस्टाय के विचारों का फल है। रूसी राजविप्लव वहाँ के साम्यवाद-सम्बन्धी विचारों का ही परिणाम है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति वोलतेर और रूसो के विचारों का ही प्रतिबिंब है। निटशे आदि दार्शनिकों के विचार, जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे, गत महासमर के लिए उत्तरदायी हैं।

जिस प्रकार साहित्य मार-काट और क्रान्ति के लिए उत्तरदायी है उसी प्रकार साहित्य सुख, शान्ति और स्वातन्त्र्य के भावों का भी कारण है। महात्मा तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' ने कितने अन्धकारमय हृदयों को आलोकित नहीं किया, कितने घरों में सन्तोष और शान्ति का सन्देश नहीं पहुँचाया? 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' वाले कबीर के उत्साह भरे शब्दों ने कितने हताश पुरुषों में प्राण का संचार नहीं किया? हिन्दू जाति की आध्यात्मिक संस्कृति, धर्मभीरुता और अहिंसावाद में भारतीय साहित्य की ही झलक मिलती है। समर्थ रामदास आदि महाराष्ट्र सन्तों के उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्तेजनामयी रचनाएँ महाराष्ट्र के उत्थान में बहुत कुछ सहायक हुईं। वीरगाथाओं ने उस काल में वीर-भावों का संचार किया।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे सर्वसंहारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रख कर हमारे व्यक्तित्व को स्थिर रखता है। वर्तमान भारतवर्ष में जो परिवर्तन हुआ है और जो धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न हुई है वह अधिकांश में विदेशी साहित्य का ही फल है। साहित्य द्वारा जो समाज में परिवर्तन होता है वह तलवार द्वारा किये हुए परिवर्तन से कहीं अधिक स्थायी होता है। आज हमारे सौंदर्य-सम्बन्धी विचार, हमारी [illegible] का आदर्श, हमारा शिष्टाचार सब विदेशी साहित्य से प्रभावित

हो रहे हैं। रोम ने यूनान पर राजनीतिक विजय प्राप्त की थी, किन्तु यूनान ने अपने साहित्य के द्वारा रोम पर मानसिक विजय प्राप्त कर सारे यूरोप पर अपने विचारों और संस्कृति की छाप डाल दी। प्राचीन यूनान का सामाजिक संस्थान वहाँ के तत्कालीन साहित्य के प्रभाव को ज्वलन्त रूप से प्रमाणित करता है। यूरोप की जितनी कला है वह प्रायः यूनानी आदर्शों पर ही चल रही है। इन सब बातों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे सामने हमारे जीवन को उपस्थित कर हमारे जीवन को सुधारता है। हम एक आदर्श पर चलना सीखते हैं। साहित्य हमारा मनोविनोद कर हमारे जीवन का भार भी हलका करता है। जहाँ साहित्य का अभाव है वहाँ जीवन इतना रम्य नहीं रहता।

साहित्य एक गुप्त रूप से सामाजिक संगठन और जातीय जीवन का भी वर्धक होता है। हम अपने विचारों को अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझते हैं, उनका हम गौरव करते हैं। किसी अपनी सम्मिलित वस्तु पर गौरव करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। अङ्गरेजों को शेक्सपियर का बड़ा भारी गर्व है। एक अङ्गरेज साहित्यिक का कथन है कि वे लोग शेक्सपियर पर अपना सारा साम्राज्य न्योछावर कर सकते हैं।

हमारा साहित्य हमको एक संस्कृति और एक-जातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

---

४. किसी काल का साहित्य उस काल के जातीय भावों का प्रतिबिंब-स्वरूप होता है

कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद्य मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक (Rceiver) आकाश-मंडल में विचरती हुई विद्युत-तरंगों को पकड़ कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि या लेखक अपने समय के वायुमंडल में घूमते हुए विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी होती है। जहाँ उसको किसी बात की क्षीण से क्षीण रेखा दिखाई पड़ी, वहीं वह उसके आधार पर पूरा चित्र खींच लेता है। प्रायः उसका चित्र ठीक भी उतरता है।

कवि वा लेखकगण अपने समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों होते हैं। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है। कवि समाज के भावों को व्यक्त कर सजीव और शक्तिशाली बना देता है। कवि की व्यक्त की हुई सामाजिक भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार कवि और लेखकगण समाज के उन्नायक और इतिहास के [illegible] होते हैं, किन्तु उनकी भाषा में हमको समाज के भावों [illegible] है। कवि द्वारा हम समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं। किन्तु इतना ही नहीं, वरन् हमको उन परिस्थितियों का भी [illegible] जाता है जो समाज को प्रभावित कर वायुमंडल में एक नई [illegible] कर देती है। समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप कवियों और [illegible] के विचार ही संग्रहीत हो साहित्य बनाते हैं।

प्रत्येक जाति के साहित्य का एक व्यक्तित्व होता है। यद्यपि मानव-हृदय एक सा ही है तथापि जाति के साहित्य की विशेषता होती है। केवल इतना ही नहीं वरन् एक जाति के ही साहित्य में उसके विकास के अनुकूल समय समय पर अन्तर पड़ता रहता है। जो त्याग और आत्मा का विस्तार हम उपनिषदों में पाते हैं वह हम अन्य जातियों के धार्मिक साहित्य में नहीं देखते। भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल ज्योत्स्नामय तपोवनों ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किये थे, उनकी झलक हम को उपनिषद् साहित्य में ही मिलती है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों के उलट-पुलट और विचारों के संघर्ष के कारण वे भाव दब जाते हैं, किन्तु समय पाकर फिर उदय हो जाते हैं। शेक्सपियर और कालिदास की तुलना की जाती है। किन्तु इन महाकवियों की कृतियों में अपने देश की छाप लगी हुई है। कर्म और आवागमन के भाव हिन्दू जाति की विशेषताओं में से हैं। कालिदास में इन सिद्धान्तों की झलक समय समय पर मिलती है। शेक्सपियर में यह बात नहीं है, देखिए—

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥

× × × ×

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

श्री सीता जी निर्वासित होने पर भी श्री लक्ष्मण जी से कहती हैं कि "रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में मैं यह शंका भी नहीं कर सकती कि यह काम उन्होंने स्वेच्छाचार से किया, वरन् मेरे ही जन्मान्तर के किये पापों का फल है और मुझको वज्र के समान असह्य हो रहा है। जब मैं इस प्रसूतिकार्य से निवृत्त हो जाऊँगी तब सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर मैं तप करूँगी और प्रार्थना करूँगी कि जन्मान्तर में भी वे ही पति मिलें और कभी वियोग न हो।" दोनों ही श्लोकों

में हिन्दू धर्म में माने हुए सूर्य के तप और आवागमन के सिद्धान्तों की छाप है।

मुसलमानी साहित्य में नाटकों का अभाव उनके-मूर्ति-पूजाविरोधी विचारों का ही फल है। उनके विचारों में भाग्यवाद अवश्य है किन्तु कर्मवाद नहीं (हिन्दुओं में उनके कर्म ही भाग्य के विधायक माने जाते हैं, मुसलमानों में ईश्वर की मर्ज़ी ही प्रधान मानी गई है)। सम्मिलित परिवार का जैसा चित्र हिन्दू साहित्य में मिलता है वैसा और कहीं नहीं। शेक्सपीयर लाख कोशिश करने पर भी रामचरितमानस की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदास जी मिल्टन (Milton) के पैरेडाइज़ लॉस्ट (*Paradise Lost*) को विचार में भी नहीं ला सकते थे, क्योंकि पैरडाइज़ लॉस्ट में ईश्वर के विरुद्ध शैतान की बग़ावत का वर्णन है। पहले तो हिन्दू साहित्य में ईश्वर की कोई प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति है हीनहीं, फिर तुलसीदास जैसे मर्यादावादी अधिकारों के मानने वाले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हिन्दुओं में देवता और दानवों का विरोध रहा है। ईश्वर के साथ भी हिरण्यकशिपु आदि का वैर रहा है, किन्तु न वह शैतान की तरह स्वर्ग में रहता था, और न उसका शैतान का सा व्यापक प्रभाव था। मिल्टन ने जिस समय यह ग्रन्थ लिखा, उस समय इंगलैंड में अधिकारों के खिलाफ़ आवाज़ उठ रही थी। हमारे यहाँ राजाओं के विरोध में राजा वेणु की कथा अवश्य है। किन्तु वह बड़ा अत्याचारी था। हिन्दू लोग स्वभाव से अधिकारों के मानने वाले होते हैं।

हिन्दू धर्म में त्याग और अहिंसा के भावों का प्राधान्य रहा है, इसलिए हमारे साहित्य में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, त्यागी [illegible], सत्यवादी हरिश्चन्द्र, शिवि और दधीचि के वर्णनों का बाहुल्य रहता है। उर्दू कवियों के प्रेम-वर्णन में जितना हत्याकांड है उतना किसी साहित्य में नहीं। भारतवर्ष में घी दूध का बहुत आदर रहा है। यहाँ के [illegible] चार्वाक लोग भी 'ऋणं कृत्वा

घृतं पिवेत्' ही कहते हैं 'सुरां पिवेत्' नहीं कहते ।

पूर्वी देशों में पश्चिम की अपेक्षा अलंकारप्रियता अधिक है। जिस तरह भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसंद करती आई हैं, वैसे ही कविगण भी कविता को अलंकारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अतएव जितने भाषा के अलंकार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं। प्रत्येक जाति के भाव, चाहे वे भले हो चाहे बुरे, उसके साहित्य में झलक उठते हैं।

जिस प्रकार हम जातियों के साहित्य में भेद देखते हैं उसी प्रकार हम एक जाति के साहित्य में समय समय की परिस्थितियों के अनुकूल भेद पाते हैं। साहित्य का इतिहास जाति के इतिहास के साथ समानान्तर रेखाओं में चलता है। संत कबीरदास के समय में कविवर बिहारीलाल नहीं हो सकते थे और बिहारी के समय में कबीर का उदय नहीं हो सतका था। भूषण में जो मुसलमानों के प्रति घृणा के भाव मिलते हैं, सूर और तुलसी में नहीं है, क्योंकि उनके समय में मुसलमानी शासकगण हिन्दुओं को अपनाना चाहते थे। उस समय हिन्दुओं में जाग्रति की प्रतिक्रिया का आरम्भ नहीं हुआ था। औरङ्गजेब के मुसलमानी कट्टरपन ने हिन्दुओं में एक प्रकार की जाग्रति उत्पन्न कर दी थी और महाराज शिवाजी उस जाग्रति के मूर्तिमान स्वरूप थे।

वर्तमान साहित्य में जो एक अन्तर्वेदना और हृदय की कसक सुनाई पड़ती है, वह जातीय भावों का ही प्रतिबिंब है। जाति में दुःख की समवेदना व्यापक सी बन गई है और उसी से दुःख का महत्त्व बढ़ गया है। दुःखी का आदर होने लगा है, दुःख पवित्र माना जाता है। दुःख की पवित्र झाँकी आजकल के कवियों में विशेष कर महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा और पन्त जी में, खूब मिलती है। देखिए पन्त जी अश्रुओं के सम्बन्ध में क्या कहते हैं:—

आह, यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण में उर की कंपन,

में हिन्दू धर्म में माने हुए स्वर्ग के नरक और आवागमन के सिद्धान्तों की छाप है।

मुसलमानी साहित्य में नाटकों का अभाव उनके मूर्ति-पूजा-विरोधी विचारों का ही फल है। उनके विचारों में भाग्यवाद प्रबल है किन्तु कर्मवाद नहीं (हिन्दुओं में उनके कर्म ही भाग्य के निर्मायक माने जाते हैं, मुसलमानों में ईश्वर की मर्ज़ी ही प्रधान मानी गई है)। सम्मिलित परिवार का जैसा चित्र हिन्दू साहित्य में मिलता है वैसा और कहीं नहीं। शेक्सपीयर लाख कोशिश करने पर भी रामचरितमानस की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदास जी मिल्टन (Milton) के पैरेडाइज़ लॉस्ट (*Paradise Lost*) को विचार में भी नहीं ला सकते थे, क्योंकि पैरेडाइज़ लॉस्ट में ईश्वर के विरुद्ध शैतान की बग़ावत का वर्णन है। पहले तो हिन्दू साहित्य में ईश्वर की कोई प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति है ही नहीं, फिर तुलसीदास जैसे मर्यादावादी अधिकारों के मानने वाले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हिन्दुओं में देवता और दानवों का विरोध रहा है। ईश्वर के साथ भी हिरण्यकशिपु आदि का वैर रहा है, किन्तु न वह शैतान की तरह स्वर्ग में रहता था, और न उसका शैतान का सा व्यापक प्रभाव था। मिल्टन ने जिस समय यह ग्रन्थ लिखा, उस समय इंगलैंड में अधिकारों के खिलाफ़ आवाज़ उठ रही थी। हमारे यहाँ राजाओं के विरोध में राजा वेणु की कथा अवश्य है। किन्तु वह बड़ा अत्याचारी था। हिन्दू लोग स्वभाव से अधिकारों के मानने वाले होते हैं।

हिन्दू जाति में त्याग और अहिंसा के भावों का प्राधान्य रहा है, इसीलिए यहाँ के साहित्य में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, त्यागी बुद्धदेव, सत्यपरायण हरिश्चन्द्र, शिवि और दधीचि के वर्णनों का प्राधान्य रहता है। उर्दू कवियों के प्रेम-वर्णन में जितना हत्याकांड है उतना हिन्दी कवियों में नहीं। भारतवर्ष में घी दूध का बहुत आदर रहा है। यहाँ के देहात्मवादी चार्वाक लोग भी 'ऋणं कृत्वा

घृतं पिबेत्' ही कहते हैं 'सुरां पिबेत्' नहीं कहते ।

पूर्वी देशों में पश्चिम की अपेक्षा अलंकारप्रियता अधिक है। जिस तरह भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसंद करती आई हैं, वैसे ही कविगण भी कविता को अलंकारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अतएव जितने भाषा के अलकार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं। प्रत्येक जाति के भाव, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, उसके साहित्य में झलक उठते हैं।

जिस प्रकार हम जातियों के साहित्य में भेद देखते हैं उसी प्रकार हम एक जाति के साहित्य में समय समय की परिस्थितियों के अनुकूल भेद पाते हैं। साहित्य का इतिहास जाति के इतिहास के साथ समानान्तर रेखाओं में चलता है। संत कबीरदास के समय में कविवर बिहारीलाल नहीं हो सकते थे और बिहारी के समय में कबीर का उदय नहीं हो सतका था। भूषण में जो मुसलमानों के प्रति घृणा के भाव मिलते हैं, सूर और तुलसी में नहीं है, क्योंकि उनके समय में मुसलमानी शासकगण हिन्दुओं को अपनाना चाहते थे। उस समय हिन्दुओं में जाग्रति की प्रतिक्रिया का आरम्भ नहीं हुआ था। औरङ्गजेब के मुसलमानी कट्टरपन ने हिन्दुओं में एक प्रकार की जाग्रति उत्पन्न कर दी थी और महाराज शिवाजी उस जाग्रति के मूर्तिमान स्वरूप थे।

वर्तमान साहित्य में जो एक अन्तर्वेदना और हृदय की कसक सुनाई पड़ती है, वह जातीय भावों का ही प्रतिबिंब है। जाति में दुःख की समवेदना व्यापक सी बन गई है और उसी से दुःख का महत्त्व बढ़ गया है। दुःखी का आदर होने लगा है, दुःख पवित्र माना जाता है। दुःख की पवित्र झाँकी आजकल के कवियों में विशेष कर महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा और पन्त जी में, खूब मिलती है। देखिए पन्त जी अश्रुओं के सम्बन्ध में क्या कहते हैं:—

आह, यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण में उर की कंपन,

शब्द शब्द है सुधि की स्पंदन,
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण करुण अथाह,
बूँद में है बाड़व का दाह!
विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।

यद्यपि इन कवियों में राष्ट्रीयता व्यक्त नहीं है तथापि यह परिस्थितियों के प्रभाव से खाली नहीं हैं। आजकल जितना साहित्य रचा जा रहा है, वह प्रायः राष्ट्रीय भावों से रंजित है। शृंगारी कवियों के अनुकरण करने वाले रत्नाकर जी में भी राष्ट्रीय भावों की झलक आ जाती है। मैथिलीशरण जी की रचनाएँ इन भावों से ओत-प्रोत हैं। पं० माखनलाल चतुर्वेदी और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की कविता में राष्ट्रीय भेरी-नाद सुनाई पड़ता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ राष्ट्रीय भावों की बाढ़ आई थी। उपन्यासों और आख्यायिकाओं में भी उसकी छाप थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'गोरा' नामक उपन्यास का नायक गौरमोहन भी स्वेच्छा से जेल जाने में अपना गौरव समझता है। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' में आधुनिक राजनीतिक युद्ध का सजीव प्रदर्शन है और 'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। आजकल के हरिजन-आन्दोलन की ध्वनि भी भारतीय साहित्य में गूँजने लगी है। युद्धकाल में जो साहित्य रचा गया उसमें विशेषकर कहानियों में देश-भक्ति और वीरता की छाप है। युद्ध की शान्तिमयी प्रतिक्रिया भी हम श्री सियारामशरण जी के उन्मुक्त और डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र के साकेत-संत में देखते हैं।

युद्धकालीन कंट्रोलों आदि का उल्लेख कम से कम हास्यप्रधान साहित्य में जैसे व्यास जी की कविताओं में होने लगा है। आजकल के उपन्यासों में बदले हुए नैतिक मान दण्डों की झलक है, और राहुल जी, अंचल जी, यशपाल जी प्रभृति लेखकों के उपन्यासों में साम्यवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है। सारांश यह कि साहित्य की गति से हम देश की गति को जान सकते हैं। जातीय साहित्य किसी देश अथवा जाति के तात्कालिक भावों का दर्पण है, उस काल के जातीय भावों का प्रतिबिंब-स्वरूप है।

---

५. गद्य और पद्य का सापेक्षित महत्त्व

साहित्य के दो मुख्य आकार हैं। एक गद्यात्मक और दूसरा पद्यात्मक। जो बोल-चाल की भाषा में लिखा जावे; और जिसमें वाक्यों की कोई नापतोल तथा शब्दों और वाक्यों का कोई क्रम निश्चित न हो, वह गद्यात्मक कहलाता है और जहाँ वाक्यों की नापतोल हो और वर्ण किसी क्रम वा नियम के अनुकूल एक विशेष बहाव वा गति के साथ चलते हों, वहाँ साहित्य का आकार पद्यात्मक होता है। प्रायः सभी देशों में विशेषकर भारतवर्ष में कालक्रम से पद्य का स्थान पहला है। पहले पहल हृदय का हर्षोल्लास वा शोकोद्वेग एक संगीतमयी भाषा में प्रस्फुटित हो उठता है। भारतवर्ष में वेदों के अतिरिक्त जो काव्य का उदय हुआ है वह भी शोकोद्वेग के ही कारण हुआ है। क्रौंचों की जोड़ी में से एक का बध देख कर महर्षि वाल्मीकि जी के हृदयगत भाव निम्नलिखित श्लोक में उमड़ पड़े थे—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इसी का स्वर्गीय सत्यनारायण जी ने इस प्रकार पद्यानुवाद किया है—

रति-विलास की चाह सों, मदमाती सानन्द।
क्रौंचन की जोड़ी फिरत, विहरत जो स्वच्छन्द॥

हानि तिन में सों एक को, कियो परम अपराध।
जुग जुग लों तोहि न मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध॥

मनुष्य के मानसिक विकास में भावों का उदय पहले होता है, विवेचना पीछे आती है। आजकल जीवन की प्रतिद्वन्द्विता के बढ़ जाने से भावों का प्राबल्य कम होता जाता है। पहले पेट भरने की पड़ती है, पीछे और कुछ। प्रत्येक वस्तु का मूल्य आना पाई में आँका जाता है। भावों की तुष्टि के लिए और मान-मर्यादा की रक्षा के अर्थ अब लोग सहज में जीवन का बलिदान नहीं कर देते और न लोगों को हृदय की भावनाओं की ओर ध्यान देने को अधिक अवकाश ही है। इसीलिए अब पद्य के स्थान में गद्य अपना आधिपत्य जमाता जा रहा है। पहले से परिस्थिति में एक बात का और भी अन्तर हो गया है। पहले ज़माने में लेखन-सामग्री की न्यूनता और प्रेस के अभाव के कारण साहित्य की रक्षा उसको मुखस्थ रखने में ही थी—भारतवर्ष में ज्ञान या तो सूत्रों में आबद्ध कर कंठस्थ किया जाता था या छन्दोबद्ध करके। ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, इतिहास, पुराण सभी पद्य में लिखे जाते थे, क्योंकि वर्णों की नियमित आवृत्ति और शब्दों का गतिमय प्रवाह उनको कंठस्थ रखने में विशेष सहायक होता था। पद्य में शब्दों की अविकल रूप से रक्षा हो सकती थी। पद्य में जो शब्द जहाँ रक्खा गया है, वहीं रह सकता है और उसका पर्याय भी काम नहीं देता। पद्य में आबद्ध कंठस्थ ज्ञान प्राचीन-काल के लोगों को पठन-पाठन, और वाद-विवाद में विशेष सहायक होता था और उसका भरोसा रहता था। पुस्तकस्थ विद्या का इतना महत्त्व नहीं था, क्योंकि कभी कभी कार्य पड़ने पर पुस्तक नहीं मिलती थी।

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्ते गतं धनम्।
कार्य-काले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

अब यह परिस्थिति बदल गई है। अब कम से कम केवल आकार के लिए पद्य का लिखा जाना नितान्त आवश्यक नहीं रहा। यद्यपि

अब गद्य का युग है तथापि साहित्य गद्य और पद्य दोनों ही में लिखा जाता है क्योंकि दोनों ही में अपनी विशेषताएँ है। दोनों ही का सापेक्षित महत्त्व है।

गद्य युक्तिवाद और दुकानदारी की भाषा है। यद्यपि गद्य में भी भाषा के सौष्ठव का ध्यान रखना पड़ता है तथापि भाषा विचार की आवश्यकताओं के अधीन रहती है, भाषा के लिए विचारों का संकोच नहीं किया जाता। गद्य में भाषा की नाप-तोल नहीं रहती, विचारों की आवश्यकता के अनुकूल उसमें संकोच और विस्तार के लिए गुंजायश रहती है। आकार के लिए शब्द का रूप भी नहीं बदलना पड़ता और न अपने चुने हुए उपयुक्त शब्दों का परित्याग करना पड़ता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए हमको जैसे शब्दों की आवश्यकता होती है वैसे ही शब्द रख सकते हैं।

इन बातों के अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे हैं जो गद्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। भाषा भावों का परिधान (पोशाक) स्वरूप मानी गई है। प्रत्येक अवसर पर एक ही पोशाक काम नहीं देती। फुटबाल की पोशाक भोजन के समय काम नहीं देती। मनुष्य के कार्य और पेशे के साथ भी पोशाक बदलती है। जज की पोशाक पहन कर लोहार लोहे को ठोक-पीट नहीं सकता और लोहार की पोशाक जज को शोभा नहीं देती। मल्लाह की पोशाक प्रोफेसर के उपयुक्त नहीं होती और न प्रोफेसर का लंबा गाउन मल्लाह के काम में आ सकता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए गद्य और पद्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। पद्य में शुष्क नीरस बातों का लिखा जाना शोभा नहीं देता। केवल तुक मिलाना पद्य नहीं है। साधारण बात को पद्य में कहना हास्यास्पद हो जाता है। श्री अन्नपूर्णानन्द-रचित 'महाकवि चर्चा' में ऐसे पद्य-भक्तों की खूब हँसी उड़ाई गई है। बिल्ली पंडित जी के पालतू तोते को ले जाती है और पंडित जी अपने नौकर को पद्य में बुलाते हैं—

अरे पनकुआ दौड़ बिलरिया ले गई सुग्गा ।
तू मन मारे सदा निहारे जैसे सुग्गा ॥

राजनीतिक कार्यों में जहाँ उत्तेजना देनी हो वहाँ तो पद्य का प्रयोग उपयुक्त होता है किन्तु जहाँ गणना-चक्रों के आधार पर किसी बात को प्रमाणित करना हो, या मान-चित्र दिखा कर किसी गाँव की सीमा निश्चित करनी हो अथवा किसी को फाँसी की आज्ञा देनी हो वहाँ पद्य का प्रयोग हास्यास्पद हो जावेगा। इसीलिए आजकल नाटकों में पद्य का प्रयोग कम होता है। अब पद्यमयी भाषा राजाओं और मन्त्रियों की स्वाभाविक भाषा नहीं समझी जाती। आजकल की व्यवस्थापिका सभाओं में गद्य ही बोला जावेगा, पद्य के उद्धरण चाहे दे दिये जायँ। कानून पद्य में ही बनाया जावेगा क्योंकि पद्य की अपेक्षा गद्य की भाषा निश्चित समझी जाती है। उसमें यह विश्वास रहता है कि जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, विचार के अनुरोध से किया गया है, छन्द की गति वा लय की आवश्यकता से नहीं। गद्य में व्याकरण के नियमों का पूरी तौर के पालन किया जाता है, पद्य में वैसा पालन नहीं हो सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि पद्य में व्याकरण की हत्या की जाती है। खड़ी बोली की कविता में शब्दों की तोड़-मरोड़ भी नहीं की जाती।

वैज्ञानिक विषयों के लिए भी गद्य ही उपयुक्त भाषा है; क्योंकि विज्ञान में अलंकारों की आवश्यकता नहीं। वैज्ञानिक ध्रुव सत्य—घोर कठोर सत्य—चाहता है; जिसके लिए प्रिय और अप्रिय का प्रश्न नहीं। वह एक शब्द भी कम या ज्यादा नहीं चाहता। विज्ञान की शोभा सरसता में नहीं है यथार्थता में है, और यथार्थता की रक्षा जैसी गद्य में हो सकती है वैसी पद्य में नहीं।

यद्यपि साधारण जीवन की आवश्यकताओं के लिए गद्य ही उपयुक्त भाषा है तथापि मनुष्य का जीवन भोजन-सामग्री जुटाने में ही

गद्य का युग होते हुए भी भावों का नितान्त ह्रास नहीं हो गया है। हमारे जीवन में थोड़ी सरसता आवश्यक है। नीरस जीवन असह्य हो जाता है। सौन्दर्य और सरसता के लिए पद्य आवश्यक है। संगीत गद्य में नहीं रक्खा जा सकता। रात्रि की निस्तब्धता में नदी तट से गाया हुआ मधुर संगीत अब भी लोगों के हृदय को आकर्षित कर लेता है। विवाहादि के निमंत्रणों में पद्य अब भी गौरव की भाषा समझी जाती है। पद्य के बिना धर्म का बहुत-सा सामाजिक भाग अपूर्ण-सा रहता है। पद्य के नपे-तुले वाक्य, वृत्तों का सरस बहाव, हमारे मन में एक अपूर्व साम्य और आनन्द की उत्पत्ति कर देता है, जो गद्य में कठिनाई के साथ आ सकता है। पद्य में भाव और भाषा की एकाकारिता हो जाती है। हमारे भाव जैसे उमड़ कर बाहर आना चाहते हैं, वैसे ही सरिता की भाँति हमारी भाषा भी बहने लगती है। गीत-लहरी में हृदय की गति का स्पन्दन प्रतिबिम्बित होने लगता है। कोमल भाव कोमल-कान्त-पदावली चाहते हैं। शब्दों की ध्वनि, बिना अर्थ-बोध के ही परिस्थिति के अनुकूल हमारे मन में भाव उत्पन्न कर देती है। मस्तिष्क का भार हलका हो जाता है। वीर रस के भावों की भाषा ओजपूर्ण होती है और शृंगार की माधुर्यमयी। इन्ही रसों के अनुकूल कोमला और परुषा वृत्तियों के अल्प और अधिक प्रयास वाले वर्ण रहते हैं।

कविता के वृत्तों में एक अपूर्व साम्य रहता है, जो हमारे मन में तदनुकूल साम्य की जाग्रति कर देता है। वृत्त द्वारा अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है, क्योंकि अक्षर-भेद होते हुए भी उनकी संख्या, उनकी मात्राएँ, उनके गुरु लघु होने का क्रम विशेष कर अन्त्यानुप्रास में एक सा रहता है (अतुकान्त कविता या मुक्त छंद की दूसरी बात है, किन्तु उसमें भी संगीत की ताल और लय रहती है)। हमारे मुख को उच्चारण में और कानों को श्रवण में एक विशेष सुख मिलता है। हमारा मन भी उस बहाव में पड़ जाता है और उस बहाव के अनुकूल

शब्दों की एक सी आवृत्ति में एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है। थोड़ी देर के लिए जीवन का भार हलका हो जाता है। कविता का बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य मिल कर हमारे मन में सौन्दर्य की एक भावना जागरित कर रस की उत्पत्ति कर देता है। वह एक लोकोत्तर आनन्द का विधायक बन हमारे जीवन के संकुचित बन्धनों को शिथिल कर देता है और हम काव्य के स्वर्ग में विहार करने लग जाते हैं। जो लोग अपने जीवन को सरस और जीवन-योग्य बनाना चाहते हैं उनको कविता का भी अनुशीलन करना आवश्यक है।

सारांश यह है कि भौतिक आवश्यकताओं का प्रकाश तथा शुष्क वैज्ञानिक विषयों पर विचार गद्य में ही प्रकट किये जा सकते हैं, परन्तु मानसिक लोकोत्तर आनन्द और जीवन की सरसता पद्य से ही सुलभतया प्राप्त हो सकती है। गद्य यथार्थवाद के अधिक उपयुक्त है और पद्य आदर्शवाद के। गद्य विचारों की भाषा है तो पद्य भावों की और जिस प्रकार हमारे उन्नति-विधान में विचार और भावों का सहयोग रहता है उसी प्रकार हमारे साहित्य में गद्य और पद्य का स्थान है।

---

६. सत्यं शिवं सुन्दरम्

किसी वस्तु के प्रचार पा जाने पर लोग उसकी उत्पत्ति व इतिहास के संबंध में प्रायः उदासीन हो जाते हैं। नवीनता ही कौतूहल उत्पन्न करती है। जिससे घनिष्ठता हो जाती है, उसके कुल और जाति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' आजकल कला और साहित्य के क्षेत्र में आदर्श-वाक्य-सा बन गया है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद्-वाक्य अवश्य समझते हैं, क्योंकि इसका प्रचार अधिकतर ब्रह्म-समाज से ही हुआ है।

वास्तव में यह यूनानी दार्शनिक अफ्लातून के 'The True, The Good, The Beautiful' का अनुवाद है। अनुवाद इतना सुन्दर और फबता हुआ है कि यह वाक्य हमारे यहाँ की देशी भाषाओं में घुल-मिल गया है। वास्तव में बात यह है कि विचार-क्षेत्र में, देशी-विदेशी का झगड़ा नहीं रहता। उसमें विश्वात्मकता रहती है।

भारतवर्ष के लिए यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है। सत्य और आनन्द का तो समन्वय सच्चिदानन्द में ही होता है। शिवं सुन्दरं का भाव हमको किरातार्जुनीय आदि काव्यों और नीति ग्रन्थों में मिलता है; 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। भगवान कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में वाणी के रूप को बतलाते हुए सत्यं प्रियं और हितं तीन विशेषणों का प्रयोग किया है, 'अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्'। यही हमारे यहाँ सत्यं शिवं और सुन्दरम् का रूप है। हितं शिवं का पर्याय है और प्रियं सुन्दरम् का। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी साहित्य में हित को प्राधान्य दिया है; देखिए—

'कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

कुछ लोगों ने साहित्य की व्युत्पत्ति 'सहित के भाव' (हितेन सह सहितं, तस्य भावः साहित्यं) अर्थात् 'हित के साथ होने के भाव' से की है और काव्य में जो रस या आनन्द का प्राधान्य है वह सुन्दर का रूपान्तर है। सत्य और सौंदर्य का समन्वय करते हुए कवींद्र 'दादू' नामक बँगला ग्रन्थ की भूमिका में कहते हैं—"सत्य की पूजा सौंदर्य में है। विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।" साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हँस-वाहिनी शारदा का शृंगार बिना वीणा के पूरा नहीं होता, इसीलिए उसके स्तवन में उसे 'वीणा पुस्तकधारिणी' कहा है। नीर-क्षीर-विवेकी हंस सत्य का प्रतीक है। वीणा में सौंदर्य-भावना की प्रतिष्ठा है। काव्य के उद्देश्यों में 'सद्यः परनिर्वृत्तये' (तुरन्त उत्कृष्ट

आनन्द देना) के साथ 'शिवेतरक्षतये' (अमंगल का नाश) और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' (प्रिया का सा मधुर उपदेश में शिव और सौंदर्य दोनों ही बातें आ जाती हैं। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की उत्पत्ति चाहे जिस देश और काल में हुई हो उसमें हमें एक सत्य के दर्शन होते हैं।

सत्यं शिवं सुन्दरं विज्ञान, धर्म और काव्य के परस्पर संबंध का सूत्र है। विज्ञान केवल सत्य की ओर जाता है। शिवं उसके लिए गौण है और सुन्दरं उसकी उपेक्षा का वस्तु है। विज्ञान में सत्य के आगे शिवं और सुन्दरं को दब जाना पड़ता है। वैज्ञानिक नग्न सत्य का, वह चाहे जितना भयावह क्यों न हो, एकान्त उपासक है। वह 'बावन तोले पाव रत्ती' सत्य चाहता है। उसके लिए वीभत्सता कुछ अर्थ नहीं रखती। उसने केवल 'सत्यं ब्रूयात्' पढ़ा है; 'प्रियं ब्रूयात्' को वह नह जानता। आलंकारिकता यदि सत्य के स्वरूप को रेखा मात्र भी बिगाड़ दे तो उसके लिए वह दोषी हो जाती है। वह सत्य के रूप और प्राण दोनों की रक्षा करता है।

धार्मिक शिवं की ओर जाता है। शिवं में ही उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा है। वह लक्ष्मी का मांगलिक घटों से अभिषेक कराता है; क्योंकि जल जीवन है, कृषि का प्राण है, मानव-मांगल्य का संकेत है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरम् का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी में शिवं और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है। शिव कल्याण या हित करने वाले के नाते ही महादेव कहलाते हैं। वेदों में 'शिवसङ्कल्पमस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है। धार्मिक कोरे सत्य का उपासक नहीं, उसके लिए सत्य मांगलिक रूप धारण करता है। धार्मिक इहलोक की ही रक्षा नहीं करता, वरन् परलोक की भी चिंता करता है। वह आत्मा को परम श्रेयस् की ओर ले जाता है।

साहित्यिक सत्यं शिवं सुन्दरं तीनों की उपासना करता हुआ सुन्दरं को प्राधान्य देता है। वह 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्

सत्यमप्रियम्' का पाठ पढ़ाता है। वह हित को मनोहर रूप देता है और सच्चिदानन्द के रूप में सत्, चित्, आनन्द तीनों का आदर करता हुआ रस वा आनन्द को अपना जीवन प्राण समझता है। उसके हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक के लिए सत्यं शिवं सुन्दरं में एक-एक विचार की यथाक्रम महत्ता बढ़ती गई है। अब हमको यह देखना है कि वह इन विचारों की किस रूप से पूजा करता है। वह सत्यं को वैज्ञानिक की भाँति अपना धर्म नहीं मानता। वह सत्यं के बाह्य रूप की परवाह नहीं करता, वरन् सत्य की आत्मा की रक्षा करता है। वह शाब्दिक सत्य की रक्षा के लिए उत्सुक नहीं रहता, घटना के सत्य को वह अपनाना अवश्य चाहता है; किन्तु उसे सुन्दरं के शासन में रखना उसको अभीष्ट है। गोस्वामी तुलसीदास जी लक्ष्मण को शक्ति लगने पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम से विलाप में कहलाते हैं 'निज जननी के एक कुमारा', 'मिलहि न जगत सहोदर भ्राता', 'पिता वचन मनतौ नहिं ओहू'। इन में से कोई भी वाक्य इतिहास की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतरता, किन्तु काव्य में इनका महत्त्व वास्तविक सत्य से भी अधिक है। इनके द्वारा श्रीरामजी के हृदय का भाव स्वयं मुखरित हो उठता है। राम का शोकावेग तथा उनके भाई के प्रति भाव और लक्ष्मण के महत्त्व की अभिव्यंजना करने के लिए इससे अच्छा साधन न था।

इंगलैंड के अमर कवि शेक्सपीयर की 'डेज़डीमोना' मिथ्याभाषण में ही अपने हृदय के सत्य का उद्घाटन करती है। वह अपने भाई से यह कहकर कि मैंने स्वयं अपने को मार डाला है अपने दाम्पत्य प्रेम का परिचय देती है।

कभी-कभी काव्य के लिए सत्य मिथ्या का रूप धारण कर 'सुन्दरम्' का मान रखता है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास अपनी अनन्यता में 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ' कहकर कृष्ण को

राम के रूप में ही देखना चाहते थे, उसी प्रकार कवि 'सत्य' को भी 'सुन्दरम्' के रूप में देखना अपना ध्येय मानता है। इसमें सत्य की अप्रतिष्ठा नहीं। वह सत्य की अवहेलना नहीं करता, वरन् उसको भव्य रूप में देखना पसन्द करता है। भव्य रूप देने की प्रक्रिया में सत्य की यदि कुछ काट-छाँट हो जाय तो वह अपने आदर्श की पूर्ति के अर्थ सत्य की उतनी हानि को शिरोधार्य समझेगा। कवि यद्यपि स्वतंत्र है, तथापि वह सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। उसकी कल्पना से रचे हुए महल चाहे हवाई किले कहलावें किन्तु उनकी आधार-शिला दृढ़ वास्तविकता में ही रहती है। वह सत्य को सुन्दर का रूप देने में सीमा से बाहर नहीं जाता। मूल घटना का वह आदर करता है, किन्तु उसकी व्याख्या और कारणों में अन्तर करने की स्वतंत्रता रखता है यह केवल इसलिए कि उसके द्वारा वह सैद्धान्तिक सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। 'शकुन्तला' में अँगूठी और शाप की कथा कवि कल्पना है। किन्तु उससे इस सत्य की रक्षा होती है कि दुष्यन्त का स प्रेमी हृदय बिना किसी दैवी कारण के अपनी प्रियतमा की केवल राजनै तिक कारणों से अवहेलना नहीं कर सकता। कवि लोग मुँह में सोन डाल कर नहीं बैठते। वे विश्वामित्र की सी नई सृष्टि रचने में भी संकोच नहीं करेंगे; किन्तु वे संगति और सम्भाव्य का अवश्य ध्यान रक्खेंगे वे कल्पना के घोड़े को असंभव के क्षेत्र में नहीं दौड़ायेंगे पर वे उसक सदा संगति की लगाम से नियन्त्रण करते रहेंगे।

यद्यपि आजकल कलावाद अर्थात् कला कला के लिए ही (Art for art's sake) की झोंक में कुछ कविगण सत्यं औ शिवं की अवहेलना कर कहते हैं कि काव्य का नीति से कोई संबंध नहीं तथापि यह बात जनता को मान्य नहीं हुई। जनता सुन्दरम् की उपासक हैं, किन्तु सुन्दरम् को सत्यं और शिवं के अलंकारों से अलंकृत देखन चाहती है। यह बात ठीक है कि सुन्दरम् किसी दूसरे के शासन में नह रह सकता और उस पर उसके ही नियम लागू होंगे, तथापि व

मनुष्य की मनोवृत्तियों में विद्रोह नहीं उत्पन्न करेगा। साम्य ही सुन्दरम् का मुख्य लक्षण है। नीति की रक्षा में सुन्दरम् की भी रक्षा है। गङ्गाजल की भाँति काव्य में पवित्रता और प्यास बुझाने तथा नीरोगता प्रदान करने का गुण एक साथ होना चाहिए। सत्काव्य माता के दूध की भाँति तुष्टि और पुष्टि दोनों का विधायक और प्रेम का प्रतीक होता है।

काव्य के उद्देश्य में कहा गया है कि काव्य का उपदेश प्रिया के उपदेश का सा माधुर्य-मंडित होता है। यदि कविवर बिहारीलाल मिर्जा राजा जय शाह को लट्ठमार उपदेश देते तो शायद वे उपदेश देने में असफल तो रहते ही, दरबार से भी अनादर के साथ निकाले जाते। किन्तु उनके "नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल" वाले दोहे ने जादू का काम किया। साहित्य सुन्दरम् को इसीलिए प्रधान्य देता है कि कला में विचार के साथ प्रेषणीयता (Communicability) का भी भाव लगा रहता है। कवि अपने भाव को संसार तक पहुँचाना चाहता है। उसके पास लोगों के हृदय-द्वार खोलने के लिए सौंदर्य की ही कुंजी है। वह सौंदर्य का आवेष्टन चढ़ा कर कटु से कटु सत्य को ग्राह्य बना देता है। रवि बाबू की 'चित्रांगदा' की भाँति कवि की वाणी सौंदर्य के प्रभाव से मानव रूपी अर्जुन के हृदय में प्रवेश कर उसको अपने गुणों से मुग्ध कर लेती है। इसलिए कवि सौंदर्य का उपासक है। सौंदर्य में साम्य और समन्वय की भावना निहित रहती है। सौंदर्य के साम्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश है। सौंदर्य जितना ही सत्याश्रित और मङ्गलमय होता है उतना ही वह दिव्य कहलाता है। सत्य, शिव और सुन्दर के इसी समन्वय के कारण काव्य देवत्व से प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मानन्द सहोदर रस का स्रष्टा और प्रसारक होता है।

७. कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए

यद्यपि हमारे यहाँ निष्कामता की महिमा गाई गई है और काव्य की सृष्टि भी 'स्वान्तः-सुखाय' हुई है तथापि यह मानना पड़ेगा कि व्यवहार में कोई काम निष्प्रयोजन नहीं होता। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मूढ़ोऽपि न प्रवर्तते'। हमारे यहाँ मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य के हेतु बतलाये हैं और यूरोप के विद्वानों ने भी कला के प्रयोजन की विवेचना की है। कुछ लोग तो कला को नीति, उपयोगिता आदि प्रयोजनों के परे बतलाकर कला कला के अर्थ (Art for art's sake) की दुहाई देते हैं और कुछ लोग उसे जीवन के अर्थ बतलाते हैं। कला के और भी कई प्रयोजन माने गये हैं। जैसे कला जीवन से पलायन के लिए, कला जीवन में प्रवेश के लिए, कला मन बहलाने के लिए, कला सृजन की आवश्यकता-पूर्ति के लिए, कला प्रसन्नता के लिए, आदि। किन्तु वे सब इन दो प्रमुख वादों से सम्बन्ध रखते हैं और उनके अन्तर्गत किये जा सकते हैं।

कला कला के लिए इस वाद का जन्म फ्रान्स में हुआ। वाल्टर पेटर, ओस्कर वाइल्ड आदि इसके प्रमुख समर्थक हैं। आजकल ब्रेडले साहब इसका पक्ष ले रहे हैं। इसके मानने वालों का कथन है कि कला का प्रयोजन उसकी उपयोगिता में नहीं है और उसका मूल्य आर्थिक या नैतिक मान से निश्चित करना उसके साथ अन्याय करना है। कला के परे और किसी बाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविश्वास प्रकट करना है और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट कर पराधीनता-के अन्धकारतम गर्त में ढकेलना है। जब शव-परीक्षा करते हुए आन्तरिक अवयवों की दुर्गन्ध-पूर्ण बीभत्सता के उद्घाटन के लिए यमराज सहोदर नहीं गृद्धराज सहोदर डाक्टरों को और कोयले के रूप में प्रस्तरीभूत कालिमा का

भक्षण कर अजस्र धूम्र वमन करने वाली मिलों के कर्ण-कुहर भेदी कर्कशनाद के विस्तारक और प्रचारक वैज्ञानिक आविष्कारकों और मिल-मालिकों को सौन्दर्यबोध और संवेदनशीलता प्राप्त करने के लिए कलाविदों की चटसाल में नहीं भेजा जाता तो बिचारे कलाकार पर धर्म और नीति का अंकुश क्यों ? निरंकुशा हि कवयः। कला की मनोमुग्ध-कारिणी सुन्दरता ही उसकी चरम उपयोगिता है

ऐसी ही विचारधारा का पोषण करते हुए आस्कर वाइल्ड ने (Oscar Wilde), जिन्होंने खुद अपनी कृतियों में सदाचार की अवहेलना की है, कहा है 'समालोचना में सब से पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक पृथक हैं।' जे. ई. स्पिनगार्न (J. E. Spingarn) ने इसी बात को कुछ हास्योत्तेजक रूप दिया है। उनका कथन कुछ इस प्रकार का है कि शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित में समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना। जिस प्रकार पुल बनाने वाले इंजीनियर से इस बात की अपेक्षा करना कि उसके द्वारा एसप्रांटो (यूरोप की प्रस्तावित एक सार्वजनिक भाषा) का प्रचार हो सकेगा या नही या किसी रसोइए से यह पूछना कि वह गोभी का शाक बनाने के साथ साथ बीजगणित या त्रिकोणमिति के सवाल निकाल सकता है अथवा अर्थशास्त्र वा भौतिक शास्त्र के किसी नियम की व्याख्या करने में समर्थ है असंगत होगा, उसी प्रचार कलाकार से यह अपेक्षा करना कि वह नीति और सदाचार का प्रचार करेगा असंगत और तर्कविरुद्ध होगा।

जो लोग कलावाद के पक्ष में ऐसी युक्तियाँ पेश करते हैं वे भूल जाते हैं कि इंजीनियर और रसोइए के क्षेत्र सीमित हैं। कला का सम्बन्ध मनुष्य के पूर्ण जीवन से है। किसी मनुष्य, संस्था वा सिद्धान्त का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही उसको दूसरों के साथ साम्य और समन्वय की भावना रखनी पड़ेगी। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' हाथी के पैर में

सब के पैर समा जाते हैं। कला को केवल कला के लिए मानने वाले उसका क्षेत्र सीमित कर के उसको उस सिंहासन से घसीटने का प्रयत्न करते हैं और अपने को नादान दोस्त की संज्ञा में रखते हैं। कला का सम्बन्ध जब मनुष्य के पूर्ण जीवन से है तब वह नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं कर सकती।

हमारे हिन्दी लेखकों पर भी इस मत का प्रभाव पड़ा है। श्री इलाचंद्र जोशी इसके प्रमुख समर्थकों में से हैं। इन्होंने एक जगह कहा है कि 'विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके माया-चक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मदिर को कलुषित करना है। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी सम्प्रदाय के हैं किंतु उनके विचार बड़े संयत हैं। वे कला को प्रयोजन से परे मानते हुए भी उसे मंगलमय देखना चाहते हैं। "सौन्दर्य-मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल-मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।"

कलावाद के सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि कलाकार को तीन लोक से न्यारी किसी काल्पनिक मथुरापुरी में बसना है या उसको इस संघर्षमय संसार में रहकर नागरिक के भी कर्तव्य पालन करना है। इसी प्रश्न को लेकर प्रोफैसर ऐ. सी ब्रेडले (A. C. Bradley) ने, 'काव्य काव्य के लिए' शीर्षक से अपने एक लेख में यह माना है कि शुद्ध कला के दृष्टिकोण से कला के मूल को कला के ही माप-दण्ड से, जो सौन्दर्य का है, नापना चाहिए। लेकिन नागरिक के दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं कि कलाकार की सभी कृतियाँ प्रकाश में आयें। ब्रेडले साहब ने इस सम्बन्ध में यह बतलाया है कि रुजेटी (Rossetti) ने अपनी एक कविता को जिसे परम मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था, लोक-मर्यादा के भंग होने के भय से प्रकाश में

ˉहीं आने दिया। क्रोचे (Groce) का भी करीब-करीब ऐसा ही मत
। उसका कथन है कि कला जिसका मूल अभिव्यक्ति में है कलाकार
 मन में ही रूप धारण कर लेती है। कलाकार के मन में उत्पन्न
ाने वाला रूप ही सच्ची कला है। वह नीति, सदाचार और
पयोगिता के नियंत्रण से परे है किन्तु जब वह कलाकृति
 Work of art) के रूप में कलाकार के लिए स्थूल रूप
ारण करती है तब वह नीति के शासन में आ जाती है।

भारतीय लोकमत कला और नीति के विच्छेद के विरुद्ध है।
ालिदास का कुमारसम्भव शुद्ध कला की दृष्टि से बड़ी ऊँची कृति
 किन्तु आचार की दृष्टि से शंकायोग्य है। इसीलिए लोगों का
िश्वास है कि कालिदास को शिव-पार्वती का शृंगार वर्णन करने के
ारण कुष्ट हो गया था। भारतीय लोकमत ने इस दैवी निर्णय पर
पने अनुमोदन की मुहर लगाई है। यद्यपि भारतीय साहित्य शास्त्र
 अश्लीलता और ग्रामीणता को जो दोष माना है उसका सम्बन्ध
धिकतर शब्दों से है तथापि इन दोषों के मानने से यह विदित होता
 कि उन आचार्यों का ध्यान इस प्रश्न की ओर गया था और वे
ला का नीति से विच्छेद करने के पक्ष में न थे। आज कल यह प्रश्न
ुछ व्यावहारिक होता जा रहा है। कुछ लोग तो नीति और आचार
ी धुन में बिहारी सतसई जैसे उच्च काव्य ग्रन्थ को समुद्र में डुबा देना
ाहते हैं और कुछ लोग ऐसे सदाशय लोगों की हँसी उड़ाते हुए
द्दाम शृङ्गार के वर्णन करने वाले ग्रन्थों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते
। यद्यपि नीति और सदाचार का दिखावा करना उतना ही बुरा है
जतना कि अवहेलना करना, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि नीति और
र्यादा की उपेक्षा नहीं की जा सकती और इस सम्बन्ध में भी बीच के
ार्ग का अनुसरण करना उचित होगा। अभिव्यञ्जनावाद (Ex-
pressionism) के नाम पर जो काव्य की वस्तु को गौण रखकर शैली
ी को मुख्यता देता है अथवा यथार्थवाद की झोंक में जो बुरा और

भला दोनों का मिश्रण करना अपना कर्तव्य समझता है, अनीति और वासनाओं के उत्तेजक साहित्य को आश्रय नहीं दिया जा सकता।

काव्य के लिए वस्तु और आकार दोनों ही महत्त्व रखते हैं। वस्तु के बिना आकार खोखला है और सुन्दर आकार के बिना वस्तु श्रीहीन रह कर अपने उचित मूल्य से वञ्चित रहती है। मनुष्य के लिए जिस प्रकार अन्तर और बाह्य सौन्दर्य दोनों ही अपेक्षित हैं उसी प्रकार काव्य के लिए विषय और शैली दोनों का ही सौन्दर्य आवश्यक है और सच्चा सौंदर्य वही है जिसका मंगल से समन्वय हो। यूरोप में भी रस्किन, टालस्टाय, आइ. ए. रिचर्ड्स आदि शैली के साथ वस्तु को महत्ता देते हुए कला और सदाचार का समन्वय चाहते हैं। वह अभिव्यञ्जना सच्ची अभिव्यञ्जना नहीं है जो वस्तु की अवहेलना करती हुई विषभरे कनक घट के समान केवल शैली को महत्त्व दे और सारहीन साहित्य की पोषक बने। बिना पौष्टिक भोजन के मेज के हिम धवल आवरण, परिशुद्ध भोजन-पात्र और चमचमाते छुरी-काँटे आदि खाने के उपकरण व्यर्थ हैं।

मेथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना कहा है। यह आलोचना जीवन से बाहर की वस्तु नहीं। काव्य जीवन का आत्म-चिन्तनमय मुखरित रूप है। उसमें पोषक सामग्री के आत्म-सात करने, बढ़ने तथा सञ्चालन की शक्तियाँ जो जीवन के प्रधान लक्षणों में मानी जाती हैं, वर्तमान रहती हैं। जीवन की रक्षा और अभिवृद्धि उस आत्म-चिन्तन का व्यावहारिक रूप है। जीवन नहीं तो आलोचना किस की? और फिर उसकी आलोचना का भी कुछ लक्ष्य होना चाहिए। वह आलोचना भी उसकी शोभा-सम्पन्नता और सार्थकता बढ़ाने के लिए ही है। काव्य और साहित्य जीवन की गति-विधि का अध्ययन कराकर उसके मङ्गलमय बनाने में सहायक होता है। मम्मटाचार्य ने जो काव्य के हेतु बतलाये हैं वे पूर्णतया जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने काव्य का निर्माण यश के अर्थ (यशसे)

धन के लिए (अर्थकृते) व्यवहार जानने के लिए (व्यवहारविदे) अमङ्गल के नाश के लिए (शिवेतरक्षतये) तुरन्त आनन्द देने के लिए (सद्यः परनिर्वृत्तये) और प्रेयसी का सा मधुर उपदेश देने के लिए (कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) बतलाया है।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के आचार्यों ने व्यवहार-ज्ञान अमंगल-नाश (उस समय तो अमङ्गल का नाश प्रायः देवताओं के स्तोत्र बनाकर होता था किन्तु आज-कल वही काम वीरों के स्तवन से हो सकता है) और मधुर उपदेश को काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं माना। कुछ लोगों का कहना है कि हम उपदेश के लिए काव्य क्यों पढ़ें, उपदेश ही ग्रहण करना है तो धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र का क्यों न अध्ययन करें ? इसीलिए आचार्यों ने उसके साथ 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' का विशेषण लगा दिया है। काव्य का उपदेश कान्ता का सा मधुर और प्रेमपूर्ण होता है। बिहारी के एक दोहे ने जो काम कर दिखाया वह सैकड़ों सूखे उपदेश हीं कर सकते थे। काव्य केवल काम का ही साधक नहीं वरन् धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों का विधायक है।

'धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्' ।—भामह

हमारे देश में प्राचीन काल से ही काव्य का जीवन से सम्बन्ध रहा है। भारतीय परम्परा में तो काव्य का जन्म ही लोकहिताय हुआ है। महर्षि वाल्मीकि का करुणापूर्ण हृदय क्रौञ्चवध के दृश्य से द्रवित होकर रामायण की सुरसरिता के रूप में बह निकला था। तभी तो ध्वन्यालोक में कहा है 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' क्रौञ्च के जोड़े के विच्छेद से उठा हुआ शोक श्लोक बन गया। भारतीय विचारधारा में काव्य सदा लोकहित से समन्वित रहा है। हमारे देश का काव्य साहित्य

लोकपक्ष को लेकर अग्रसर हुआ है। रघुवंश आदि महाकाव्य सर्वभूतहित को ही उद्देश्य कर लिखे गये थे। हिन्दी का वीरगाथा काव्य यद्यपि अधिकांश में आश्रय-दाताओं का यशोगान है (उसमें आपस की मारकाट को आश्रय मिला है) फिर भी उसका जीवन से सम्पर्क होने के कारण वह लोकहित से सम्बद्ध है। उन काव्यों में नीति को भी प्रमुख स्थान मिला है। भक्ति-काल की सभी रचानाओं में इस पृथ्वी की पावनी गंध मिलती है। ज्ञानाश्रयी शाखा में हिन्दू-मुसलिम एकता और साधारण धर्मनीति का प्रबल पक्ष है। प्रेममार्गी शाखा भी अपने लोक-पक्ष से अछूती नहीं है। तुलसी में तो लोक-संग्रह का भाव कूट-कूट कर भरा है। उनकी नीति ने शक्ति समन्वित शील और मानवता के भावों का विस्तार किया है। यद्यपि उन्होंने अपना राम-चरित-मानस 'स्वान्तः सुखाय' लिखा है तथापि वे उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं जो सुरसरिता की भाँति सब के लिए हितकर हो;—

कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

महात्मा सूरदास ने यद्यपि नीति की अवहेलना की है तथापि उन्होंने बाल्य और यौवन सम्बन्धी जीवन के मधुमय पक्षों की ओर ध्यान आकर्षित कर जीवन के प्रति आस्था बढ़ाई है रीति-काव्य विशेष रूप से कलापक्ष की ओर ही अधिक झुका है किन्तु उस में भी लाल, सूदन, भूषण आदि ने देश और जाति-हित से प्रेरित होकर लिखा है।

वर्तमान काल का उदय ही लोक-पक्ष को लेकर हुआ। हरिश्चन्द्र युग में देशोद्धार की भैरवी का मन्द स्वर सुनाई पड़ा था। द्विवेदी युग में गुप्त जी और उपाध्याय जी ने राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति में भी देश-सेवा की भावना भर दी। गुप्त जी के साकेत के राम देवताओं के हित के लिए नहीं वरन् आर्यों के आदर्श को फैलाने के लिए अवतरित हुए। उन्होंने पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाया। गुप्त जी श्री रामजी द्वारा धन की अपेक्षा जन को महत्ता दिलाकर प्रगति के अग्रदूत

बने हैं। मुंशी प्रेमचन्द ने तो भूखे किसानों की जी खोलकर वकालत की है। छायावाद में 'तज कोलाहल की अवनी' का पलायनवाद (Escapism) रहा है किन्तु उसके दुःखवाद में लोक-करुणा की क्षीण छाया अवश्य है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी छायावादी कवियों ने लोकहित के प्रवृत्ति मार्ग को अपनाया है। 'कामायनी' मनु की जीवन से उदासीनता छुड़ाती है। पंतजी बन्धन को ही मुक्ति मानते हैं। प्रगतिवाद तो लोक-हित का बीड़ा उठाकर ही आया है किन्तु उसका दृष्टिकोण कुछ संकुचित और अधिक संघर्षमय है। फिर भी उसने हमारे कवियों में से पलायन-वृत्ति को हटाने में बहुत कुछ सहायता दी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला और काव्य का ध्येय आदि काल से मानव-हित ही रहा है। कवि लोग जीवन से चाहे जितना दूर भागकर स्वप्न-लोक में विचरण करें किन्तु वे भौतिक आवश्यकताओं का तिरस्कार नहीं कर सकते। पलायनवाद भी यदि थके हुए सैनिक को किसी एकांत सौरभमय काव्योद्यान में क्षणिक विश्राम देकर जीवन-संग्राम के लिए तैयार करावे तो वह लोकपक्ष का साधक ही होगा, बाधक नहीं।

सच्ची कला और कविता जीवन का तिरस्कार नहीं कर सकती। जीवन के बाहर उसको स्थान कहाँ ? मनुष्य अपने जीते जी 'कोलाहल की अवनी' छोड़कर उससे बाहर नहीं जा सकता। चिर शान्ति मृत्यु का ही पर्याय है। कलावाद और पलायनवाद में जो सत्य है वह यह कि मनुष्य के लिए क्षुधा और पिपासा की शान्ति सब कुछ नहीं है। Man does not live by bread alone अर्थात् मनुष्य केवल रोटी ही से नहीं जीता है। उसके जीवन को सरस और जीवन योग्य बनाने के लिए सौंदर्य और रागात्मकता भी अपेक्षित हैं किन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि मनुष्य रोटी के बिना भी नहीं जी सकता।

'कला कला के लिए है' यह वाद सौंदर्य को महत्ता देता है किन्तु सौंदर्य की सार्थकता जीवन से है और जीवन की सार्थकता उसको

सुसम्पन्न सतत प्रयत्नशील और चिरमङ्गलमय बनाने में है। जो कला आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य का सम्पादन कर जीवन को सार्थकता प्रदान करने में सहायक होती है, वही जन समाज में मान पायगी।

कलावाद के पक्ष में इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कलाकार को किसी प्रोपेगैंडा का साधन बनने के लिए बाध्य करना कला की हत्या करना होगा। कलाकार अपनी स्फूर्ति और स्वेच्छा से ही जीवन का हित-साधन कर सकता है। वह यद्यपि अर्थ के प्रयोजन से परे नहीं हो सकता फिर भी अर्थ उसका मुख्य ध्येय नहीं होना चाहिए। आर्थिक लोभ के कारण कला को विकृत करना उसे आदर्श से गिराना होगा। सौन्दर्य कलाकार का मुख्य ध्येय है किन्तु नीति आचार और उपयोगिता को अपनाकर उसको सुसम्पन्नता प्रदान करना भी उसके पुनीत कर्तव्यों में है। सौंदर्य को मङ्गलमय बनाना उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करना है। यह प्राण-प्रतिष्ठा दक्षिणा के लिए नहीं होनी चाहिए वरन् श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित होकर सच्चा दाक्षिण्य प्राप्त करने के हेतु। कलाकार को प्रयत्नशील होना वाञ्छनीय है। श्रेय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है।

---

८. 'एको रस करुण एव'

रस नौ माने गये हैं किन्तु मनुष्य की आत्मा स्वभाव से एकीकरण की ओर अग्रसर होती है। अनेकता के मूल में जब तक वह एकता के दर्शन न कर ले तब तक उसको सन्तोष नहीं होता। इसी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रेरित हो आचार्यों ने रसों में एकता स्थापित करने का उद्योग किया है। शास्त्रों में शृङ्गार को रसराज तो कहा ही है; हिन्दी के आचार्य कवि देव ने तो उसे सब रसों का मूल माना है—

"निर्मल सुद्ध सिंगाररसु देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अंत॥"

महामति धर्मदत्त जी ने अद्भुतरस को मूल रस के स्थान में प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है—

रसेसारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते;
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्याद्भुतो रसः।

आचार्य शुक्ल जी ने सूक्ति और अद्भुत रस का अन्तर बतलाकर इस मत का खण्डन अवश्य किया है और वास्तव में सूक्तियाँ (जैसे- किसी रमणी को रोते हुए देखकर यदि कोई कवि कहे कि कमल नदी में उत्पन्न होता है किन्तु यहाँ कमलों से दो नदियाँ बहती हैं) अद्भुत रस की उदाहरण नहीं बन सकतीं फिर भी यह कथन सत्य के अंश से खाली नहीं है; क्योंकि प्रत्येक रस में कुछ अलौकिकता और उदात्त भावना रहती है। इसी प्रकार शान्त के समर्थक मुनीन्द्र का कथन है 'सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः'। भवभूति ने करुण रस को ही शीर्षस्थान का अधिकारी समझा है और उन्होंने सब रसों को उसी प्रकार करुण रस का रूपान्तर बतलाया है जिस प्रकार आवर्त, बुद्बुद् और तरङ्ग जल के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। उनके मूल श्लोक का कविवर सत्य-नारायण जी कृत भाषानुवाद इस प्रकार है।

एक करुण ही मुख्य रस निमित भेद सों सोइ।
पृथक पृथक परिणाम में भासत बहु बिधि होइ।
बुद्बुद्, भँवर तरंग जिमि होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ में सबनि कौ, हेतु रूप जल एक॥

कविवर भवभूति ने अपनी मान्यता के अनुसार ही अपने उत्तर-रामचरित में करुण रस को (उसके व्यापक अर्थ में) मुख्यता दी और अन्य रसों का उसके सहारे अङ्ग रूप से वर्णन किया। करुण रस में विशेषता प्राप्त करने के ही कारण उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि उन की लेखनी के चमत्कार के कारण पत्थर रो उठता है और वज्र का हृदय पिघल जाता है; 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' और इसी हेतु उनकी कविता देवी भारती का शृङ्गार बनी।

प्रायः सभी देशों और कालों में करुणा का प्राधान्य रहा है। भारतवर्ष में तो काव्य का उद्‌गम ही करुणा के गम्भीर स्रोत से हुआ है। महर्षि वाल्मीकि का करुणा-कलित कोमल हृदय काम-विह्वल क्रौञ्च के जोड़े में से एक के नृशंस वध के कारण पिघल कर काव्य के रूप में बह उठा था—'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'। शोकावेश-वश ऋषि के मुख से जो पहला श्लोक निकला था उसका भाषानुवाद इस प्रकार है:—

रति-विलास की चाह सों मदमाती सानन्द।
क्रौंचन की जोड़ी फिरत, विहरत जो स्वच्छन्द॥
हनि तिन में सों एक को कियो परम अपराध।
जुग-जुग लौं तोहि न मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध॥

जिस करुणा में वाल्मीकीय रामायण का उदय हुआ है उसका अन्तःस्रोत विजयोल्लास के भीतर भी बहता हुआ परिलक्षित होता है। राम-वनवास, सीता-हरण, लक्ष्मण जी का शक्ति से आहत होना, वैसे ही सीता-परित्याग आदि सभी मार्मिक प्रसङ्ग करुणा की स्निग्ध धारा से रसार्द्र हैं। महाभारत में यद्यपि रण-क्षेत्र का भैरव-गर्जन सुनाई पड़ता है तथापि उसमें विजित और विजेताओं की उभयपक्षी करुणा का साम्राज्य है। वीरवर अर्जुन के हृदय की मानवी कोमलता का स्रोत भगवान कृष्ण के कर्तव्योपदेश की सिकता के आवरण में सूखा नहीं। धर्मराज युधिष्ठिर और उनके भाई उस रुधिरप्रदग्ध साम्राज्य का उपभोग न कर सके। महाभारत का अन्त पाण्डवों के शरीरपात में ही होता है।

यूनान के महाकाव्य इलियड और उडेसी में भी यही बात है। वहाँ के सोफोक्लीज, यूरिपिडस आदि प्रमुख कवियों की प्रतिभा दुखान्त नाटकों के लिखने में ही अधिक रमी। महाकवि कालिदास की शकुन्तला यद्यपि सुखान्त है तथापि उस में शापवश-पतिपरित्यक्ता नारी-हृदय की गर्वमयी वेदना से भरे एक दीर्घ निःश्वास का उष्ण स्पर्श

मिलता है। भवभूति की कविता तो पत्थर को पिघलाने वाली करुणा के ही कारण संस्कृत साहित्य की विभूति बनी है। शेक्सपीयर के ओथेलो, हैमलेट आदि नाटकों में मानव-हृदय की विषादमयी छाया गहरी होकर दिखाई इती है। डांटे आदि यूरोप के प्रमुख कवि अपनी आन्तरिक वेदना के कारण, जो उनके काव्य में प्रस्फुटित हुई है, विश्व-ख्याति के भाजन बने हैं।

हिन्दी साहित्य-गगन के रवि और शशि सूर और तुलसी की कविता करुणा से ओत-प्रोत है। सूर का गोपी-विरह वियोग शृङ्गार का अमूल्यतम रत्न है। 'सँदेसो देवकी सों कहियो', 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुञ्जै', 'नाथ अनाथिन की सुधि लीजै', 'निसि-दिन बरसत नैन हमारे' आदि पद किसी भी साहित्य को गौरव-प्रदान कर सकते हैं। तुलसी ने अपने काव्य में वाल्मीकि की करुणा को पूर्णतया अवतरित किया है। 'कोमल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई' में सीता का हृदय बोलता हुआ सुनाई पड़ता है।

हिन्दी की आधुनिक काव्य-धारा में दुःखवाद का गहरा पुट है। प्रसाद जी के मस्तिष्क की घनीभूत पीड़ा आँसू के रूप में बरसी है। पंत जी मेघ मारुत के मायाजाल से घिरे हुए विश्व के निष्ठुर परिवर्तन से प्रभावित होकर कुछ उन्मत्त हो जाते हैं और उनकी वैयक्तिक करुणा शोषित-पीड़ित मानवता के पक्ष समर्थन में अपने को भूल जाती है। महादेवी वर्मा तो 'नीर भरी दुख की बदरी' बन कर दुःख के आँसू बहाने में ही सुख का अनुभव किया करती हैं। साकेत, प्रिय-प्रवास और कामायनी जो आधुनिक युग के महाकाव्य कहे जा सकते हैं, वियोग के आँसुओं से गीले हो रहे हैं।

दुःख का साम्राज्य जैसा साहित्य में है वैसा ही धर्म में भी है। हिन्दू धर्म यद्यपि आनन्द-प्रधान है तथापि उसकी संस्कृति के रक्षक और परिचायक रामायण और महाभारत आदि गौरव-ग्रन्थ करुणा में आप्लावित हैं। भगवान कृष्ण दुःखार्तों की पीड़ा का नाश करना स्वर्ग

और अपवर्ग से भी अधिक वांछनीय समझते हैं। बौद्ध धर्म ने तो संसार के दुःखों को ही अपनी आधार-शिला बनाया है। ईसाई धर्म उसके आराध्य देव के शूली पर चढ़ाये जाने के कारण करुणाप्रधान है। मुसलमान धर्म को भी कर्बला की घटना विषाद-मय बना देती है। उसका प्रभाव हमारे राष्ट्रीय कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त पर गहरा पड़ा है। उन के काबा और कर्बला नाम के काव्य में हम हज़रत हुसेन की श्लाघनीय कष्ट-सहिष्णुता का परिचय पाते हैं। जब वे अपने विद्रोहियों से अपने तृषार्त भतीजे के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य कहते हैं तब करुणा स्वयं मुखरित सी हो उठती है।

निज हिंसा को, लो, हुसैन का मांस खिलाओ,
मेरे रुधिर-पिपासु! इसे तो नीर पिलाओ।

कारुण्य का यह साम्राज्य हम एक आकस्मिक घटना के रूप में नहीं ले सकते। इसका कोई आन्तरिक कारण भी खोजना होगा। संसार में दुख-सुख का द्वन्द्व तो चलता ही रहता है, किन्तु सुख की अपेक्षा दुख का अधिक महत्त्व है। दुख के बिना सुख नीरस हो जाता है। दुख के कारण ही सुख की महत्ता है। अमिश्रित सुख हमारे मन में ऊब उत्पन्न कर देता है। सुख से हम को सन्तोष और प्रसन्नता अवश्य होती है किन्तु साथ ही मद और विलासिता भी उत्पन्न होती है। दुख में हमारे हृदय के कोमल भाव जाग्रत हो उठते हैं। हम अपने को तो अपना समझते ही हैं किन्तु किसी अंश में पराये के प्रति भी हम में आत्मीयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। द्रौपदी ने भगवान कृष्ण से कहा था कि आपत्तियाँ बार-बार आयें क्योंकि आपत्तियों में उनके दर्शन होते हैं। वास्तव में दुख हम को सात्विकता और सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है। दुख के द्वारा हमारे हृदय की कोमलता ही निखार में नहीं आती वरन् हम में धैर्य की भावना भी पुष्ट होती है। उस से हम अपने हितू और मित्रों के अधिक निकट आ जाते हैं 'संपति से विपदा भली जो थोड़े दिन होय'। दुख चाहे अपने को

हो चाहे दूसरे को, उस का आत्मा पर बड़ा सात्विक प्रभाव पड़ता है। यदि वह हम को होता है तब तो वह हमको अपनी न्यूनताओं की खोज में प्रवृत्त कर हममें पश्चात्ताप और सुधार की भावना जाग्रत करता है। इसके साथ उससे हम में धैर्य और कष्ट-सहिष्णुता की भी मात्रा चढ़ती है। दुख अगर दूसरे को हो तब हममें सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है।

दुख की सहानुभूति ही करुणा को मुख्यता प्रदान करती है। करुणा वास्तव में दूसरों के ही प्रति होती है। करुणा के कारण हम उस उच्च भाव-भूमि में पहुँच जाते हैं जो कि रस-निष्पत्ति के लिए आवश्यक होती है। रसानुभूति के लिए मनुष्य को व्यक्ति के संकुचित कटघरे से बाहर निकल कर उस लोक-सामान्य भावभूमि में पहुँचना पड़ता है जहाँ वह अपने अनुभव को संसार के अनुभव से मिला देता है। भाव की अभिव्यक्ति के लिए अनुभूति से अधिक सहानुभूति की आवश्यकता है। इसी सहानुभूति को परिमार्जित करने तथा परिपक्वता प्रदान करने के हेतु करुण रस को मुख्यता दी गई है। करुणा में हमारी आत्मा वास्तविक रूप से विस्तारोन्मुख होती है; जिसके प्रति हमारी करुणा जाग्रत होती है उसको हम अपना ही अंग मानने लगते हैं। आत्मा के इस विस्तार से हमको वास्तविक आनन्द मिलता है। यही आनन्द रस का मूल है। हमारे यहाँ काव्य की आत्मा रस को माना है जो स्वयं आनन्द-स्वरूप है। करुणा का दुख अपनी सात्विकता तथा आत्मा के विस्तार के कारण आनन्द का विधायक होता है। करुणा का हास्य के सिवाय प्रायः सभी रसों के साथ मेल हो जाता है इससे उसकी व्यापकता भी बढ़ी चढ़ी है। करुणा माधुर्य को बढ़ाती ही नहीं वरन् वह स्वयं माधुर्यमयी है। Our sweetest songs are those that tell of the saddest thoughts। दुःख की महत्ता के कारण ही करुणा की महत्ता है।

करुण रस की महत्ता अवश्य बहुत बढ़ी-चढ़ी है किन्तु हम को उसे अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य न समझना चाहिए। जिस प्रकार अमिश्रित सुख ऊब पैदा करता है उसी प्रकार अमिश्रित दुख असह्य भार बन जाता है। हमारे जीवन का पट सुख-दुख के ताने-बाने से बना हुआ है। उसमें दोनों का ही महत्त्व है। करुणा के पुट से सुख उभार में आता है किन्तु यदि निरा पुट ही पुट हो और रंग का अभाव हो तो उस पुट का भी कुछ मूल्य नहीं रहता। इसीलिए हमारे यहाँ नाटकों को दुखान्त न बनाकर करुणात्मक ही कहा है।

हमारे कवियों ने हम को दुःख के गम्भीर गर्त में नहीं छोड़ा है वरन् उसके मङ्गलमय पक्ष की ओर भी संकेत किया है। दुःख हमारे सुख विधान में सहायक होता है और हमारी मनोवृत्तियों को परिमार्जित कर कोमलता प्रदान करता है। करुणा हम को मनुष्यत्व से उठाकर देवत्व की ओर ले जाती है किन्तु संसार में केवल करुणा ही करुणा नहीं है। जीवन में रुदन के साथ मुस्कान भी है। जीवन में धूप छाँह दोनों ही अपना-अपना स्थान रखती हैं।

---

९. अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार और उनका काव्य में स्थान

देवियाँ तो आभूषण-प्रेम के लिए बदनाम हैं ही किन्तु देवता लोग भी इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हैं। अलंकार-प्रियता मानव-जाति के लिए कुछ स्वाभाविक सी है। चाहे भिन्न-भिन्न देशों, कालों और जातियों के अलंकारों में आकाश-पाताल का अन्तर रहा हो किन्तु वे सभी एक प्रवृत्ति के द्योतक हैं। जंगली मनुष्यों के रंग-बिरंगे गोदने, स्त्रियों के स्थूल और सूक्ष्म, नाना प्रकार के गहने, उनकी स्वर्ण रौप्य तारक-मंडित बेल-बूटों से विभूषित साड़ियाँ, बाबू लोगों के कटे-छटे चुस्त सूट-बूट, पंडितों और ब्रह्मचारियों की उछी-गुछी सुचिक्कण

शिखाएँ और भक्तों के चन्दन-वन्दन, तिलक-छाप तथा युवक-युवतियों के स्नेहाभिषिक्त विविध आकार-प्रकार के केश-कलाप एवं कुछ लोगों की लापरवाही प्रदर्शित करनेवाली सप्रयत्न उत्पन्न की हुई स्वभावोक्ति-सदृश सादगी अलंकार-प्रेम के विभिन्न रूप हैं।

यह अलंकारिता का प्रेम मानव-जाति के रक्त में बिंधा हुआ है। इसका मूल आत्म-प्रदर्शन (Self-display) की सहज प्रवृत्ति (Instinct) में है। भाषा के अलंकारों के मूल में आत्म-प्रदर्शन की ही प्रवृत्ति नहीं है वरन् आत्माभिव्यञ्जन (Self-expression) की भी प्रवृत्ति है। इनके साथ और भी छोटी-मोटी कई प्रवृत्तियाँ-जैसे व्यवस्था-प्रियता, ऐक्य-प्रेम, भी मिली-जुली रहती हैं। आत्माभिव्यञ्जन की प्रवृत्ति सामाजिकता के लिए आवश्यक है। यह प्रवृत्ति मनुष्य की समाज-प्रियता का फल है। बिना इसके समाज का व्यवहार भी नहीं चल सकता। भाषा का उदय भी इसी प्रवृत्ति में हुआ है।

आत्म-प्रदर्शन भी जैसा बुरा समझा जाता है वैसा बुरा नहीं है। उससे हमारे आत्म-भाव की पुष्टि होती है। उसके द्वारा अपने निजत्व से प्रेम बढ़ता है। आत्म-प्रदर्शन हमेशा दूसरों पर अपनी महत्ता प्रकाशन के लिए ही नहीं होता वरन् अपने से सम्बन्ध रखने वालों के प्रति आदर, स्नेह आदि सद्भावों के प्रकटीकरण के लिए भी होता है। हम जिनका आदर करते हैं उनको हम अपनी श्रेष्ठतम वस्तु स्थायी रूप से तो नहीं किन्तु तात्कालिक रूप से अवश्य समर्पण करना चाहते हैं। जब कोई आदरणीय व्यक्ति हमारे यहाँ पधारता है हम उसके सम्मानार्थ घर को सजाते हैं, उसको गंध से सुवासित करते हैं, तोरण और वन्दनवार से समलंकृत करते हैं। यह सब हमारे उत्साह और आदर-भाव की अभिव्यक्ति में होता है। इसमें थोड़ा आत्म-प्रदर्शन भी हो जाता है, लेकिन वह मूल भाव नहीं होता।

हमारी भाषा के अलकारों का भी इन्हीं प्रवृत्तियों से सम्बन्ध है।

वे हमारी आत्माभिव्यक्ति में सहायक होते हैं और कभी-कभी आत्म-प्रदर्शन के भी साधक बनते हैं। साहित्य के सृजन में जो आनन्द और उत्साह प्रेरक होता है वही अलंकारों का भी मूल स्रोत है। लोग अपनी बात को कहना ही नहीं चाहते हैं वरन् उसके साथ अपने हृद्गत भावों का भी प्रेषण करने को उत्सुक रहते हैं। यदि कोई बालक किसी सुन्दर वस्तु से प्रभावित होता है तो वह अपने कोमल हृदय पर पड़े हुए प्रभाव की अभिव्यक्ति के लिए दौड़ता-कूदता आता है। अपने भावों के प्रकाशन के लिए ही तो लोग गाने लगते हैं और कला की सृष्टि करते हैं। जब हमारे हृदय के प्रभाव को व्यक्त करने के लिए साधारण भाषा कमजोर पड़ जाती है हम स्वतः अलंकृत भाषा में बोलने लगते हैं। अलंकृत भाषा द्वारा हमारी भाषा में बल ही नहीं आता बल्कि उससे स्पष्टता भी आ जाती है। हमारे सामने मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं। अमूर्त को मूर्त के रूप में रक्खा जाता है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सम्बन्ध स्थापित कर संसार में ऐक्य देखने की प्रवृत्ति की भी तृप्ति होती है। आचार्य शुक्ल जी की भाषा में हम कह सकते हैं कि अलंकार हमारे शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध कराने में भी सहायक होते हैं। एक नायिका के प्रेम के कारण कमल, चन्द्रमा; धनुष, खंजन, भ्रमर, दाड़िम, बिम्बाफल; शंख, सर्प, हाथी, मराल आदि न जाने कितने पदार्थों से सम्बन्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध-स्थापन तथा भावों के स्पष्टीकरण में दो मनोवैज्ञानिक तत्त्व और काम करते हैं—एक विचार-तारतम्य (Association of ideas) और दूसरा कल्पना (Imagination)।

भाषा के अलंकार, जिनमें शब्द और अर्थ दोनों के ही शामिल हैं वास्तव में हार और कुंडल की भाँति बिलकुल बाहरी नहीं हैं, जो इच्छा से उतारे जा सकें; ये तो कर्ण के कवच और कुंडलों की भाँति सहज बन गये हैं और उनकी शक्ति के मूलाधारों में से हैं। मूलाधार शब्द ही स्वयं आलंकारिक है। हमारे मुहावरे जैसे 'लोहे के चने चबाना',

तूती बोलना, कुठाराघात करना, अपने पैरों खड़ा होना आदि तथा अन्य लाक्षणिक प्रयोग भी तो एक प्रकार के अलंकार ही हैं। बहुत से प्रयोग जो अंग्रेजी के अलंकार हैं जैसे साइनकडकी, हमारी भाषा में लाक्षणिक समझे जाते हैं। रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों में साध्यवसाना लक्षणा रहती है।

अलंकारों का प्रायः सभी काव्याङ्गों से सम्बन्ध है। काव्य के भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत से जो रस, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि काव्य की आत्माएँ मानी गई हैं, उनके ये पोषक हैं। हमारे हृद्गत भावों के द्योतन में सहायक होने के कारण ये रस के पोषक हैं। भाषा में सौंदर्य उत्पन्न करने के कारण ये रीति के सहायक हैं। अच्छी शैली का गुण है थोड़े में बहुत की स्थापना करना। रूपक आदि अलङ्कार शब्द-चित्र उपस्थित कर उन चित्रों के साथ गुम्फित अनेकानेक भावों का उद्घाटन करते हैं। यथासंख्य, दीपक, तुल्ययोगिता, नामक अलंकार शैली में व्यवस्था, लाघव (शब्दों की बचत)और सौष्ठव लाने में विशेष सहायक होते हैं। अनुप्रास, यदि उनकी भरमार न हो तो, भाषा को श्रुति-मधुर बनाते हैं। अनुप्रास में एक ही वर्ण की अनेक वार आवृत्ति होती है; यह अनेकता में एकता का ही रूप है। प्रायः सभी अलंकार वक्रोक्ति के रूपान्तर होते हैं, क्योंकि ये बात को घुमा-फिरा कर चमत्कारिक ढंग से कहने में सहायक होते हैं। उपमा रूपक आदि अलंकार पूरा चित्र उपस्थित कर नाना भावों को व्यञ्जित करते रहते हैं। जीवन को अस्थायी कह देने मात्र से न कहने वाले को पूरा सन्तोष होता है और न सुनने वाले पर ही पूरा प्रभाव पड़ता है, लेकिन जब हम कहते हैं कि "नलिनीदल-गत-जलवज्जीवनमतिशयतरलम्" तब उसके अस्थायित्व का चित्र-सा खिंच जाता है। हम अपने उपर्युक्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि अलंकारों का उदय आत्माभिव्यक्ति और आत्मप्रदर्शन की सहज प्रवृत्तियों में होता है। उनके उत्पादन में विचार-तारतम्य और कल्पना के तत्त्व

काम करते हैं। वे हमारी भाषा में स्पष्टता तथा व्यवस्था और तारतम्य एवं प्रभावोत्पादकता उपस्थित कर उसको बल देते हैं। वे प्रायः सभी काव्याङ्गों के सहायक होते हैं। इस प्रकार वे चाहे गुणों के बराबर आन्तरिक न हों किन्तु वे सब काव्यांगों से गुम्फित होने के कारण बिलकुल बाहरी भी नहीं कहे जा सकते।

अलंकार या आभूषण शब्द कुछ भ्रामक है। ये आभूषणों की भाँति एक साथ उतार कर फेंके नहीं जा सकते। क्रोस (Croce) ने अलंकार्य और अलंकारों को पृथक् नहीं माना है। अलङ्कारों का भी भाषा में स्वाभाविक रीति से उदय हुआ होगा। फिर उनका व्यवहार देखकर आचार्यों ने उन्हें अलग कर लिया। अलंकार जहाँ कृत्रिम होते हैं वहीं वे भारी पड़ जाते हैं। वे आत्मा नहीं हैं; किंतु वे रीति की भाँति शरीर के संगठन में आ जाते हैं। यथासंख्य, दीपक, तुल्ययोगिता इत्यादि अलंकारों से रचना में सौष्ठव आ जाता है। वे शैली से ही सम्बन्ध रखते हैं। पर्यायोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा, अन्योक्ति, समासोक्ति आदि में वचन-चातुर्य रहता है। स्पष्टता लाना तो इनका विशेष उद्देश्य नहीं है तथापि ये बात को हेर-फेर से कहकर सौंदर्य उत्पादन में सहायक होते हैं। कभी कभी इनके द्वारा तथ्य बात आकर्षक ढंग से कह दी जाती है। इनमें कभी-कभी थोड़ी आत्म-प्रदर्शन की भी प्रवृत्ति रहती है। उपमा आदि समता-मूलक अलंकारों में स्पष्टता लाने की भावना के साथ वर्ण्य वस्तु के प्रति आदर भावना अधिकरहती है। विभावना, असंगति आदि में विशेष चमत्कार प्रदर्शन की भावना रहती है। सार, एकावली आदि अलंकारों में प्रभावोत्पादन की भावना अधिक पाई जाती है। इस प्रकार अलंकार भाषा को बल देने में अधिक सहायक होते हैं। वे रस के पोषक होते हैं, किन्तु जब वे साधन से साध्य बन जाते हैं, जब वर्ण्य वस्तु की अपेक्षा अलंकारों को महत्ता दे दी जाती है तभी वे निन्दा के विषय कहे जाते हैं। अलंकारों की जो बुराई की जाती है वह उनको साध्य रूप मानने

की। अलंकार जब तक प्रवाह के साथ चले आते हैं, तब तक अच्छे रहते हैं। जहाँ उनकी भरमार होती है वहाँ वे अलङ्कार न रह कर गति के अवरोधक और कूड़ा-करकट बन जाते हैं। अलङ्कार अंग ही रहेंगे, अंगी नहीं बन सकते। नायिका बिना अलकारों के भी शोभा पा सकती है, किन्तु अलंकारों का ढेर बना देने से भी उसमें नायिका की सजीवता नहीं आ सकती। हाँ यदि वे थोड़े और हलके हों तो शोभा की वृद्धि कर सकते हैं। वास्तविक रूप से अलंकार, हार और कुंडल की तरह बाहरी नहीं हैं, वे तो शरीर के अवयव से बन गये हैं। किन्तु कई लोग अलंकारों को भी साधु की गाय की पाँचवीं टाँग की भाँति लगा लेते हैं, तभी वे निर्जीव बन जाते हैं।

---

१०. सामाजिक उन्नति में दृश्य काव्य तथा सिनेमा का स्थान

'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' — नाट्य-शास्त्र

काव्य के दो विभाग किये गये हैं—एक श्रव्य, दूसरा दृश्य। श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की कुछ विशेषताएँ हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों के माध्यम द्वारा समाज का चित्र उपस्थित किया जाता है। उसमें शब्द ही कल्पना को जाग्रत कर हमारे मानस पटल पर चित्र अंकित करते हैं। ये चित्र कभी धुँधले और कभी स्पष्ट और कभी कभी अतिरंजित भी हो जाते हैं। इन चित्रों की स्पष्टता तथा अस्पष्टता पाठक व श्रोता के संस्कारों तथा सहानुभूति पर निर्भर रहती है। पाठक के थके हुए या व्यस्त होने के कारण कभी-कभी कल्पना के कुंठित हो जाने का भय रहता है। ऐसी अवस्था में श्रव्य काव्य अपने को आकर्षक नहीं बना सकता।

दृश्य काव्य में उपर्युक्त कठिनाइयाँ न्यूनातिन्यून रूप में रह जाती हैं। नाटक में, तथा आजकल के उसके प्रतिनिधि सिनेमा में, वास्तविकता का सजीव चित्र हमारे सामने आता है। हमारे सामने केवल शब्द ही नहीं आते वरन् उनके साथ उनके बोलने वाले की भावभंगी की व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी रहती हैं। नाटक में जीवन की प्रति-लिपि उतार ली जाती है। उसमें सिनेमा की अपेक्षा भी अधिक वास्तविकता रहती है। क्योंकि भाव-व्यंजना के माध्यम केवल शब्द और चित्र न रहकर जीते-जागते मनुष्य हो जाते हैं और कल्पना को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। हमारे मन का आकर्षण जितना वास्तविक घटना से होता है उतना ही नाटक या सिनेमा से। श्रव्य काव्य के लिए मन को एक साम्यावस्था में लाना पड़ता है। दृश्य काव्य स्वयं ही इस अवस्था को प्राप्त करा देता है। इसी कारण भरत मुनि ने नाटक-रूपी पाँचवें वेद का निर्माण किया जिसमें कि शूद्रों तथा अशिक्षितों को भी अधिकार रहे और उनकी कल्पना को परिश्रम न करना पड़े तथा मनोरंजन के साथ शिक्षा भी हो जाय। मर्त्यलोक के दुःख ही को देखकर नाट्य-वेद की कल्पना की गई थी।

नाटक का प्रभाव हृदय पर स्थायी होता है। यदि हम किसी बच्चे के मोटर से दबकर मरने का वृत्तान्त पढ़ें तो हमारी सहानुभूति अवश्य जाग्रत होगी; किन्तु यदि इसी को हम रंगमंच पर घटित होते देखें तो उसका प्रभाव देर तक रहेगा। हम सत्य के लिए शहीदों के बलिदान की कथा पढ़ते हैं, किन्तु यदि हम प्रह्लाद को पहाड़ से गिरते हुए देखें, ईसा और 'अनलहक' कहने वाले मन्सूर को सूली पर लटका देखें, हकीकतराय का वध होने अवलोकन करें; तो हम पर कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा। नरोत्तमदास का सुदामा-चरित्र बड़ी सुन्दर कविता है; किन्तु हमारे सामने विप्र सुदामा अपने फटे हाल में उपस्थित हो जायँ और हम उस समय की राजनीति के सूत्रधार भगवान् कृष्ण को उनके चरणों को प्रत्यक्ष रूप से धोते देखें तो उसका प्रभाव 'पानि परात को हाथ

छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये' से भी अधिक पड़ेगा। महाराणा प्रताप की कथा हम पढ़ते हैं किन्तु यदि हम प्रताप को अपने सामने रंगमंच पर देखें तो धैर्य, सहन-शीलता और वीरता की त्रिवेणी हमारे सामने बहने लगेगी।

यदि हम अत्याचारियों का अत्याचार स्टेज पर घटित होते देख लें तो उनके प्रति घृणा और पीड़ित के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो उठेगी। यूनान और रोम में रंगमंच ही बहुत अंश में राजनीतिक मंच का काम देता था। हमारे यहाँ बड़े-बड़े उत्सवों पर दर्शकों के मनोविनोद और उनकी शिक्षा के लिए नाटक खेले जाते थे।

नाटक में वीर-चरित्रों के अभिनय से बालकों में वीरता के भावों का संचार होता है। युधिष्ठिर, राम और हरिश्चन्द्र जैसे सत्य-संध महात्माओं के अनुकरण से हमारे हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा होती है। मोरध्वज, शिवि, दधीचि, बुद्ध और जीमूतवाहन आदि के चरित्रों के दर्शन से हममें त्याग की भावना जाग्रत होती है।

ऐतिहासिक नाटकों तथा सिनेमा फिल्मों में भूतकाल हमारे लिए वर्तमान का रूप धारण कर लेता है और उसका चित्र हमारे मन पर अंकित हो जाता है। फिर हमको इतिहास की शुष्क भाषा की तोता-रटंत की आवश्यकता नहीं रहती।

समाज-सुधार के सम्बन्ध में नाटकों ने बहुत काम किया है। बाल विवाह तथा वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम, अछूतों की दयनीय दशा और दहेज प्रथा के कारण होनेवाली दुर्घटनाओं को दिखाकर समाज के दृष्टिकोण को बदलने में नाटकों का बहुत-कुछ भाग है। उपदेशक का उपदेश इस कान से आकर उस कान से निकल जाता है। वह हृदय पर प्रभाव नहीं डाल सकता। जब हम सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से घटित होते देखते हैं तभी हमारा नेत्रोन्मीलन होता है और सामाजिक अत्याचार से पीड़ित लोगों के प्रति हमारी सहानुभूति उत्पन्न होती है। और तभी

उनके उद्धार के लिए हम बड़े मनोयोग के साथ यत्नवान हो जाते हैं।

श्रव्य-काव्य की शिक्षा साधारण शिक्षा की अपेक्षा मृदुलतर और अधिक प्रभावशाली होती है। राजा जयसिंह के दरबार में 'नहिं पराग नहिं मधुर-मधु नहिं विकास इहि काल' वाले दोहे ने जो काम कर दिखाया वह बड़े-बड़े प्रकांड धर्मोपदेशकों का उपदेश नहीं कर सकता था। दृश्य-काव्य द्वारा जो उपदेश होता है वह इससे भी कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। उत्तर-राम-चरित में एक दूसरा रंगमंच उपस्थित कर सीता के निर्वासन के उपरान्त की कथा का उद्‌घाटन कर श्री रामचन्द्र के हृदय में सीता के प्रति सहानुभूति की भावना को और भी तीव्र किया गया था। नाटकों के भीतर नाटक दिखलाने की प्रथा प्रत्यक्ष के प्रभाव को प्रमाणित करने के लिए ही थी।

जब मनुष्य अपनी शोचनीय अवस्था का अनुभव कर लेता है तभी वह सुधार की ओर प्रवृत्त होता है। उसका ज्ञान कराने के लिए नाटक से उत्तम दूसरा कोई साधन नहीं। इसीलिए सभी सभ्य देशों में उसका मान है। इङ्गलैंड में सिनेमा का प्रचार हो जाने पर भी नाटक-गृहों में हफ्तों पहले स्थान सुरक्षित कराना पड़ता है।

नाटकों से उपदेश के अतिरिक्त कला में भी उन्नति होती है। ऐसी कोई कला नहीं जिसका नाटक से सम्बन्ध नहीं। नाटक में चित्र-कला, वास्तु-कला, रंगों का मिश्रण, आदि सभी कलाएँ आ जाती हैं। तभी तो नाट्य-शास्त्र में कहा गया है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

नाटक द्वारा कलाओं की उन्नति होकर जाति की समृद्धि होती है। यद्यपि सिनेमा भी नाटक का प्रतिरूप है (वास्तव में वर्तमान सिनेमा हमारे यहाँ के छाया-नाटकों के, जिनमें चमड़े की पुतलियों की छाया पट पर डाली जाती थी, विकसित रूप हैं), तथापि सिनेमा आजकल के शीघ्रता-प्रिय संसार के लिए अधिक उपयुक्त हैं। उनमें

भारी सीन-सीनरी के स्थानान्तरित करने का खटराग नहीं रहता, और उनके देखने में समय भी थोड़ा लगता है। इसलिए वे शिक्षा के अच्छे साधन हैं। प्रत्येक गाँव में फ़िल्म दिखलाये जा सकते हैं। सिनेमा के द्वारा देश-विदेश के लोगों की रहन सहन, उनकी क्रिया-पद्धति और उनके रीति-रिवाजों का परिचय कराया जा सकता है। बड़े वीरों के साहसिक कार्यों से जनता में साहस की भावना जगाई जा सकती है। सिनेमा द्वारा खेती के नये-नये प्रयोग तथा शिल्प और व्यवसाय के नये चमत्कार और बहुत-सी वस्तुओं की निर्माण-विधि भी सिखलाई जा सकती है। जहाँ तक यंत्र-सम्बन्धी कार्य है, वहाँ तक सिनेमा से नाटक विशेषता रखता है, किन्तु जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, कोमल भावों की जाग्रति का प्रश्न है, वहाँ नाटक की ही प्रधानता है। सिनेमा के अभिनय में नाटक की सी उत्तरोत्तर उन्नति की गुंजायश नहीं रहती। एक फ़िल्म जो बनी वह पत्थर की लकीर हो जाती है। उसमें वास्तविकता का चित्र पूरा नहीं उतरता। हम भूल नहीं सकते कि हम पट पर चित्र देख रहे हैं। सिनेमा का प्रचार होते हुए भी कोमल भावों की जाग्रति तथा समाज का पूर्ण सजीवता के साथ चित्र खींचने के लिए नाटक की चिरकाल तक आवश्यकता रहेगी। इसलिए कुछ लोग नाटक और सिनेमा के सहयोग की बात सोच रहे हैं। सीन-सीनरी का काम सिनेमा से लिया जाय और अभिनय का कार्य जीवित-पात्र करें। किन्तु इसमें कठिनाई इस बात की है कि सिनेमा के लिए अन्धकार अपेक्षित है और नाटक के लिए आलोक। सम्भव है कि उन्नतिशील विज्ञान इस कठिनाई को भी हल करे।

११. भारतीय नाटकों में शोकान्त नाटक का अभाव

प्रत्येक देश के साहित्य पर उसकी मानसिक संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। साहित्य जातीय-चरित्र की कुंजी है। जो साहित्य जिस देश में उत्पन्न होता है, उसमें उस देश के लोगों के जातीय विचारों की छाप रहती है। नाटक प्रायः सभी सभ्य देशों में लिखे गये, किन्तु सब में अपनी-अपनी जातीय विलक्षणता है। यूनानियों के नाटकों में शोकांत नाटकों का महत्त्व है। भारतीय नाटकों में उसका नितान्त अभाव है; केवल 'उरुभंग' नाटक इसका अपवाद है।

यद्यपि यह बात ठीक है कि शोकान्त नाटक अपने गाम्भीर्यपूर्ण वातावरण द्वारा मन पर अच्छा प्रभाव डालते हैं, और उनके द्वारा हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है और मनुष्य जाति की सहनशीलता और उसके चरित्र-बल के लिए आदर-भाव उत्पन्न होता है तथापि यह प्रश्न रह जाता है कि यदि सज्जनों का अन्त दुःखमय हो, (दुर्जनों को दुःख में देखकर उन उत्तम भावों की जाग्रति नहीं होती) तो ईश्वरीय न्याय कहाँ रहता है। दर्शकों की आत्म-शुद्धि के लिए महापुरुषों का बलिदान क्यों किया जाय और ईश्वरीय न्याय में क्यों कलंक लगाया जाय ? एक उभयतःपाश (Dilemma) उपस्थित हो जाता है, इधर कुआँ तो उधर खाई। सुखान्त नाटकों में वह गांभीर्य नहीं रहता, वह चित्त की शुद्धि और आत्मा का विकास नहीं होता जो दुःखान्त नाटक में होता है। दुःखान्त नाटकों में भी इन बातों की जाग्रति के लिए सज्जनों और महापुरुषों को दुःख का शिकार बनना पड़ता है। पाठकों और दर्शकों के हृदय पर दुःख का पुनीत प्रभाव तभी पड़ता है जब वे किसी महान आत्मा को संकट में देखते हैं। तभी उनकी सहानुभूति का स्रोत खुलता है।

मामूली चोर-डकैत यदि अदालत में आवे तो उससे किसी विशेष भाव की जाग्रति नहीं होती, किन्तु यदि हम किसी संभ्रांत व्यक्ति को अदालत में आते देखें तो एक साथ सहानुभूति का उद्रेक हो जाता है। दशरथ की मृत्यु पर हम आँसू बहाते हैं, रावण की मृत्यु पर नहीं। लक्ष्मण की मूर्छा हम में एक विशेष कोमलता के भाव जाग्रत करती है, मेघनाद की मृत्यु नहीं। यदि करती है तो सुलोचना के कारण। डेज़डीयोना की मृत्यु ही हममें सहानुभूति का उद्रेक करती है, इयानो की नहीं। उद्दंड आदमी को यदि पिटते देखें तो कोई मानसिक आघात नहीं होता, चित्त में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होता। यदि होता है तो प्रसन्नता का, उस प्रसन्नता के लिए किसी को गर्व नहीं हो सकता। उसमें हलकापन है, गांभीर्य नहीं। इतना ही नहीं, वरन् वह परिवर्तन प्रतिकार की दुर्गन्ध से दूषित रहता है। बुरे आदमी के मरने से संतोष होता है, ईश्वरीय न्याय देखकर प्रसन्नता भी होती है, किन्तु उसमें जातीय प्रतिकार का भाव छिपा रहता है। 'अच्छा हुआ,' 'खूब बदला मिला' 'अपने जाल में आप ही फँस गया,' उसमें ऐसे भावों की जाग्रति होती है। इनसे शिक्षा अवश्य मिलती है, किन्तु उसके साथ घृणा बढ़ती है और सहानुभूति कम होती है। जो शिक्षा दुर्जन के दंड से मिलती है वह सज्जन के सुख और वैभव से भी मिलती है। उसमें इस प्रकार से पुरस्कार का प्रोत्साहन रहता है। समस्या यह होती है कि या तो नाटक को दुःखान्त बनाकर भावों की शुद्धि और सहानुभूति की जाग्रति कर लीजिए या ईश्वरीय न्याय की रक्षा कीजिए।

इस समस्या को हल करने के लिए भारतीय नाटकाचार्यों ने ईश्वरीय न्याय की रक्षा के निमित्त नाटक को सुखान्त बनाने का नियम बना दिया और भावों की शुद्धि और जाग्रति के लिए कहीं-कहीं उनको करुणात्मक बना दिया; जैसे उत्तर-राम-चरित नाटक में। इसमें गांभीर्य और ईश्वरीय न्याय दोनों की रक्षा हो जाती है। हिन्दू लोग भाग्यवादी चाहे हों (उनका भाग्यवाद अन्ध भाग्यवाद नहीं, उसमें भी कर्म के

आधार पर ईश्वर का न्याय लगा हुआ है) किन्तु दुःखवादी नहीं। उनके लिए संसार दुःखमय नहीं। संसार में चाहे दुःख हों, आपत्तियाँ आयें, संकट उपस्थित हों किन्तु उन सब का अन्त अच्छा है। संसार सुखान्त नाटक है।

नाटकों को सुखान्त रखने में जातीय भावों का पता चलता है। भारतीय सुखान्त नाटक भी इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय नाटक दूसरों के अनुकरण नहीं। उनमें हिन्दुओं का जो ईश्वरीय न्याय में आग्रह और विश्वास है वह प्रतिबिंबित है। हिन्दुओं में हिंसा और प्रतिकार के भावों का यद्यपि अभाव तो नहीं रहा, तथापि ये भाव उनके जातीय स्वभाव नहीं कहे जा सकते, उनका जातीय-स्वभाव अहिंसात्मक है। वे लोग मनुष्य को गाजर-मूली की भाँति नष्ट होते नहीं देख सकते। वे दर्शकों के चित्त को आघात नहीं पहुँचाना चाहते। इस लिए उन्होंने कविता में वास्तविक मरण का वर्णन करना श्लाघ्य नहीं माना और नाटकों में रंगमंच पर मृत्यु दिखाना निषिद्ध समझा।

नाटक का उदय भी मनुष्य जाति की प्रसन्नता के लिए हुआ है। वास्तविक संसार में दुःख काफी है, उसकी मात्रा को कम करने के लिए ही नाटकों का जन्म हुआ है। औषध कड़वी रहे, यहाँ तक तो कुछ हानि नहीं, किन्तु उसको विष न बनाना चाहिए। जिस दुःख की निवृत्ति अथवा कम करने के लिए नाटकों का जन्म हुआ, रचनाओं में उस दुःख की वृद्धि करना उचित नहीं। दुःख की जितनी मात्रा आवश्यक हो उसको रखकर अन्त में सुख उत्पन्न कर देना ही नाटक का मुख्य ध्येय रक्खा गया है।

यह सब होते हुए भी भारतीय नाटकों में करुणा और शोक की मात्रा की कमी नहीं। 'उत्तर-राम-चरित' तो साक्षात् करुणा की शब्द-मूर्ति है। महाकवि भवभूति ने उत्तर-राम-चरित में करुण रस ही को प्रधानता दी है, और सब रसों को करुण रस का भेद माना है। जिस प्रकार बुद्बुदे, भँवर और तरंग सब भिन्न-भिन्न नाम रखते हुए भी

जल के ही रूप हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नाम रखते हुए भी सब रस करुण रस के ही रूप हैं—

एक करुण ही मुख्य रस निमित भेद सों होई।
पृथक पृथक परिणाम में भासत बहु विधि होई॥
बुदबुद भँवर तरंग जिमि होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ में सबनि को होत रूप जल एक॥

हिन्दू कविता का आरंभ ही करुण-रस से हुआ है। महर्षि वाल्मीकि को क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से बहेलिया द्वारा एक की मृत्यु देखकर जो शोक हुआ वही हिन्दू-काव्य का उद्गम-स्थान बना।

शोकान्त नाटकों के अभाव से यह न समझना चाहिए कि हिन्दुओं के मानसिक संस्थान में शोकजन्य गांभीर्य के लिए स्थान ही नहीं है। यह बात संस्कृत नाटक उत्तर-राम-चरित के अनुवाद के और हिन्दी के सत्यहरिश्चन्द्र नाटक के दो एक अवतरणों से स्पष्ट हो जायगी। शंबूक-वध के लिए जन-स्थान में दुबारा आये हुए श्री रामचन्द्र की तीव्र मानसिक वेदना पढ़ने योग्य है—

कैधौं चिर-सन्तापज, अति तीव्र विष रस
फैलि सब तन माहिं रोम-रोम छायो है।
कैधौं घाय कितहूँ ते शल्य को सकल यह
वेग सों हृदय मधि सुदृढ़ समायो है।
कैधौं कोऊ पूरित मरम घाय खाय चोट
तिरकि भयंकर विमल हरिआयो है।
होइ न विरह सोक, घनीभूत कोउ दुख
करि जाने विकल मो चेतहू भुलायो है।

महाराज रामचन्द्र जी को ऐसा दुःख! यह दुःख उनके सीता-निर्वासन के अपराध को धोकर दर्शकों के हृदय में सहानुभूति के भाव भर देता है। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक में करुणरस प्लावित हो रहा है। कहाँ महाराज हरिश्चन्द्र और कहाँ चांडालवृत्ति! कहाँ महारानी शैव्या

और कहाँ दासी-धर्म ! कहाँ सूर्य-वंश का होनहार अंकुर रोहिताश्व और कहाँ उसके लिए कफ़न का अभाव ! नाटक को पढ़कर हृदय द्रवित हो जाता है। शैव्या का विलाप रोमांच उत्पन्न कर देता है—

"हाय ! खेलते-खेलते आकर मेरे गले से कौन लिपट जायगा और माँ-माँ कहकर तनिक-तनिक-सी बातों पर कौन हठ करेगा ? हाय ! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी ? और किसके अभिमान से विपत्ति में भी फूली-फूली फिरूँगी ? हाय ! जिन हाथों से ठोंक-ठोंक कर रोज़ सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूँगी ? जिसको मुँह में छाला पड़ने के भय से मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे........।'

देखिए, कैसे मर्मभेदी शब्द हैं। किन्तु यदि यहीं पर नाटक समाप्त हो जाता तो हरिश्चन्द्र की महत्ता तो प्रमाणित हो जाती किन्तु हृदय में एक कसक बनी रहती, सत्य के प्रति शायद श्रद्धाभाव में भी धक्का लगता। नाटक के सुखान्त होने से जी हलका हो जाता है, धर्म में श्रद्धा बढ़ती है, और सत्य के लिए प्रोत्साहन मिलता है। कसम खाने के लिए भारतीय-साहित्य में शोकान्त नाटक का नितान्त अभाव भी नहीं है। भास कवि का 'उरुभंग' नाटक शोकान्त नाटक है। उसमें दुर्योधन की मृत्यु दिखाई गई है। दुष्ट की मृत्यु से ईश्वरीय न्याय की रक्षा तो हो जाती है। इसके अतिरिक्त भास ने बड़े कौशल से दुर्योधन से पश्चात्ताप कराकर एक प्रकार से शान्तिमय वातावरण उपस्थित कर दिया है और नाटक में शोक के भाव का शमन हो जाता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में यह नियम कुछ शिथिल हो गया है। मृत्यु का दृश्य दिखाना निन्दनीय नहीं समझा जाता। मिलिंदजी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक इसका उदाहरण है। प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप की प्रतिज्ञा अपूर्ण रह गई है। उनकी मृत्यु के साथ ही नाटक की समाप्ति होती है। यह ऐतिहासिक सत्य है। कवि ने महाराणा के मुँह से अंतिम शब्द कहलाये हैं—

"मैं क्या चाहता हूँ, जानते हो सामन्त ? मैं चाहता हूँ कि इस पीड़ित भारत वसुन्धरा पर कभी कोई ऐसा माई का लाल पैदा हो जिसके हृदय-रक्त की अंतिम बूँदें इसके स्वाधीनता-यज्ञ में पूर्णाहुति दें, इसे सदा के लिए स्वाधीन कर दे; जिसके इंगित पर, बरसों के बिछुड़े हुए कोटि-कोटि भारतीय एक सूत्र में बँधकर सर्वस्व बलिदान करने मातृ-मन्दिर की ओर दौड़ पड़ें। मेरी प्रतिज्ञा तो अधूरी रह गई सामन्त ! हृदय में अतृप्ति की एक आग छुपाये जा रहा हूँ। उफ !"

इसमें समय की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वाधीनता-संग्राम में एक महापुरुष की मृत्यु दिखाई गई है। आत्म-बलिदान के भाव की खूब पुष्टि होती है, किन्तु इसमें भी न्याय के भाव में धक्का लगते हुए भी महाराणा के अन्तिम शब्द द्वारा एक शुभ-कामना की मङ्गलमयी झलक उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार प्रसाद जी कृत अजातशत्रु में भी एक कल्याणमयी भावना के साथ महाराज बिम्बसार का अन्त होकर भारतीय विधान की रक्षा होती है। अजातशत्रु की मृत्यु अवश्य हो जाती है किन्तु वातावरण शांत और मङ्गलमय बन जाता है। अजातशत्रु का हृदय-परिवर्तन हो जाता है। उसके हृदय में पश्चात्ताप की भावना जाग्रत हो जाती है। उस स्थल पर भगवान् की शुभ-उपस्थिति सारे वातावरण को मङ्गलमय बना देती है। अजातशत्रु की भौतिक मृत्यु के साथ उसकी नैतिक विजय होती है। अस्तु भारतीय नाटककारों ने शोकांत नाटक का अभाव रख ईश्वरीय-न्याय की रक्षा की है और नाटकों में करुणा का पुट देकर भावों की शुद्धि कर उनमें कोमलता उत्पन्न की है।

१२. एकाङ्की नाटक, उसका स्वरूप और महत्त्व

यद्यपि आजकल का जीवन संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता-पूर्ण होने के कारण इति-वृत्तात्मक हो गया है, और वह अधिकांश में उपयोगितावाद

के सिद्धान्तों से शासित रहता है तथापि उस का भार हलका करने के लिए कुछ मनोरञ्जन अवश्य वांछनीय समझा जाता है। समय के अभाव के कारण दिल-बहलाव के साथ सामाजिकता, शिक्षाप्रदता, विचारोत्तेजकता, प्रचारात्मकता, और न जाने किन-किन बातों की माँग रहती है। आजकल के लोग थोड़े से समय में अधिक से अधिक लाभ चाहते हैं।

वैसे तो हम लोगों को ताश, कैरम, शतरंज, क्रास वर्ड पज़ल में समय की सुध-बुध भूल जाते हुए देखते हैं किन्तु यह अधिकांश लोगों की प्रवृत्ति नहीं। इन खेलों को प्रायः वे ही लोग पसन्द करते हैं जो जीवन की घुड़दौड़ से कुछ बचकर चलना चाहते हैं। इन में तो योग की-सी एकान्त साधना है और सामाजिकता का अपेक्षाकृत अभाव रहता है। टेनिस, फुटबॉल, क्रिकेट, वॉलीबाल आदि में सामाजिकता अवश्य रहती है किन्तु ये दिवालोक में साध्य होते हैं। वे कमल की भाँति दिन में ही शोभा देते हैं। आजकल का मनुष्य रात्रि में ही अवकाश पाता है सो भी बहुत कम। रात्रि में मनोरञ्जन और शिक्षा के बहुत से सम्मिलित साधन हैं। उनमें पूरे नाटक, सिनेमा, रेडियो, रेडियो-नाटक और एकांकी नाटक मुख्य हैं। दिल बहलाने के लिए उपन्यास और नाटक भी पढ़े जाते हैं किन्तु उनमें उतनी सामाजिकता नहीं और ये कभी-कभी घर की मुर्गी का-सा स्वाद देने लगते हैं।

उपर्युक्त साधनों में पहले हम पूरे नाटक और सिनेमा को लेते हैं। नाटक कला की वस्तु है किन्तु संदल घिसने की भाँति इसमें दर्द सर भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। सीन-सीनरी को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना बड़ा कष्ट-प्रद होता है और पात्रों के बाहुल्य को सँभालना भी मामूली समस्या नहीं।

पूरे नाटक में पात्रों की भावभंगी, वेशभूषा, चाल-ढाल और उछल-कूद जीवन की सजीवता उत्पन्न कर देती है, उसमें अनुकृति नहीं वरन् सृष्टि का भी आनन्द आता है और सामाजिकता भी पर्याप्त मात्रा में

रहती है किन्तु ऐसे नाटकों को खेलने के लिए न तो पर्याप्त साधन हैं और न उनके देखने के लिए अवकाश। सिनेमा में सीन-सीनरी की चामत्कारिक सुविधा है। नाटक में जो सीन स्वप्न में भी सम्भव नहीं हो सकते, फोटोग्राफर और चित्रकार की कला से नितान्त सुलभ हो जाते हैं, किन्तु उसमें हम यह नहीं भूल सकते कि हम वास्तविकता से दो दर्जे हटे हुए हैं, और हम ठोस संसार को छोड़कर पट के छायालोक में विचर रहे हैं। सिनेमा में समय की बचत अवश्य रहती है किन्तु उस में इतनी सामाजिकता नहीं है। उसकी सामाजिकता तो बस इन्टरवेल में ही रहती है अथवा आरम्भ की प्रतीक्षा में। इसके अतिरिक्त उसकी छायात्मकता और कृत्रिमता उसको आजकल के मनोरञ्जनों में शीर्ष-स्थान दिलाने में बाधक होती है। उसमें पात्रों और दर्शकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क भी नहीं रहता जो अभिनय में एक विशेषगति उत्पन्न कर देता है। सिनेमा का जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी है रेडियो। आलस्य-भक्तों के लिए वह दैवी वरदान है। उसमें सामाजिकता की अपेक्षा पारिवारिकता अधिक है किन्तु जब तक टेलीविज़न (Television) सुलभ न हो जाय उसमें केवल श्रवण-सुख ही रहेगा। दृश्य को भी श्रव्य बनाने में कुछ कृत्रिमता का भी सहारा लेना पड़ता है। रेडियो नाटक और फीचर्स सिनेमा की अपेक्षा अधिक व्यापक हो सकते हैं। उसकी आवाज घर-घर (जहाँ रेडियो हो) सुनी जा सकती है। किन्तु उसमें भी सिनेमा की भाँति अभिनेता और सामाजिकों के प्रतिस्पन्दन-पूर्ण सम्पर्क द्वारा कला की उन्नति की सम्भावना नहीं। इसमें तो अभिनेतागण अनुमेय मात्र रहते हैं। नेत्रों और श्रवण दोनों इन्द्रियों के सुख, दर्शक और अभिनेता के प्रतिदान पूर्ण सहयोग द्वारा कला की उन्नति, अभिनय की अपेक्षा-कृत सुलभता, कल्पना के विश्रामदायक आनन्द, सामाजिकता और समय की बचत के लिए एकांकी नाटक मनोरञ्जन के साधनों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन में सिनेमा और रेडियो की अपेक्षा साहित्यिकता कुछ अधिक मात्रा में लाई जा सकती है।

साहित्यिक-दृष्टि से भी एकांकी का कुछ कम महत्त्व नहीं है। एकाङ्की नाटक कहानी की भाँति जीवन की एक झलक दिखाता है किन्तु कुछ अधिक सजीवता के साथ। कहानीकार की भाँति एकांकीकार भी अपने लक्ष्य पर ही निगाह रखता है। वह वीर अर्जुन की भाँति चिड़िया को नहीं देखता, वह केवल उसकी आँख को ही देखता है। आँख के आधार-स्वरूप चिड़िया के सर को चाहे वह देख ले किन्तु उस के आगे नहीं। इन समानताओं के होते हुए भी एकाङ्की नाटक कहानी का संवादात्मक रूप नहीं है और न जैसा चन्द्रगुप्त जी विद्यालङ्कार ने उसका खाका उड़ाया है, वह प्रश्नोत्तरों द्वारा गलियों में विज्ञापन करने वाले चाचा-भतीजा की सी बात-चीत है। संवाद एकांकी नाटक का मुख्य अङ्ग है किन्तु वह सब कुछ नहीं है। वह उसके अलावा भी और कुछ है। इसी कारण सभी उपन्यासों या कहानियों का नाटकी-करण सहज में नहीं हो जाता।

कहानी और एकांकी में केवल संवाद का ही अन्तर नहीं है, संगठन का भी भेद है। कहानियाँ भी घटनाओं और पात्रों की आश्रित होती हैं किन्तु उनकी रूप-रेखा की स्पष्टता जितनी नाटक में अपेक्षित है उतनी कहानी में नहीं। नाटक में कार्य की प्रधानता रहती है। उसमें पात्रों का व्यक्तित्व अधिक निखरा हुआ और घटनाओं की गति अधिक समयानुकूल चलती है। इसलिए उसमें अधिक वास्तविकता रहती है। कहानी में किसी घटना की सूचनामात्र उतनी नहीं अखरती जितनी कि नाटक में। नाटक वास्तविकता की सजीव अनुकृति है।

जिस प्रकार कहानी उपन्यास का छोटा रूप नहीं है उसी प्रकार एकाङ्की भी बड़े नाटक का लघु संस्करण नहीं है। एकाङ्की में आकार की लघुता पर उतनी चोट नहीं है जितनी कि लक्ष्य की एकता और संगठन की सुघरता पर। साम्य और संगठन की सुघरता का सम्पादन घटना-बाहुल्य में भी हो सकता है किन्तु एकाङ्की में वह सुघरता जिस सरलता से लाई जा सकती है वह बड़े नाटक में नहीं।

बहुत से साज-सामान से भी कमरा सजाया जा सकता है किन्तु थोड़े से सामान में जो सरलता का सौन्दर्य रहता है वह सामान के बाहुल्य में नहीं। उसमें प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व की सार्थकता. प्रकाशित करने लग जाती है। घटनाएँ स्वयं मुखरित हो उठती हैं।

एकाङ्की नाटक का कौशल घटनाओं की संख्या मात्र को कम कर देना नहीं वरन् उनके ऐसे चारु-चयन में है कि वे सीधा लक्ष्य की ओर ले जाँय और अपनी व्याख्या के लिए उनको दूसरी घटनाओं के मुखापेक्षी न होना पड़े। एकाङ्कीकार जीवन की एक झलक ही देता है किन्तु वह झलक हाँडी के चावल की भाँति सारे जीवन की तो नहीं किन्तु उसकी विशिष्टता की अवश्य परिचायक होती है। एकाङ्कीकार जीवन का जो पहलू प्रकाश में लाता है उस में व्यक्ति के जीवन की शिक्षा-दीक्षा और व्यक्तित्व की रेखाएँ एक स्थान में केन्द्रीभूत-सी दिखायी देती हैं। बड़ा नाटककार उस चिकित्सक की भाँति है जो नित्य समय पर ऐसी औषध देता रहता है जिसका इकट्ठा प्रभाव पड़ता है किन्तु एकांकीकार उस कुशल वैद्य की भाँति है जिसकी स्वल्प मात्रा की पुड़िया बहुगुणशाली एवं सद्यः फलवती होती है। एकांकी में, जैसा कुछ लोग कहते हैं कि चरित्र-चित्रण की गुंजाइश ही नहीं ऐसी बात नहीं, किन्तु उसमें चरित्र क्रमशः गढ़े जाते हुए नहीं दिखाई देते वरन् उसमें गढ़े-गढ़ाये चरित्रों को ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया जाता है जहाँ पर कि उन पर अच्छे से अच्छा प्रभाव पड़ सके और वे पाठक या द्रष्टा के सामने अपनी स्पष्ट रूप-रेखा में चमक उठें।

एकांकी नाटक में चरित्र परिवर्तन भी दिखाया जाता है जैसा कि डॉक्टर रामकुमार वर्मा के 'अट्ठारह जुलाई की शाम' या 'रेशमी टाई' में। पहले में पत्नी का परिवर्तन है और दूसरे में पति का, किंतु वह ऐसी चोट से होता है जो होती तो है सुनार की तरह धीमी लेकिन काम लुहार की चोट से भी अधिक करती है। कभी-कभी एकांकी

ककार की सर्चलाइट ऊपर की भद्दी तहों को भेदती हुई भीतर किसी सुन्दर तह पर भी प्रकाश डालती है जैसा कि भुवनेश्वर जी 'शैतान' में हुआ है। बुरे आदमियों में भी बुराई की राख के तर कहीं मानवता की चिनगारी मिल जाती है। एकांकी में केवल रेत्र का विश्लेषण ही नहीं होता वरन् उसके सहारे सुधार की भी जना कर दी जाती है। जैसे पं० उदयशङ्कर भट्ट के 'दस हजार' नाम नाटक में लाला जी के जन की अपेक्षा धन को अधिक महत्ता वाले चरित्र के सहारे सीमाप्रांत के खानों के अत्याचार का दर्शन करा दिया गया है। इसी प्रकार अश्क जी के 'लक्ष्मी का गत' में दिखाया गया है कि सेवा के अभिलाषी माता-पिता एक ू के बदले दूसरी बहू के स्वागत करने की लालसा में बीमार नाती भी परवाह नहीं करते। एकांकी नाटक प्रायः वर्तमान समाज से म्बन्ध रखते हैं और इसलिए उनकी समस्याएँ हमारे बहुत निकट ी ही होती हैं। पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी का 'सुहाग की बिन्दी' नाम ा नाटक हमारे सामने वैवाहिक जीवन और प्रेम की समस्या उपस्थित रता है। सेठ गोविन्ददास जी का 'स्पर्द्धा' नाम का नाटक हमारे ामने यह प्रश्न उपस्थित करता है कि जो स्त्रियाँ पुरुषों के साथ राबरी का दावा कर उनके क्षेत्रों में स्पर्द्धा करती हैं, वे कहाँ तक रित्राण शूरता (Chivalry) की अधिकारिणी हैं। इस प्रकार म देखते हैं कि साहित्य-क्षेत्र में एकांकी का अस्तित्व निरर्थक नहीं। तना ही नहीं वरन् उसके छोटे आकार के कारण उसमें कवित्व और व्यञ्जना की अधिक गुंजाइश रहती है। वह कहानी की भाँति पने छोटे मुँह से बड़ी बात कह जाता है। एकांकी नाटक में आकार की सूक्ष्मता के कारण संकलन त्रय (Three Unities) का भी च्छा निर्वाह हो सकता है।

यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि प्राचीन काल में हमारे यहाँ (भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, गोष्ठी, नाट्यरासक, आदि) कई प्रकार

के एकांकी नाटक थे तथापि वर्तमान नाटकों की मूल प्रेरणा हम को पश्चिम से मिली है। वे अधिकांश में पश्चिमी एकांकी नाटकों की कला (Technique) का अनुकरण करते हैं। इससे एकांकी नाटकों का महत्त्व घट नहीं जाता है। अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए। यह बात नहीं कि पश्चिम की सभी बातें निन्दनीय हैं। एकांकी के मंच सम्बन्धी संकेतों के विषय में श्री जैनेन्द्र जी का मत है कि जब हिन्दी में रंगमंच ही नहीं तो संकेतों की क्या आवश्यकता? पहले तो यह बात नहीं कि हिन्दी में रंगमंच का नितान्त अभाव हो। एकांकी नाटकों का तो प्रायः कालेजों में सफलता-पूर्वक अभिनय हुआ है। उनके लिए सादे मंच से भी काम चल जाता है। नाटक लिखा तो मंच के लिए ही जाता है किन्तु यदि कमरे की चहारदीवारी के भीतर भी पढ़ा जाय तो कहानी की अपेक्षा हम एकांकी की कथावस्तु को उन संकेतों के सहारे अपनी कल्पना में अधिक जीते-जागते रूप में देख सकते हैं। संकेतों को पढ़कर हमारी कल्पना उन रेखाओं को मूर्त और मांसल बना लेती है। ये संकेत यदि नाटक के अभिनय में सहायता देते हैं तो पात्रों के चरित्र-चित्रण और परिस्थिति के समझाने में भी पर्याप्त सहायक होते हैं क्योंकि बाह्य वातावरण चरित्र पर प्रकाश डालता है। कहानी में जो स्थान वातावरण के वर्णन का है वही एकांकी में इन संकेतों का है। एकांकी नाटक समय की आवश्यकताओं की देन है। उसका अलग विशेषत्व और व्यक्तित्व है जो उसे वर्तमान युग की साहित्यिक कृतियों में स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थान दिलाता है।

---

१३. उपन्यासों के अध्ययन से हानि-लाभ

मनुष्य स्वभाव से ही कथा-कहानियों में रुचि रखता है। बाल्यकाल में हम राजा और रानियों की कथाएँ कितने चाव से सुनते थे! उस

समय हमारा मन कल्पना-लोक के निवासियों में ही रहता था। उन दिनों हमारे लिए कल्पना और वास्तविकता में कुछ अंतर न था। हमारे समाज का वृत्त भी खूब विस्तृत था। स्वर्गलोक की परियों से लेकर स्यार और लोमड़ी तक सब उसमें शामिल थे। वे भी हमारी तरह बोलते थे। उस समय हमारी कल्पना के पर तर्क की कैंची से कटे न थे, वह खूब उड़ान लेती थी। हमारे लिए यह ध्रुव सत्य था कि एक राजा था (उसके नाम धाम और समय से कुछ प्रयोजन नहीं), उसके सात लड़कियाँ थीं, इत्यादि।

हमारी यही रुचि और प्रवृत्ति आजकल के कथा-साहित्य की जननी है। अन्तर केवल इतना है कि आजकल बंदर-बँदरिया, लोमड़ी, ऊँट और शृगाल से हटकर हमारी रुचि मनुष्य समाज में केन्द्रित हो गई है और उसको पूरा विस्तार दे दिया गया है। राजा-रानी की अपेक्षा 'होरी' किसान में मानवता के दर्शन कुछ अधिक मात्रा में होने लगे हैं। समाज की सभी श्रेणियों के लोग हमारे कथा-साहित्य के नायक और नायिकाएँ बनने का अबाधित अधिकार रखते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपनी कथाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। कभी-कभी उसे इतना वास्तविक रूप दे देते हैं कि शहर, गाँव या व्यक्ति-विशेष का नाम ही केवल कल्पित होता है। इस तरह मानव-जीवन का पूरा चित्र हम अपने कथा साहित्य में देखते हैं।

यद्यपि प्राचीन समय में उपन्यास एक प्रकार के गद्य का नाम था। तथापि आजकल हम इस शब्द का अँगरेजी के 'नॉवल'(Novel) शब्द के पर्याय रूप में व्यवहार करते हैं। इसमें प्रायः एक व्यक्ति को केन्द्रस्थ कर उससे सम्बन्ध रखनेवाले मानव-समाज का चित्रण रहता है। यह चित्रण स्थायी नहीं होता, वरन् प्रगति-शील होता है। इसमें मिलन, उत्थान-पतन, आवर्तन, परिवर्तन, अन्तर्द्वन्द्व, रुदन, पीड़ा, करुणा-क्रन्दन, हास-विलास, अश्रु और उच्छ्वास, प्रतिद्वंद्विता,

सफलता, असफलता सभी बातें रहती हैं। नाटक की भाँति उपन्यास भी समाज का चित्र है; अन्तर केवल इतना ही है कि नाटक में लेखक का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है, इसमें नहीं। लोगों ने इसको जेबी थियेटर कहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपन्यास मनुष्य की रुचि की वस्तु है। इसका अस्तित्व मनुष्य की अनुकरणात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति में है। इससे मनुष्य का मनोरंजन होता है। समय भारी नहीं मालूम होता और बेकारी नहीं अखरती।

काल-यापन और मनोरंजन बहुत साधारण लाभ हैं। इनके अतिरिक्त जो बड़ा लाभ है वह हमारी सहानुभूति के विस्तृत हो जाने का है। वास्तविक जीवन में सब प्रकार के लोगों के साथ हमारा संपर्क नहीं होने पाता। गाँव के लोग शहर के जीवन से अपरिचित रहते हैं और शहर वाले गाँव के लोगों से। विद्युत-आलोक से जगमगाती हुई सब प्रकार की सुख-सामग्री से सुसज्जित गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं के निवासी धन-कुवेरों का निविड़ अन्धकारमय फूस की झोंपड़ी के निवासी, एक गट्ठे पयाल और काठ की कठौती में सीमित संपत्ति वाले एकाहारी निरीह भिखारी के जीवन से क्या सम्बन्ध? यदि सम्बन्ध भी होता है तो वह बहुत ऊपरी। बुभुक्षा रूपी दानव के साथ गरीब के बीबी-बच्चों के दैनिक संघर्ष का हाल धनकुबेर नहीं जानता। उपन्यासकार कवि की भाँति, जहाँ रवि की भी गति नहीं होती वहाँ पहुँचकर, अन्धकार-पूर्ण गुफाओं का हाल लिख देता है। वह भौतिक गुफाओं में ही प्रवेश नहीं करता वरन् हृदय-मन्दिर की गंभीर गुफाओं में भी प्रवेश कर हमको विभिन्न परिस्थितियों के लोगों के मनोविज्ञान से परिचित करा देता है। हमारा मन थोड़ी देर के लिए उनके मन के साथ एकस्वर हो जाता है। हम कथा के तटस्थ दर्शक ही नहीं रहते वरन् किसी एक पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर कथा के प्रवाह में बहने लगते हैं। हमारी दया और सहानुभूति की कोमल भावनाएँ जागरित और जीवित हो जाती हैं। इनमें

मानवता का संचार होने लगता है। यदि उपन्यास का पात्र हम को वास्तविक जीवन में मिलता है तो उसको हम अपने चिर-परिचित मित्र की भाँति पहचान लेते हैं और उसकी कठिनाइयों को समझ कर उसके साथ सहृदयता का व्यवहार करने लग जाते हैं। जो लोग मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़ चुके हैं वे किसान के साथ सहृदयता का व्यवहार अवश्य करेंगे। वे एक सहृदय ग्रामीण की भाँति उसकी कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। गरीब आदमियों की करुण पुकार सुनाने में मुंशी प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकारों ने राजनीतिज्ञों के सभा-मंचीय व्याख्यानों से अधिक उपकार किया है।

उपन्यासकार यद्यपि धर्मोपदेशक नहीं होता, तथापि उसका प्रभाव लोगों की नीति और आचार-पद्धति पर पड़े बिना नहीं रहता। उसका उपदेश जीवन की घटनाओं से प्रमाणित और पुष्ट होकर कोरे सिद्धान्तवाद और शास्त्रीय-विवेचन से अधिक प्रभावशाली होता है। उपन्यासों में धूर्तों और पाखंडियों के विडंबनापूर्ण व्यवहारों का उद्घाटन पढ़कर हम को ऐसे व्यवहारों के प्रति घृणा हो जाती है। हम स्वयं उनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। पुलिस के तथा ज़मींदार आदि अन्य सत्ताधारियों के अत्याचार का वर्णन पढ़कर हमको ऐसे व्यवहार से दूर रहने की प्रेरणा होती है।

उपन्यासों के अध्ययन से जो देश-विदेश का ज्ञान होता है उससे हमारी व्यवहार-कुशलता बढ़ती है। हम दूसरे लोगों की सफलताओं और असफलताओं से लाभ उठा सकते हैं। कभी-कभी हम उपन्यासों में कुछ सामाजिक समस्याओं के हल करने की सामग्री भी पाते हैं। संसार में हम एक दम नई परिस्थिति को उपस्थित कर उसका लाभालाभ नहीं देख सकते, किन्तु उपन्यासकार सदा किसी न किसी रूप में सामाजिक प्रयोग करता रहता है। जैसे प्रेमचन्द जी के 'सेवासदन' में वेश्याओं के सुधार का, रवीन्द्र बाबू के 'गोरमोहन' में संस्कार की

में दाम्पत्य और वात्सल्य प्रेम की समस्याओं पर नई परिस्थितियाँ उपस्थित कर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार उपन्यासकार समाज का पथ-प्रदर्शक भी बन जाता है। हम उसके पथ-प्रदर्शन से लाभ उठा सकते हैं।

उपन्यास समाज की कुप्रथाओं को दूर करने में बहुत-कुछ सहायक हुए हैं। 'टाम काका की कुटिया' का गुलामी प्रथा के दूर करने में पर्याप्त रूप से हाथ था। बंगाल के उपन्यासों में (जैसे शरद्बाबू के अरक्षणीया नाम के उपन्यास में) दहेज की प्रथा के विरुद्ध बहुत आन्दोलन रहा है। आज-कल के हिन्दी उपन्यासों और कहानियों ने अछूतोद्धार में भी थोड़ा-बहुत हाथ बँटाया है। आज-कल के बहुत से उपन्यासों में नारी-स्वतंत्रता की समस्या चल रही है। उपन्यासों द्वारा प्रभावशाली आन्दोलन हो सकता है और हुआ भी है। उनसे जनता की रुचि बहुत-कुछ परिमार्जित हुई है।

उपन्यास यथार्थवादी (Realist) तथा आदर्शवादी (Idealist) दोनों प्रकार के होते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि वे समाज की कमज़ोरियों का नग्न-चित्र खींचते हैं; जैसा कि जयशंकर 'प्रसाद' के 'कंकाल' में है। उससे पाठक के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मानव जाति के प्रति घृणा होने लगती है। कभी-कभी पाठक स्वयं भी वासनाओं की लहर में आन्दोलित होने लगता है। हत्या और मृत्यु के उपन्यास पढ़कर बदला लेने की प्रवृत्ति तथा घृणा का भाव बढ़ता है। जहाँ अच्छे उपन्यासों से सहानुभूति बढ़ती है वहाँ बुरे उपन्यासों से कठोर वृत्तियों का पोषण होता है।

इस दोष के परिहार-स्वरूप कई विद्वानों ने कहा है कि मनुष्य में हिंसा और घृणा की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से बिना वास्तविक हत्या हुए हिंसा-वृत्ति-संबंधी हृदय का उबाल निकल जाता है। वास्तविक हत्या से काल्पनिक हत्या निरापद है। यह बात कुछ अंशों में ठीक भी है, किन्तु ऐसे उपन्यासों को सावधानी के साथ

पढ़ना चाहिए। हमको उनके बहाव में पड़कर अपने अस्तित्व को भूल जाने की अपेक्षा अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेना अधिक श्रेयस्कर होगा। कहीं कहीं वासनाओं के दुष्परिणाम दिखलाने के बहाने वासनाओं का उच्छृङ्खल वर्णन होने लगता है। लेखक-गण मनुष्यों की कुरुचि से लाभ उठाना चाहते हैं। ऐसे उपन्यासों का प्रचार अवश्य हानिकारक होता है।

यद्यपि कोई भी वासनाओं के जाल से मुक्त नहीं है, तथापि किताबों की बिक्री के हेतु उन बातों का आकर्षक रूप से वर्णन करना नीति के विरुद्ध है। कुछ लोग सुधार का नाम लेकर वासनाओं के निराकरण के हेतु उसका ऐसा सजीव वर्णन करते हैं कि लोग सुधार की बात को भूलकर उन वासनाओं के वर्णन में अपना चित्त रमाने लग जाते हैं। आजकल के युग में शरद् बाबू, जैनेन्द्रकुमार (सुनीता में) तथा भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा में) प्रभृति लेखक समाज के माने हुए पातिव्रत सम्बन्धी आदर्शों को ढीला करना नीति विरुद्ध नहीं समझते, वरन् वे नीति और पाप-पुण्य की दूसरे ही रूप से व्याख्या करते हैं। शरद् बाबू की 'स्वामी' नाम की कहानी में पति की इच्छापूर्ति का बहुत अच्छा उदाहरण मिलता है, किंतु उस में पाप-पुण्य के बीच की रेखा मिटाने की चेष्टा नहीं की गई है। यद्यपि इसमें इतना सत्य अवश्य है कि समाज के वर्तमान आदर्शों के कारण अबलाओं पर अधिक अत्याचार हुआ है, तथापि इस प्रवृत्ति को इतना न बढ़ाना चाहिए कि आपद्-धर्म कर्तव्य बन जाय। इस प्रवृत्ति से सामाजिक संगठन को बहुत हानि पहुँचेगी।

उपन्यासों के अध्ययन से जहाँ समय कटता है और मनोरंजन होता है वहाँ [illegible] है। [illegible] आराम [illegible] है। [illegible] और [illegible] चाहिए। मनोरंजन [illegible] को [illegible] और

यदि वह हमारे गंभीर अध्ययन का स्थान लेकर उसका बहिष्कार कर दे तो वह अवश्य हानिकारक होगा। हमारे अध्ययन में उपन्यासों का स्थान अवश्य होना चाहिए, किन्तु उसको ऐसा विस्तार न देना चाहिए कि और किसी बात के लिए स्थान ही न रहे। यदि ऐसा होगा तो हमारा मानसिक विकास संकुचित हो जायगा।

---

१४. सभ्यता के साथ कविता का ह्रास होता है।

हम बहुत से शब्दों का प्रयोग उनके अर्थ पर पूर्ण विवेचन किये बिना ही एक अन्धरूढ़ि से प्रेरित हो करने लगते हैं। सभ्यता शब्द भी ऐसा ही है। इस का अर्थ बड़ा भ्रामक है। इसका कोई निश्चित माप-दण्ड नहीं है। यूरोप के देशों में सभ्यता का माप मनुष्य की भौतिक शक्ति और सम्पन्नता से किया जाता है। कई लोग तो इसकी व्यावहारिक नाप-जोख गन्धकाम्ल (Sulphuric acid) की खपत से और कई साबुन के उपयोग के आधार पर करते हैं। गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ, विद्युत् प्रकाश से जगमगाते हुए विशाल कक्ष, शारीरिक सौन्दर्य को अधिक उभार में लानेवाले कटे-छटे वस्त्र, हिमहास सी अमल-धवल चादरों से आच्छादित रंग-बिरंगे सौरभमय सुमनों से सुसज्जित एवं चमकते-दमकते छुरी-काँटे और स्वच्छ प्लेटों से सुसम्पन्न खाने की मेजें, वायु-वेग-विनिन्दित वायुयान, विपुल जन-संहारक तोपें और विस्फोटक पदार्थ, काँटे को काँटे से नहीं वरन् सुई और तलवार से दूर करने वाली न्याय-व्यवस्था और एक दूसरे का गला काटने वाला प्रतिद्वन्द्विता-प्रधान व्यापार, ये ही यूरोपीय सभ्यता के आधार-स्तम्भ हैं।

सभ्यता का एक पूर्वी आदर्श भी है। जो प्रायः 'जीओ और जीने दो' की संतोष-प्रधान नीति पर अवलम्बित है और जिसमें भौतिक सुख और सम्पन्नता की अपेक्षा आदर-सत्कार और प्रेम-पूर्ण

व्यवहार को अधिक महत्ता दी जाती है। उसके अनुकूल सभ्यता मानवता का पर्याय बन जाता है।

लार्ड मेकाले ने जब सभ्यता के साथ कविता के ह्रास की बात कही तब उसके ध्यान में पहले प्रकार की भौतिक-सम्पन्नता-प्रधान सभ्यता का ही आदर्श होगा। सभ्यता के भौतिक अर्थ में ही इस लेख का शीर्षक अधिक सार्थक होता है।

विज्ञान भौतिक-सभ्यता का प्रधान साधक और विधायक है। इस का भव्य-भवन बुद्धिवाद पर अवलम्बित है। विज्ञान में कल्पना और बुद्धि है किन्तु भावों को स्थान नहीं। उसके लिए घोर-कठोर नियम ही सब-कुछ हैं; उनके लौह-चक्र से कोई नहीं बच सकता। विज्ञान ने हमको प्रकृति पर विजयी अवश्य बनाया है किन्तु साथ ही उसने हमारा वह सुखद सम्पर्क, जो हमारे हर्षोल्लास का कारण बनता था, बहुत अंश में कम कर दिया है। सूर्य के स्वास्थ्य और स्फूर्ति-वर्धक प्राकृतिक प्रकाश से वञ्चित रहकर हम दिन में भी बिजली की रोशनी जलाकर दफ्तरों और कारखानों में काम करते रहते हैं। प्राकृतिक शीतल मन्द-सुगंध समीर का स्थान बिजली के पंखों की वायु ने ले लिया है। हमारे भोजन और हाथों के बीच में भी छुरी-काँटों का कृत्रिम व्यवधान आ गया है। बर्फ के बिना हमारी तृषाशान्ति नहीं होती। विज्ञान ने नयी-नयी आवश्यकताओं को जन्म देकर हमको उनका दास बना दिया है। उसकी विश्व-व्यापिनी माया ने हमको यन्त्रारूढ़ पर सार्द यन्त्र बना दिया है।

अब प्रकृति के साथ वह सीधा सम्पर्क है। सम्पर्क हो भी कहाँ से ? नयी सभ्यता उपयोगितावाद की झोंक में प्रकृति के ऊपर दिन-दहाड़े आक्रमण कर रही है। मिलों के धुओं ने गगन की नीलिमा को अच्छादित कर रक्खा है। भोंपुओं की कर्ण-कुहर-भेदी कर्कश-ध्वनि में पक्षियों का कोमल कलरव विलीन हो गया है। नदियों का उन्मुक्त प्रवाह बन्धनग्रस्त कर दिया गया है। शैल-शृंगों पर मौन तपस्वी-से खड़े हुए विशालकाय शाल-वृक्ष काटे जाकर रेल के स्लीपर बनते हैं। 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने प्रथम सामरव तव तपोवने' वाली कवीन्द्र रवीन्द्र की भारत-प्रशस्ति अब अतीत का ही स्वप्न बन गई है। जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध ही मिटता जाता है तब कविता के लिए परमापेक्षित शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की सम्भावना कहाँ।

जो बात जड़ प्रकृति के लिए है वही बात चेतन प्रकृति के लिए भी है। बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता और जीवन की पेचीदगी के कारण मित्र भी शत्रु बनते जा रहे हैं। उदर की भीषण ज्वाला अब भावों के स्रोतों को सुखा रही है। पैसे के अभाव में आटे-दाल का भाव याद आने लगता है फिर अतिथि-सेवा और आदर-सत्कार कहाँ ? बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के साथ व्यक्तिवाद और स्वार्थपरायणता बढ़ती जाती है फिर कविता की उदात्त भावनाएँ कहाँ स्थान पा सकती हैं ? जहाँ सब चीजों का मूल्य आने-पाई में आँका जाय वहाँ भावुकता की पूछ मुश्किल से ही हो सकती है। इसलिए इस लौहयुग की कठिन भूमि में रसमयी कविता को बेल का पनपना कठिन है।

मैकाले के उपर्युक्त वाक्य भौतिक सभ्यता के सम्बन्ध में कहे गये हैं। सभ्यता के आध्यात्मिक अर्थ में इन वाक्यों की सत्यता प्रमाणित करना दुष्कर होगा, किन्तु भौतिक सभ्यता के सम्बन्ध में भी इनको ध्रुव सत्य मानना कठिन है। पहले तो सभ्यता के विकास और कविता के ह्रास का कोई निश्चित अनुपात नहीं है। फिर नई सभ्यता की हवा

से सब लोग एक से प्रभावित नहीं होते हैं। प्रकृति-भेद के कारण कुछ लोग उस से अछूते ही रहते हैं। तुलसी और केशव प्रायः समकालीन कहे जाते हैं किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों का उन दोनों पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ा। आज-कल भी भारत में शुष्क और सरस दोनों ही प्रकार के लोग हैं। इंगलिस्तान में यदि शेक्सपीयर नहीं पैदा हो सके तो बर्नार्डशा, गाल्सवर्दी और एच. जी. वेल्स तो मौजूद ही हैं। वर्तमान हिन्दी-जगत में यदि सूर और तुलसी नहीं हुए तो उनकी छाया ग्रहण करने वाले उपाध्याय और गुप्त तो हुए ही हैं। इस युग ने भी कामायनी और साकेत की सृष्टि की है। विश्व में अपनी कविता की धाक जमाने वाले कवीन्द्र रवीन्द्र आधुनिक काल की ही उपज हैं। मुक्तक और गीत के क्षेत्र में महादेवी, पंत और निराला अपने काव्य से हमारा अनुरंजन कर रहे हैं।

इन सब बातों के अतिरिक्त एक बात का हम को स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य जब तक मनुष्य है तब तक भावों का नितांत ह्रास नहीं हो जाता उनके आलम्बन चाहे बदल जायें। छायावादी युग में प्रकृति भावों का आलम्बन रही। अब प्रगतिवादी युग में मज़दूर और किसान कविता के विषय बने हैं। जनता के प्रचार के लिए नयी संस्थाएँ अपनी भावात्मक अभिव्यक्ति चाहती हैं। कोमल बुद्धिवाद के आधार पर जनता भावोन्मुखी नहीं होती। यदि जाति-पाँति के बन्धन टूटते जाते हैं तो संस्थाओं, संघों, परिषदों और दलों का

ही प्रमाणित की जा सकती है किंतु इसको एक ध्रुव सत्य मानना भूल होगी। जब तक मनुष्य मनुष्य रहेगा तब तक उसके हृदय में किसी न किसी प्रकार की कविता के लिए स्थान रहेगा।

---

१५. हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण

यद्यपि साहित्य में मानव की अपेक्षा प्रकृति का स्थान गौण है तथापि उसका महत्त्व नगण्य नहीं है। मनुष्य प्रकृति की गोद में पला है, वह उसके सुख-दुःख की चिरसंगिनी रही है और इस नाते उसके प्रति हमारा सहज आकर्षण रहता है। यद्यपि उसमें मनुष्य का-सा भावों का प्रतिस्पन्दन नहीं दिखाई देता, तो भी वह हर्ष-विषादमय प्रभाव से हमारे सुख-दुःख को गहरा या हलका बनाने की सामर्थ्य रखती है। प्रकृति मनुष्य के क्रीड़ा-कलाप की चित्रमयी रंग-स्थली है। इसके बिना मानव-जीवन का नाटक अधूरा रह जाता है।

प्राकृतिक दृश्य अपने शक्ति-सम्पन्न प्रभाव से हमारे सुख-दुःख, हर्ष-विषाद को दुगुना-चौगुना कर देते हैं। कविवर नन्ददास जी ने अपनी रासपंचाध्यायी में उड़राज चन्द्रमा को रसरास का सहायक बतलाया है। बिना यमुना-पुलिन, चन्द्र-ज्योत्स्ना और मलय-समीर के वृन्दारण्य-विहारी भगवान कृष्ण के दिव्यरास की शोभा फीकी पड़ जाती है। बीहड़ वन, अँधेरी रात और बादल की गरज हमारे भय को तीव्रता प्रदान कर देती है। विरहिणी व्रजांगनाओं को कृष्ण के वियोग में सावन की रातें वामन के डगों की भाँति लंबी बन जाती हैं। रात्रि में विरह-व्यथित हृदय के लिए तारागण अपने झिलमिल प्रकाश से मौन सहानुभूति प्रकाशित करते हैं। चित्र की पृष्ठभूमि की भाँति प्रकृति जब हमारे भावों को तीव्रता प्रदान करने में सहायक होती है तब उस सम्बन्ध के वर्णनों को हम उद्दीपन रूप के वर्णन कहते हैं। उस समय प्रकृति हमारे राग का मूल विषय नहीं होती वरन् उस राग को गहरा करने की साधन मात्र रह जाती है।

प्रकृति की गोद में पला हुआ मनुष्य अपने अंगों की सौन्दर्य-सुषमा की तुलना के लिए प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से उपमान ग्रहण करता है। सारे विश्व में प्रकृति और मनुष्य के अतिरिक्त है ही क्या ? फिर वह उपमानों की खोज कहाँ करे ? उपमान तो अपने से भिन्न ही होगा। इस खोज में वह प्रकृति के साथ एक नया तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध इतने में ही सीमित नहीं है। प्रकृति अपने नाना व्यापारों द्वारा मनुष्य को कुछ उपदेश देकर उसके गुरु का भी काम करती है। विज्ञ-पुरुष प्रकृति के मौन संदेश को अपनी भाषा में अनुवादित कर उससे प्रेरणा ग्रहण करता है। कवि अपनी कल्पना में इससे भी एक पग आगे जाता है। वह प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर उससे पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। प्रकृति-प्रेमियों को वह अपना ही रूप प्रदान कर अपने रंग में रँग लेता है। छायावाद ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। हमारे कविगण छायावाद से आगे बढ़कर रहस्यवाद की ओर भी जाते हैं। रहस्यवादी कवि प्रकृति में मानवी रूप ही नहीं देखता वरन् उसमें और अपने में एक ही आत्मा का आभास पाता है। एकात्मवाद की आधार-शिला पर ही प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य सम्भव होता है। प्रकृति में चेतनता के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार साहित्य में प्रकृति-चित्रण के जितने रूप हैं उनमें हम प्रकृति के चित्रगत अध्ययन से आरम्भ कर उसको नाना रूपों में आध्यात्मिकता प्रदान करते रहते हैं।

है। आचार्य शुक्लजी ने जो स्वयं प्रकृति का वर्णन किया है उसमें आलम्बनत्व अधिक दिखाई देता है:—

भूरी हरी-भरी घास, आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों का, चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर, विरल, सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥

पंतजी ने भी शुक्लजी का-सा ही नहीं वरन् उससे कुछ अधिक कलामय रूप से अपनी 'ग्राम-श्री' कविता में पीली सरसों का वर्णन किया है:—

उड़ती भीनी तैलावत गंध, फूली सरसों पीली-पीली।
लो हरित धरा से झाँक रही, नीलम की कलि, तीसी नीली॥

सेनापति आदि कवियों ने यद्यपि प्रकृति-चित्रण उद्दीपन-रूप में ही किया है तथापि उनके वर्णन इतने सजीव और वास्तविकता लिये हुए हैं कि कहीं-कहीं उनमें आलम्बनत्व की झलक आ जाती है:—

वृष की तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छाँ हि कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं।
सेनापति नैक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौ पकरि कौनो
घरी एक बैठि कहूँ घामे बितवत हैं॥

प्रसाद ने भवभूति की भाँति प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों रूपों का वर्णन किया है। प्रकृति के रम्य रूप हृदय में उत्साह उत्पन्न करते हैं और कराल रूप भय और आतंक। प्रकृति के सौम्य रूपों का वर्णन तो प्रायः सभी प्रकृति-प्रेमी कवियों ने किया है किन्तु विकराल रूप के चित्रण में विरले ही कौशल प्राप्त कर सके हैं। प्रसादजी में ऐसे बहुत से चित्रण मिलते हैं।

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी
चली आ रही फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों-सी ।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास ।

हिन्दी के कवियों ने प्रकृति का उद्दीपन-रूप में वर्णन चिरकाल से किया है । रस-रास में चाँदनी और मलय-समीर का तथा विरह में ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन इसी प्रवृत्ति का फल है । उद्दीपन-रूप में प्रकृति की सुरम्य छटाएँ सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों की याद दिलाकर विरह-वेदना को और भी विषमता प्रदान कर देते हैं । प्रसादजी ने मनु और कामायनी के मिलन के समय का भावानुरूप प्राकृतिक रूप अंकित किया है:—

सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग
राग रञ्जित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग ।
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ
चले दोनों, स्वप्न पथ में स्नेह सम्बल साथ ।

वियोग के दृश्यों से तो भक्तिकाल और रीतिकाल का काव्य भरा ही पड़ा है । प्रकृति पूर्वानुभूत सुखों की साक्षी बनकर हमारी स्मृति को सजीवता प्रदान करती है । स्मृति विरह पर एक प्रकार से सान चढ़ा देती है । विरह की दशा में सुखद वस्तुएँ भी दुःखद लगने लगती हैं:—

"बिन गुपाल बैरिन भई कुंजैं ।
तब ये लता लगति अति शीतल,
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ।"

सूर की गोपियाँ वर्षा-ऋतु के उद्दीपनों पर इतना विश्वास करती हैं कि कृष्ण के न लौट आने के कारण उन्हें यह संदेह होने लगता है कि उस देश में वर्षा नहीं होती और न मेंढक तथा बक पाँति आदि

वर्षा के चिह्न ही वहाँ दिखाई देते हैं। इस पद में गोपियों की विरह-भरी खीझ प्रकट होती है:—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि
किधौं वहि इन्द्र हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाये शेषनि।
किधौं वहि देस बकन मग छाँड्यो, घर बूड़ति न प्रवेसनि।
किधौं वह देस मोर, चातक, पिक,बधिकन बधे विशेषनि।

वर्षा के घनश्याम को देखकर सादृश्य के कारण गोपियों को अपने घनश्याम का स्मरण हो आता है, यह स्मृति उनके विरह को और भी उद्दीप्त कर देती है, उत्प्रेक्षा के सहारे बादलों में कृष्ण के सब अंग उतर आते हैं:—

आज घन श्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे, सखि री! लेहि रूप निहारि।
इन्द्र-धनुष मनो-पीत बसन छवि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँत मालमोतिन की चितवत चित्त लेत हैं हारि।

इस प्रकार स्मृति को जाग्रत करना भी उद्दीपन का एक रूप है।

उपमानों के रूप में प्रकृति का प्रयोग तो साधारण भाषा में भी करना पड़ता है। चरण-कमल, हिम-धवल, भँवर-काले, कोकिल-कंठ आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। कवि का प्रकृति से जितना गाढ़ा प्रेम होता है उतने ही सुन्दर वह उपमान खोजकर निकाल लेता है। कवि के उपमान जातीय संस्कृति तथा उसके निजी उत्साह के परिचायक होते हैं। कुछ कवि बँधे-बँधाये उपमानों का प्रयोग करते हैं, कुछ नवीन उपमानों से काम लेते हैं और कुछ पुरानों में ही नवीनता उत्पन्न कर देते हैं। बँधे-बँधाये उपमानों में मुख के लिए चन्द्रमा; नेत्रों के लिए मृग-शावक के से नेत्र, मीन या खंजन; नासिका के लिए तोता; ओष्ठों के लिए मूँगा, कुन्दरू, बन्धूक या दुपहरिया का फूल; दाँतों के लिए अनार के दाने, कुन्दकली या मोती; बालों के लिए भौंरे, साँप या अन्धकार; सारे शरीर के लिए बिजली इत्यादि

अंग-प्रत्यंगों के लिए अनोखे-अनोखे उपमान छाने हैं। सूर ने तो रूपकातिशयोक्ति के सहारे उपमानों का एक बाग-सा खड़ा कर दिया है:—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त,
तापर सिंह करत अनुराग।

सूरदास जी कृष्ण जी के अधरों की लाली के सम्बन्ध में उत्प्रेक्षा करते हैं —"मनो प्रात की घटा साँवरी तापर अरुन प्रकास।" इस प्रकार अलंकारों में भी प्रकृति और मानव का तादात्म्य हो जाता है। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त रत्नाभरणों की शोभा के वर्णन में जुगनुओं का दृश्य उपस्थित करते हैं:—

रत्नाभरण भरे अंगों में
ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ,
जुगनू जगमग करते थे।

ऐसे वर्णनों में प्रकृति का स्थान गौण होते हुए भी मुख्यता प्राप्त कर लेता है। मालूम पड़ता है कि कवि अपने जीवन में जुगनुओं के चमत्कारिक समूह से अवश्य प्रभावित हुआ होगा।

प्रकृति से उपदेश-ग्रहण की परम्परा बहुत प्राचीन है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीमद्भागवत के आधार पर वर्षा और शरद् के वर्णन में बहुत से नैतिक तथ्यों को प्रकाशित किया है :—

दामिनि दमक रही घन माँही, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
बुंद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के वचन संत सह जैसे।

इन वर्णनों में मूर्त्त पदार्थों की अमूर्त्त विषयों से उपमा देने की आजकल की प्रवृत्ति है। प्रायः सभी अन्योक्तियाँ इसी प्रवृत्ति का फल है। हमारे यहाँ दीनदयालगिरि ने बहुत सी अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

कवि तो स्वयं प्रकृति के रंग में कम रँगा जाता है किन्तु वह प्रकृति को भी अपने रंग में सराबोर रँग देता है। वह अपनी प्रसन्नता

के लिए प्रकृति में मानवी भाव आरोप कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध और भी घनिष्ट हो जाता है। मनुष्य जब प्रकृति से सौन्दर्य के मानदण्ड लेता है तब यदि बदले में उसे वह अपने भावों से सम्पन्न बना दे तो कोई आश्चर्य की बात नही। यह आदान-प्रदान ही तो संसार में एक-सूत्रता का तारतम्य स्थापित करता है। प्रकृति में मानवी भावों के आरोप की प्रवृत्ति कुछ नई नहीं है। जायसी ने प्रकृति को मनुष्य के साथ रुलाया है—

सरवर हिया फटत नित जाई। टूक-टूक होइकै बिहराई!

सूर में भी प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है। सूर की गोपियाँ मधुबन से पूछती हैं:—

मधुबन तुम कत रहत हरे!
बिरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे!

वे मधुबन को भी अपना-सा समझती हैं और कृष्ण के वियोग में उसे-भी जला हुआ देखना चाहती हैं—'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'—किन्तु सूर ने प्रकृति के उसी अंश को लिया है जिससे कृष्ण का सम्बन्ध था, जायसी की भाँति सूरज और पृथ्वी सबको नहीं रुलाया है। सूर ने यमुना का मानवीकरण किया है किन्तु उत्प्रेक्षा का प्रयोग कर अतिशयता के दोष से बच गये हैं।

हमारे आजकल के छायावादी कवियों ने प्रकृति को मानवी रंग में रँगने की विशेषता प्राप्त की है। यद्यपि यह प्रवृत्ति पुरानी है तथापि हमको शुष्क द्विवेदी-युग में भी श्रीधर पाठक की कविताओं में प्रकृति के मानवी रूप के दर्शन होते हैं। उनकी 'काश्मीर-सुषमा' इसका एक उदाहरण है। आजकल तो इस प्रवृत्ति की बाढ़-सी आगई है। कहीं सन्ध्या को सुन्दरी का रूपक दिया जाता है जो आकाश से धीरे-धीरे चुप-चाप परी की भाँति उतरती है, कहीं जुही की कली शिथिल पत्रांक में सोती हुई नायिका के रूप में देखी जाती है और मलयानिल उसके साथ अठखेलियाँ करता है। किरण उषा सुन्दरी के कर का

संकेत बनकर पृथ्वी पर आती है, तो झरना कान में कुछ गहरी बात कहता सुनाई पड़ता है। प्रकृति का मानवीकरण करते हुए महादेवी जी ने वसन्तरजनी को वधू बनाकर उसको प्राकृतिक अलंकरणों से सजाया है:—

'तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सितघन अवगुण्ठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसंत रजनी॥'

श्री सुमित्रानन्दन पंत ने शारद-हासिन चन्द्र-ज्योत्स्ना को सोती हुई नायिका का रूप दिया है :—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिन
मृदु करतल पर शशि-मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिन।

प्रकृति के मानवीकरण का आधार एकात्मवाद ही है। प्राकृतिक रहस्यवाद की आधार-शिला पर ही छायावाद ठहर सकता है। छायावादी कवियों के लिए प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करना स्वाभाविक ही है। प्रकृति परम तत्त्व की अभिव्यक्ति बन जाती है। यह प्रवृत्ति जिज्ञासा से आरम्भ कर रूप-सौन्दर्य के रहस्यवाद तक पहुँच जाती है। प्रसादजी सारी प्रकृति में एक व्यापक जिज्ञासा देखते हैं :—

महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान।

प्रकृति उनके लिए जड़ नहीं है वरन् चेतना का शरीर है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति एकात्म तत्त्व में मिलकर एकाकार बन जाते हैं। यही अध्यात्मवाद प्राकृतिक रहस्यवाद के मूल में है। भौतिक को आध्यात्मिकता प्रदान करना ही कला की चरम परिणति है।

प्रकृति-चित्रण के इन वास्तविक रूपों के अतिरिक्त कुछ वर्णन ऐसे भी हुए हैं जिनमें निजी निरीक्षण का तो नितान्त अभाव रहता

है- केवल नाम परिगणन कर कवि अपने ऊपर से प्रकृति-चित्रण का भार उतार लेता है। केशवदासजी ने विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को आश्रम के समीप वन की सैर कराई है। वहाँ वह यह भूल गये हैं कि 'एला, लवंग पुंगीफल और राजहंस' का बिहार के जंगलों में होना असम्भव है। कवि सम्राट हरिऔधजी ने उद्धव के ब्रज जाते समय सारे वृक्षों के नाम गिना दिये हैं, किन्तु ब्रज की प्रधान वस्तु करील को भुला दिया है। केशवदासजी ने पंचवटी के वर्णन में 'अर्क' शब्द के साथ वहाँ अकौओं द्वारा प्रलयकाल के सूर्य का प्रकाश करा दिया है। सेनापति ने भी दो-एक स्थानों पर श्लेष का चमत्कार दिखाने के लिए ऋतु-वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन प्रकृति के वर्णन नहीं कहे जा सकते वरन् श्लेष के ही वर्णन कहे जायँगे। जब तक प्रकृति में मन रमे नहीं, उसके प्रति हृदय में उल्लास न हो, तब तक प्रकृति का वर्णन सहज नहीं है, वरन् कृत्रिम है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान युग प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में अन्य युगों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। प्रकृति को जितना आश्रय इस युग में मिला उतना और किसी युग में नहीं, प्रकृति-चित्रण में जितना हृदय का उल्लास आधुनिक कवियों में है उतना पिछले युग के कवियों में नहीं। वीर-गाथाकाल में कवियों की दृष्टि मानव विशेषतः राजपूताने के पारस्परिक संघर्ष की ओर अधिक रही। इस काल में यदि प्रकृति का चित्रण हुआ तो अलंकार विधान और कुछ शृंगार के आश्रित उद्दीपन रूप से। भक्ति-काल में प्रकृति का वर्णन राम और कृष्ण की विहार-स्थली के के रूप में हुआ। अवतारी पुरुषों के सम्बन्ध से चित्रकूट और वृन्दा-वन की लता-कुंजों को भी पावनता मिल गई। शृंगारिक उद्दीपनों और अप्रस्तुत योजना में भी उसका अंकन हुआ, किन्तु उसको स्वतंत्र स्थान न मिल सका। रीति-काल में उसने बारहमासा और ऋतु-वर्णन का रूप धारण किया। उस काल में प्रकृति के प्रति उतना भी उत्साह न रहा

जितना कि भक्तिकाल में था। हरिश्चन्द्र युग में कुछ तो भक्ति-भावना की पुनरावृत्ति के कारण और कुछ कुछ बढ़ती हुई शृंगारिकता पर रोक-थाम होने के कारण प्रकृति की ओर कुछ अधिक ध्यान गया लेकिन उसके प्रति उल्लास न उत्पन्न हो सका। द्विवेदीजी का दृष्टिकोण घोर कर्तव्यपरायणता का था। वह प्रकृति के सम्बन्ध तक में आलंकारिक रूप से भी शृंगारिक शब्दावली से बचना चाहते थे इसलिए उस समय के वर्णनों में वह सरलता न आ सकी जो छायावादी युग में आई। श्रीधर पाठक और गुप्तजी फिर भी कुछ सरलता ला सके हैं। छायावादी युग में प्रकृति के चित्रण में शृंगार की दबी हुई भावनाओं को विकास मिला। कवियों की प्रकृति-सहचरी ने उनके निराशा भरे हृदयों में एक नवीन उन्माद का संचार किया और उनके जी की ऊब को मिटाया। यद्यपि प्रगतिवाद के प्रभाव से प्रकृति-चित्रण का कुछ ह्रास हो रहा है तथापि मानव और प्रकृति का चिर-सहचार इतना ढ़ और प्रबल है कि बढ़ती हुई यांत्रिक सभ्यता भी उसके ऊपर िस्मृति का आवरण नहीं डाल सकती।

१६. साहित्य और जातीयता

साहित्य यद्यपि रचा व्यक्तियों द्वारा जाता है तथापि साहित्यिक क्ति अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है। साहित्यिक ही अकेला या, होते तो हैं सभी क्षेत्र के व्यक्ति हाँडी के एक चावल की भाँति पनी जाति की परिपक्वता की मात्रा के परिचायक, किन्तु साहित्यिक जातीय मनोवृत्ति की छाप इसलिए और भी उभर आती है कि वह ान्तःसुखाय तो लिखता ही है, उसे अपने श्रोता और पाठकों का ी ध्यान रखना पड़ता है। कवि या लेखक यथासम्भव लोकरुचि से हर नहीं जा सकता।

साहित्यिक लोकरुचि का प्रतिनिधि होता हुआ भी वह उसको

गति-विधि देने में भी योग देता है । यदि ऐसा न हो तो समाज में उन्नति का द्वार बन्द हो जाय । स्वयं समाज भी स्थिर नहीं रहता । उसमें भी नवीन परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं द्वारा नवीन विचार उठते रहते हैं । कवि या लेखक रेडियो के आकाशी (Ariel) की भाँति उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरङ्गों को अपनी बढ़ी हुई संवेदना-शीलता के कारण ग्रहण कर उनको अपनी कला की अभिव्यंजना-शक्ति द्वारा समाज में प्रसारित कर देता है । इस कार्य में कवि नितान्त निष्क्रिय ग्राहक नहीं होता । वह अपनी ओर से भी बहुत कुछ देता है । वह अरुण शिखा (मुर्गे) की भाँति, होने वाले प्रभात की, अपनी बाँग द्वारा सूचना ही नहीं देता वरन् सूर्य के रथ को भी नई गति देता है । कबीर ने शूद्रों का पक्ष लेकर हिन्दू-मुसलमान दोनों को निर्भीकता-पूर्वक डाँट-फटकार बतलाई । जायसी आदि प्रेम-मार्गी सूफी कवियों ने अपनी समाज की मान्यताओं को स्थित रखते हुए हिन्दुओं के प्रति उदारता और सौहार्द का परिचय दिया । कृष्ण भक्त-कवियों ने कृष्ण प्रेम में पारिवारिक-बन्धनों को कुछ ढीला किया और स्त्री-स्वातन्त्र्य का सूत्रपात किया, उन्होंने शूद्रों की स्थिति को कुछ सुधारा और जीवन के माधुर्यपक्ष का उद्घाटन कर उसके प्रति आस्था उत्पन्न की । तुलसी ने गोरख, कबीर आदि के प्रभाव को कम कर सामाजिक-व्यवस्था की प्रतिष्ठा की और वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में समन्वय भावना को बढ़ाया । भक्त कवियों ने राज्याश्रय का तिरस्कार कर अपना जातीय व्यक्तित्व ही स्थापित नहीं किया वरन् स्वातन्त्र्य भावना की भी वृद्धि की । भूषण ने शृंगारिक काल में वीर रस को जाग्रत किया । सफल कलाकार प्रायः निजी रुचि और लोक-रुचि का समन्वय कर लोक-रुचि को दो-चार कदम आगे बढ़ाता रहता है । वह जातीय रूढ़ियों के गढ़ में से कुछ वातायन खोज निकालता है, उन्हीं में होकर वह उस गढ़ के भीतर प्रवेश पा जाता है और जनता के लिए मुख्य द्वार नहीं तो छोटे-पूरे द्वार खोल देता है । फिर कवि या सुधारक का बताया हुआ

मार्ग ही पगडंडी का रूप धारण कर लेता है और क्रमशः वह राजमार्ग में परिणत हो जाता है ।

इस प्रकार साहित्य में समाज और व्यक्ति का लेन-देन चलता रहता है, फिर भी कवि अपने जातीय भावों की छाप को मिटा नहीं सकता । व्यक्तियों की भाँति जाति का भी व्यक्तित्व होता है और उसकी विशेष मनोवृत्ति होती है । यद्यपि कुछ बातों में मानव-हृदय एक-सा है तथापि देश-काल के अनुकूल प्रवृत्तियां और उनकी गति और बल की मात्रा में भेद रहता ही है । वही जातीय मनोवृत्ति बन जाती है। यह जातीय मनोवृत्ति भी एक रस नहीं रहती । इसका भी जल कभी स्वच्छ, कभी गँदला, कभी फूल पत्तियों और जलजीवों से संकुल और कभी उनसे रहित हो जाता है। जगत और संसार का अर्थ ही परिवर्तन-शीलता है । इस परिवर्तन-शीलता में सब कुछ नहीं बदलता है । यद्यपि गंगोत्री, हरद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, सरों, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, काशी और कलकत्ते की गंगाजी की धारा और जल की निर्मलता एक-सी नहीं फिर भी वह गंगाजल ही रहता है, इसी प्रकार जातीय मनोवृत्ति बदलती हुई भी अपना व्यक्तित्व कायम रखती है । साहित्य में उसी मनोवृत्ति की छाप रहती है । जातीय साहित्य का अभिप्राय यही होता है कि उसमें हमको जातीय मनोवृत्ति का परिचय मिलता है ।

जातीय मनोवृत्ति की छाया सब प्रकार के साहित्य में एक ही मात्रा की घनता में नहीं रहती; कहीं ज्यादा कहीं कम। महाकाव्यों में अधिक रहती है । प्रगीत काव्य में व्यक्तित्व का प्राधान्य रहता है, यद्यपि व्यक्ति में भी जाति की झलक रहती है । जिस प्रकार चीता अपनी पीठ पर की चित्तियों को नहीं बदल सकता उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी जातीय छाप मिटा नहीं सकता और विश्व की सम्पन्नता के लिए उस छाप को मिटाने की आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार कवि या लेखक पर बहुत से प्रभाव होते हैं । वह बहुत-सी संपत्तियों

का उत्तराधिकारी होता है।

कवि मनुष्य है। उसमें मनुष्यजाति की दुर्बलताएँ वा कोमलताएँ होती हैं, जिनमें वह सारे मानव-समाज का साझीदार है। उसकी मनोवृत्ति का बहुत कुछ अंश जातीय होता है, उस अंश में वह जाति का प्रतिनिधि होता है। और उस में समय के अनुकूल बदली हुई जातीय मनोवृत्ति का बदला हुआ रूप भी रहता है। इसके अतिरिक्त उसके निजी कवित्व की भी छाया रहती है। कवि का निजी कवित्व समाज की मानी हुई गति-विधि को निर्धारित करने में योग देता है। कविता में सब प्रभाव होते हुए भी यह उसके कवित्व पर निर्भर रहता है कि किन बातों को महत्त्व दे। कुछ में मानवमात्र की भावनाओं की झलक रहती है, कुछ में जातीय भावनाओं की छाप रहती है और कुछ शाश्वत बातों की ओर ध्यान न देकर तात्कालीन समस्याओं को जाति की मनोवृत्ति के अनुकूल अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ उस समय आने वाले विदेशी रंग से रँग जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो 'सायर सिंह सपूत' की भाँति अपना नया मार्ग खोज निकालते हैं। इन सब रूपों में जातीय मनोवृति का अन्तःस्रोत बहता ही रहता है।

भारत के स्वच्छ उन्मुक्त उज्ज्वल ज्योत्स्नामय तपोवनों में पोषित त्याग और आत्मा के विस्तार सम्बन्धी सिद्धान्तों की जो झलक भारतीय साहित्य में मिलेगी वह अन्यत्र नही। विदेशी साहित्य में संघर्ष और भौतिक समृद्धि की भावना अधिक है। हमारे साहित्य में उस समृद्धि को प्राप्त कर उसके त्यागने की भावना भी प्रबल है। अंग्रेजी साहित्य में ही Paradise Lost जैसी पुस्तक सम्भव थी। हमारे यहाँ ईश्वर की प्रतिद्वन्द्विनी कोई प्रधान शक्ति नहीं है। हम लोगों में विद्रोह की भावना प्रबल है भी नहीं। मूर्ति-पूजा के विरोध के कारण मुसलमानों में नाटक का विकास न हो सका। हिन्दुओं में ईश्वरीय न्याय की भावना अधिक प्रबल है इसलिए हमारे प्राचीन साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव रहा।

हम और देशों की जातीय मनोवृत्ति को न लेकर भारतीय मनोवृत्ति की विशेषताओं पर ही ध्यान देंगे। भारतीय मनोवृत्ति की मूल धाराएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं। उनकी झलक हमारे साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलती है।

(१) आध्यात्मिकता—आत्मा की अमरता में विश्वास, आवागमन की भावना, भाग्यवाद से प्रभावित पुरुषार्थवाद, भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिकता को महत्व देना आदि बातें इसके अंग हैं।

(२) समन्वयबुद्धि—धर्म, अर्थ, काम को अविरोध भाव से महत्त्व देना; ज्ञान भक्ति की एकता; ज्ञान, इच्छा और क्रिया का मेल, आदि इसके ही रूप हैं।

(३) अहिंसा—यद्यपि युद्धादि के वर्णनों में हिंसा का प्रचुर वर्णन है तथापि महत्त्व अहिंसा, त्याग, क्षमा, दया आदि सात्विक गुणों को ही दिया गया है।

(४) आनन्दवाद—दुःख को बौद्ध धर्म में अधिक महत्त्व मिला है किन्तु दुःख से निवृत्ति और स्थायी आनन्द की प्राप्ति हमारे यहाँ का मूल ध्येय रहा है। वर्तमान युग में कुछ परिस्थितियों के कारण और कुछ पाश्चात्य प्रभाव और बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान से हमारे साहित्य में दुःखवाद का प्राधान्य हो गया है। वर्तमान कविता में दुःखवाद को अधिक आश्रय दिया अवश्य जा रहा है, किंतु उस में भी आनन्द की झलक देखी जाती है।

(५) प्रकृति-प्रेम—भारतीय आध्यात्मिकता प्रकृति की विरोधिनी नहीं है वरन् भारतीय विचार धारा में प्रकृति आध्यात्मिकता की पोषिका के रूप में स्वीकृति हुई है। हमारे यहाँ दोनों का सुन्दर सामंजस्य रहा है।

हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचय हमको वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश महाकाव्य, शकुन्तला, उत्तररामचरित नाटक आदि प्रायः सभी प्राचीन साहित्य में प्रचुर रूप से मिलता है और वर्तमान काल

का भी साहित्य उनसे बहुत अंश में प्रभावित है। वाल्मीकीय रामायण के आदि में जो आदर्श पुरुष के लक्षण हैं, वे भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल हैं। रघुवंश में जो सूर्यवंशी राजाओं के गुणों का उल्लेख हुआ है, उनमें भारतीय आदर्शों की पूरी झलक पाई जाती है—

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।

अर्थात् दूसरों को दान देने के लिए ही जो सम्पन्न बनते थे और सत्य के लिए ही जो थोड़ा बोलते थे (मिथ्याभिमान के कारण नहीं), यश के लिए ही विजय करते थे (धन और राज्य छीनने के लिए नहीं) सन्तानोत्पत्ति कर पितृ-ऋण चुकाने के लिए ही (कामोपभोग के लिए नहीं) जो गृहस्थ बनते थे, जो शैशव काल में विद्याध्ययन करते थे और यौवन में विषयों की इच्छा करते थे, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण कर लेते थे और जो योग द्वारा स्वेच्छा से शरीर छोड़ते थे (आज-कल की भाँति रोगेणान्ते तनुत्यजाम् नहीं थे), ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ, यद्यपि मेरे पास उसके योग्य वाणी का वैभव नहीं है। इस अवतरण में भारत की जातीय मनोवृत्ति का बड़ा सुन्दर चित्र है।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना रघुवंश आदि काव्यों में प्रचुरता से मिलती है। गुरु की प्रसन्नता के लिए नन्दिनी गौ की शेर से रक्षा के हेतु महाराज दिलीप कहते हैं कि यदि तुममें कुछ अहिंसा की मनोवृत्ति है तो मेरे यश शरीर पर दया करो; नाश होने वाले पंचभूतों के बने हुए पिण्ड में मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥

कबीर, दादू, सूर, तुलसी तो सन्त और भक्त ही थे, उनमें वैराग्य हो तो कोई आश्चर्य नहीं, परम शृङ्गारी कवि बिहारी में भी संसार के प्रति मोह नहीं था; वे भी उसमें एक परमात्मा के रूप को प्रतिबिम्बित देखते हैं।

आवागमन की भावना हमको रघुवंश, कादम्बरी, नैषध आदि अनेकों साहित्य ग्रन्थों में ओत-प्रोत मिलती है। शकुन्तला-दुष्यन्त जैसे पारस्परिक आकर्षण का आधार भी जन्मान्तर सम्बन्ध ही माना गया है। पातिव्रत की भावना (उसके लिए आज-कल के लोग चाहे जो कुछ कहें) हमारे साहित्य में प्रचुरता से पाई जाती है। सीताजी निर्वासित होने पर भी रामचन्द्र को दोषी नहीं ठहरातीं; वे अपने भाग्य को ही उसके लिए उत्तरदायी ठहराती हैं—

'ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः'।

और यही सङ्कल्प करती हैं कि प्रसूति-कार्य से निवृत्त होकर वे सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर उनसे यही प्रार्थना करेंगी कि जन्मान्तर में भी राम ही पति-रूप से प्राप्त हों और तब उनके साथ भी सम्बन्ध-विच्छेद न हो।

'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः'।

पूर्वी देशों में अलङ्कार-प्रियता कुछ अधिक है; जिस प्रकार भारतीय नारियाँ अभूषणों को हमेशा पसन्द करती आई हैं वैसे ही कविगण भी कविता को अलङ्कारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसीलिए जितने भाषा के अलङ्कार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं, उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं।

समन्वय बुद्धि का परिचय हमको प्राचीन साहित्य में ही नहीं वरन नवीन साहित्य में भी प्रचुरता के साथ मिलता है। 'साकेत' के राम पृथ्वी को स्वर्ग बनाने आये थे; वे तोड़ने नहीं, जोड़ने आये थे प्रसाद जी की 'कामायनी' का समरसता और समन्वयवाद में ही अन्त होता है। श्रद्धा मनु को पर्वतराज कैलाश पर ले जाकर वहाँ ज्ञान, इच्छा

और क्रिया को पहले पृथक रूप से दिखाती है, फिर उसकी मुस्कराहट से वे तीनों चक्र मिलकर एक हो जाते हैं। उसी में प्रसादजी ने शिव के दर्शन किये हैं।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।
महा ज्योति रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिन में।
स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

समन्वयवाद और आनन्दवाद दोनों ही एक आध्यात्मिकता के प्रतिफलन हैं। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी होती है। वह सदा अनेकता में एकता और एकता में अनेकता चाहती है। यही समन्वयवाद है और यही आनन्दवाद का मूल है। 'भूमा वै सुखम्' पूर्णता में सुख है। काव्य की आत्मा रस भी हम को उसी भूमा या पूर्णता की ओर ही ले जाता है। जो आत्मा विस्तार चाहती है वह हिंसा को भी आश्रय नहीं दे सकती। अहिंसावाद को हमारे साहित्य में बड़े महत्त्व का स्थान प्राप्त है। इसी कारण रङ्गमञ्च पर हमारे यहाँ मृत्यु का दृश्य वर्जित किया गया है। नागपञ्चमी को सर्पों को भी दूध पिलाया जाता है। ये सब बातें अहिंसात्मक मनोवृत्ति की परिचायक हैं। महात्मा गाँधी ने अहिंसावाद को और भी पुष्टि दी। उसकी छाया हमारे नवीन काव्यों में जैसे 'साकेत-संत' और 'वैदेही-वनवास' में भरपूर दिखाई पड़ती है।

भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ पर ऋतुएँ समय-समय पर आती हैं और अपने अनुकूल फल-फूल का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्यश्यामला हो जाती है। यहाँ की नदियाँ इस देश की पावनता को और भी बढ़ाती हैं। वे सदा कवियों के उल्लास का विषय रही हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त अपनी स्वर्णमय आभा से आकाश को रंजित कर देते हैं। 'प्रथम प्रभात उदय तब गगने प्रथम साम-रव तब तपोवने।' यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गये थे। तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय महर्षि कण्व वृक्षों से भी उसके जाने की आज्ञा चाहते हैं।

पीछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूलपात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत हैं सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहीं उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

यद्यपि पीछे के कवियों का प्रकृति-वर्णन परम्परा-पालन मात्र रह गया था फिर भी हमारे यहाँ बिना प्रकृति-वर्णन के कविकर्म पूरा नहीं होता।

१७. वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति

हिंदी कविता का वर्तमान युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरंभ होता है। इस काव्य-गगन के नवेन्दु में विकास की आस भरी हुई थी। यद्यपि बाबू हरिश्चन्द्र ने ब्रजभाषा में ही कविता की थी तथापि उन्होंने उसमें सारयुक्त और शक्तिपूर्ण प्रयोग कर एक प्रकार की नवीनता उत्पन्न कर दी थी। उनके सत्प्रयत्न से ब्रजभाषा का संकुचित वातावरण

मुक्तोन्मुख हो गया था। उन्होंने अलंकारों और नायिका-भेद के संकुचित वृत्त से निकलने के लिए देश-भक्ति और समाज-सुधार के द्वार खोल दिये थे। अंगरेज़ी राज्य के विस्तार के साथ जीवन की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी और युक्तिवाद का ज़माना आया। दो सभ्यताओं के परस्पर संपर्क के कारण विचारों को भी उत्तेजना मिली। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय के विचारों ने देश में रूढ़िवाद के गढ़ ढाने का कार्य आरंभ कर दिया था। जो लोग प्रवाह में नहीं पड़ना चाहते थे, उन्होंने भी अपनी प्राचीन प्रथाओं की रक्षा के लिए युक्तिवाद का सहारा लिया। विचार-स्वातन्त्र्य और युक्तिवाद की भेरी बजने लगी।

इसका भाषा पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य में गद्य की वृद्धि होने लगी। ब्रजभाषा गद्य के लिए अनुपयुक्त थी। खड़ी बोली उठ खड़ी हुई। ब्रजभाषा शृंगार के बाहुल्य के कारण 'रतिश्रान्ता ब्रजवनिता' की भाँति सोती रही। खड़ी बोली साहित्य की भाषा हो गई। फिर लाघव और सुगमता का प्रश्न आया। गद्य और पद्य की एक सी भाषा होने की माँग हुई। इस माँग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी अग्रसर हुए।

खड़ी बोली के प्रथम आचार्य होने का श्रेय द्विवेदी जी और श्री श्रीधर पाठक को है। द्विवेदी जी ने कविता में भी व्याकरण के नियमों का पूर्णतया पालन किये जाने पर ज़ोर देकर कवियों को अंकुश के शासन में लाने का प्रयत्न किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कविता के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावों का समावेश करने का प्रोत्साहन देकर उसमें इतिवृत्तता का प्राधान्य कर दिया। भावुकता कुछ कम हो गई। शृंगार से ऊबे हुए युग में भावुकता की कमी होना आश्चर्यजनक न था। कई कारणों से खड़ी बोली की कविता के प्रारंभिक रूप में कुछ कर्कशता भी थी। स्वयं द्विवेदी जी पर कुछ मराठी का प्रभाव था और यह प्रभाव उनकी प्रारंभिक कविता में झलकता है। पीछे से वे स्वयं सँभल गये और

के हो जाते हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय में यह प्रवृत्ति पूरी तौर से दृष्टिगोचर होती है। उनका प्रिय-प्रवास कहीं-कहीं बिलकुल संस्कृत का ग्रन्थ हो गया है। देखिए—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्रायकलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडाकला-पुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्री राधा मृदु-भाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थी॥

इस शैली में इतना गुण अवश्य है कि ऐसी रचनाएँ महाराष्ट्र, बंगाल, गुजरात आदि संस्कृत प्रधान भाषा-भाषियों की समझ में सुगमता से आ सकती हैं। पर हिन्दी छन्दों में शब्दों को क्रीड़ा और नर्तन के लिए बहुत गुंजाइश रहती है। उन छन्दों में उनकी चपलता और सुन्दरता कायम रह सकती थी। आज-कल वीर छद का बहुत आदर है। खड़ी बोली की कविता रोला, सवैया, हरिगीतिका आदि सभी छंदों में हुई है। कुछ कविता ख्याल और लावनी के ढंग पर भी हुई है। श्रीधर पाठक, गोपालशरणसिंह, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय आदि कवियों ने मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों प्रकार के छन्दों में कविता की, और कहीं-कहीं अतुकान्त कविता कर कविता को स्वतंत्रता की ओर बढ़ाया। हिन्दी छंदों में कवित्त में अधिक स्वतंत्रता है, क्योंकि उसमें मात्राओं की गिनती नहीं होती अक्षरों की गिनती होती है। निराला जी और पंत जी ने अक्षरों की गणना का भी नियम न रख मुक्त छद की सृष्टि की। उसमें मुक्त सरिता की सी लय-ताल-मय गति रहती है, प्रवाह ही उसका नियम है। ऐसे ही छंपट को रबड़ छंद कहते हैं।

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमलतनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।

देश के क्रन्दन की प्रतिध्वनि है। आधुनिक कविता में प्रकृति भी दुःख से व्यथित दिखाई पड़ती है—

गगन के उर में भी है घाव,
देखती तारायें भी राह,
बँधा विद्युत छवि में जलवाह,
चन्द्र की चितवन में भी चाह,
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठंडी आह।

वर्तमान युग में भगवान् रामचन्द्र और कृष्णचन्द्र की भक्ति की पवित्र झाँकी भी दिखाई पड़ती है, किन्तु उसमें राष्ट्रीय भावों की झलक आ गई है। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने श्रीकृष्ण जी के प्रवास से दुखी गोपिकाओं का करुण क्रन्दन सुनाया है, किन्तु 'प्रिय-प्रवास' के कृष्ण विलासी नहीं हैं। वे दीनों के रक्षक और सहायक के रूप में बतलाये गये हैं। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी पारिवारिक जीवन के आदर्श और संगठन की मूर्ति हैं। बाबू मैथिलिशरण जी ने 'साकेत' में रामोपासना की धारा को आगे बढ़ाया है। हनुमान जी से लक्ष्मणजी को शक्ति लगने का हाल सुन भरत जी ने तुरंत सेना तैयार करा कर भ्रातृ स्नेह का परिचय दिया। सेना की तैयारी का वर्णन बड़ा उत्साहपूर्ण है। जिस प्रकार महारास के लिए गोपिकाएँ घर से निकल भागी थीं उसी प्रकार अयोध्यावासी रात ही में घर से निकल आये। गुरुवर वशिष्ठ जी ने दिव्य-दृष्टि से सब हाल दिखाकर सेना भेजना अनावश्यक कह दिया। यद्यपि इस युग में मुक्तक प्रगीत काव्य का प्राधान्य है तथापि कुछ उत्तमोत्तम महाकाव्य भी लिखे गये हैं। साकेत और प्रिय प्रवास का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कामायनी इस युग का गौरव-ग्रन्थ है। उसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय का संदेश है। साकेत-संत और वैदेही-वनवास गांधी जी की शांति-नीति से प्रभावित हैं। आज कल के महाकाव्यों में गम्भीर विचार विमर्श

दिखाई देती है । उनमें कटी-छटी सीमा नहीं दिखाई पड़ती, छन्द की स्वतन्त्रता रहती है। रहस्यवाद और छायावाद एक ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के फल हैं। वास्तव में छायावाद पर कई प्रवृत्तियों का प्रभाव लक्षित होता है। वैष्णवों के गेय गीत जिनका सूर और तुलसी के बाद अन्त-सा हो गया था, अगरेज़ी कवियों के भावात्मक पद्य (Lyrics) उर्दू कवियों का विरह-वर्णन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आध्यात्मिक कविताओं का आदर, यूरोप का भौतिक ऐश्वर्य से ऊबकर आध्यात्मिकता की ओर झुकना और द्विवेदी-युग की घोर क्रियात्मकता, इतिवृत्तता (Matter of factness) और शुष्कता की प्रतिक्रिया में प्रेम और कोमल भावों की जाग्रति—इन सब के प्रभाव से रहस्यवाद का उदय हुआ।

रहस्यवाद में गूंगे के गुड़ की भाँति आत्मा और ईश्वर के सम्बन्धों का संकेतात्मक वर्णन रहता है। इसमें वियोग का दुःख और मिलन का सुख दोनों ही दिखाये जाते हैं। इसीलिए इसमें आलोक और छाया दोनों रहती हैं और नीहार की सी अस्पष्टता आ जाती है। श्री जयशङ्करप्रसाद, श्री निरालाजी, और श्री पन्त जी इस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवि समझे जाते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपनी 'नीहार', 'रश्मि', 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' मे बड़ी सुन्दर आध्यात्मिक कविता की है।

वर्तमान कविता की आन्तरिकता ने आत्माभिव्यक्ति का रूप धारण कर लिया है। कविता में एक निजीपन आ गया है। यह बात वर्तमान कविता को रीतिकाल की कविता से पृथक् कर देती है। रीति-काल की कविता खाना-पूरी मात्र है। आजकल की कविता में व्यक्तित्व का प्राधान्य है, इसी कारण उसका झुकाव प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की ओर अधिक है।

इसी आन्तरिकता के फलस्वरूप आज-कल अमूर्त भावों का भी सुन्दर चित्रण होने लगा है। कामायनी में चिन्ता को 'अभाव

१८. वर्तमान हिंदी कविता में अलंकारों का स्थान

यद्यपि कुछ आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है, तथापि बहुमत से काव्य की आत्मा 'रस' अर्थात् आस्वादजन्य आनन्द माना गया है। अलंकारों को 'उत्कर्षहेतवः' अर्थात् सुन्दराई को बढ़ाने वाला कहा है। किन्तु काव्य के अलंकार सोने-चाँदी के अलंकारों की भाँति बिलकुल ऊपरी नहीं हैं जो पीछे से जोड़े जा सकें। उनका रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु रस बिना अलंकारों के सम्भव है पर अलंकार बिना रस के निर्मूल्य हो जाते हैं। ये सुन्दराई

को बढ़ा सकते हैं, किन्तु जहाँ अच्छाई न हो वहाँ वे उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। अच्छाई को भी तभी तक बढ़ा सकते हैं जब तक कि वे उचित सीमा का उल्लंघन न करें। सीमोल्लंघन करते ही वे भार-स्वरूप हो जाते हैं। कविता में पहले जान चाहिए तब अलंकार उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं। बिना जान की कविता में अलंकार शव का शृंगार-स्वरूप बन जाते हैं। जहाँ स्वाभाविक सौन्दर्य है वहाँ अलंकार स्वयं आ जाते हैं, क्योंकि जिस हृदय के उल्लास से रस की सृष्टि होती है वही उल्लास अपने साथ अलंकारों को भी उत्पन्न करता है, किन्तु जहाँ उल्लास का अभाव हो और अलंकार केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए लाये जायँ वहाँ वे अस्वाभाविक हो जाते हैं।

यद्यपि अलंकार-प्रियता मनुष्य में स्वाभाविक है; तथापि जब वे साधन से साध्य बन जाते हैं तब वे काव्य की गति में बाधक होते हैं। जिस प्रकार अब समाज में रमणियों की शोभा उनकी स्वच्छता और सरलता में समझी जाती है—'सरलपन ही उस का मन'—और थोड़े पर हलके और सुन्दर आभूषण काम में लाये जाते हैं, उसी प्रकार कविता की भी शोभा उसकी स्वाभाविकता में समझी जाती है, और अलंकार भी थोड़े परन्तु हृदयग्राही ही उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। कविता में अलंकार का नितान्त बहिष्कार तो नहीं हो सकता, क्योंकि अलंकार हमारी क्या सभी भाषाओं के अंग हो गये हैं। हम 'कविता-कामिनी,' 'गृहलक्ष्मी,' 'नरशार्दूल,' 'दम भरना,' 'हाथ मारना,' 'खींचतान' आदि अनेकों आलंकारिक शब्दों का पद-पद पर प्रयोग करते हैं; स्वयं 'पद-पद' भी एक अलंकार है।

अलंकार शब्द वा अर्थ के चामत्कारिक प्रयोग माने गये हैं। अर्थ को व्यक्त करना भाषा का सबसे बड़ा चमत्कार है। इसलिए जो अलंकार अर्थ को व्यक्त करने में सहायक होते हैं, जो हमारी कल्पना के सामने मूर्तिमान चित्र अंकित करने की क्षमता रखते हैं, जो अलंकार किसी अज्ञात भाव को ज्ञान और परिचय के क्षेत्र में लाने

'युग उड़ जावे उड़ते उड़ते'।

× × × ×

'इन्दु पर उस इन्दुमुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को,
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था!'

अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों का विशेष मान है क्योंकि वे भावों के चित्र खींचने में सहायक होते हैं। इसीलिए उपमाओं और मालोपमाओं की भरमार है। यह भरमार बुरी मालूम नहीं होती क्योंकि आजकल उपमाओं में नवीनता रहती है। उपमाएँ भी अब बाहरी नहीं वरन् भीतरी होती जाती हैं; प्राकृतिक चीजों के उपमान मानवीय भाव बनाये जाते हैं। छाया के लिए पन्त जी कहते हैं—

पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो,
विरह-मलिन दुख-विधुरा सी।

ज़रा निराला जी का विधवा का वर्णन देखिए, कैसी पवित्रता की मूर्ति खड़ी कर दी है!

वह इष्ट-देव के मंदिर की पूजा सी;
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लात-सी दीन।

यद्यपि प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी ने भी वर्षा-वर्णन में आध्यात्मिक उपमाएँ दी हैं; तथपि आजकल इनका प्रचार अधिक है। आजकल मूर्त वस्तुओं के लिए अमूर्त उपमान खोजे जाते हैं, किरण के लिए प्रसाद जी कहते हैं 'प्रार्थना सी झुकी' ऐसे उपमानों में सादृश्य और साधर्म्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य अधिक रहता है। 'अलकें बिखरी ज्यों तर्कजाल',

पाया जाता वर वदन सा ओप आदित्य में है। —प्रियप्रवास

× × × ×

उसी तपस्वी से लंबे थे देवदारु दो चार खड़े। —कामायनी

संदेह के भी उदाहरण बहुत मिलते हैं किन्तु उनमें भी नवीन कविता की अन्तर्मुखी वृत्ति का परिचय मिलता है। मानसिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में सन्देह आता है—

'विरह है या अखंड संयोग
शाप है या वरदान ?'

सम अलंकार में परस्परानुकूलता बताई जाती है, इसी कारण वह चित्त को अधिक प्रसन्नता देता है। इसके 'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज-हारी' आदि प्राचीन उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इस अलंकार का नया रूप भी देखिए—'तुम तुंग हिमालय शृङ्ग
और मैं चञ्चल गति सुर सरिता
तुम दिनकर के खर किरण जाल
मैं सरसिज की मुसकान...।'

इसमें तुम (ईश्वर) और मैं (जीव) का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया गया है। अन्योन्य में भी ऐसी ही परस्परानुकूलता रहती है।

उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी। —महादेवी

इसमें विनोक्ति भी है।

प्रहर्षण अलंकार में तो चित्त को प्रसन्नता होती ही है, विषादन भी हमारे भावों को तीव्रता देने के कारण आदरणीय समझा जाता है। देखिए मैथिलीशरणजी पंचवटी में लक्ष्मणजी से क्या कहलाते हैं—

रखते हैं हम सयत्न पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द।

पाया जाता वर वदन सा ओप आदित्य में है। —प्रियप्रवास

× × × ×

उसी तपस्वी से लंबे थे देवदारु दो चार खड़े। —कामायनी

संदेह के भी उदाहरण बहुत मिलते हैं किन्तु उनमें भी नवीन कविता की अन्तर्मुखी वृत्ति का परिचय मिलता है। मानसिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में सन्देह आता है—

'विरह है या अखंड संयोग
शाप है या वरदान ?'

सम अलंकार में परस्परानुकूलता बताई जाती है, इसी कारण वह चित्त को अधिक प्रसन्नता देता है। इसके 'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज-हारी' आदि प्राचीन उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इस अलंकार का नया रूप भी देखिए—'तुम तुंग हिमालय शृङ्ग

और मैं चञ्चल गति सुर सरिता
तुम दिनकर के खर किरण जाल
मैं सरसिज की मुसकान···।'

इसमें तुम (ईश्वर) और मैं (जीव) का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया गया है। अन्योन्य में भी ऐसी ही परस्परानुकूलता रहती है।

उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी। —महादेवी

इसमें विनोक्ति भी है।

प्रहर्षण अलंकार में तो चित्त को प्रसन्नता होती ही है, विषादन भी हमारे भावों को तीव्रता देने के कारण आदरणीय समझा जाता है। देखिए मैथिलीशरणजी पंचवटी में लक्ष्मणजी से क्या कहलाते हैं—

रखते हैं हम सयत्न पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द।

पाया जाता वर वदन सा ओप आदित्य में है। —प्रियप्रवास

× × × ×

उसी तपस्वी से लंबे थे देवदारु दो चार खड़े। —कामायनी

संदेह के भी उदाहरण बहुत मिलते हैं किन्तु उनमें भी नवीन कविता की अन्तर्मुखी वृत्ति का परिचय मिलता है। मानसिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में सन्देह आता है—

'विरह है या अखंड संयोग
शाप है या वरदान ?'

सम अलंकार में परस्परानुकूलता बताई जाती है, इसी कारण वह चित्त को अधिक प्रसन्नता देता है। इसके 'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज-हारी' आदि प्राचीन उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इस अलंकार का नया रूप भी देखिए—'तुम तुंग हिमालय शृङ्ग

और मैं चञ्चल गति सुर सरिता
तुम दिनकर के खर किरण जाल
मैं सरसिज की मुसकान···।'

इसमें तुम (ईश्वर) और मैं (जीव) का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया गया है। अन्योन्य में भी ऐसी ही परस्परानुकूलता रहती है।

उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी। —महादेवी

इसमें विनोक्ति भी है।

प्रहर्षण अलंकार में तो चित्त को प्रसन्नता होती ही है, विषादन भी हमारे भावों को तीव्रता देने के कारण आदरणीय समझा जाता है। देखिए मैथिलीशरणजी पंचवटी में लक्ष्मणजी से क्या कहलाते हैं—

रखते हैं हम सयत्न पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द।

स्वर्गीय पं० ईश्वरप्रसाद के 'चना चबेना' में भी इसी प्रकार के उत्तम परिहासमय अनुकरण मिलते हैं।

घन घमंड नभ गरजत घोरा। टका-हीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमक रही घन माहीं। जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥

स्व० पं० बदरीनाथ भट्ट की 'चुंगी की उम्मेदवारी' में वोट-भिक्षा की खूब हँसी उड़ाई गई है और उनके 'विवाह-विज्ञापन' प्रहसन में आज-कल के विवाह के पीछे दीवानों को अच्छी तरह छकाया गया है; उनकी चेष्टाओं का सजीव चित्र खींचा गया है।

पं० रामनारायण शर्मा के 'व्यंग-बवंडर' में कलयुगी सन्तों, स्वयंभू लेखकों और समालोचकों का अच्छा मज़ाक उड़ाया गया है। साधुओं का क्या ही अच्छा शब्द-चित्र है! देखिए—

मक्कर कर दुनिया ठगें, शक्कर-पूरी खायँ।
लक्कर जरहिं अगिन में, फक्कर संत कहायँ॥

इन पंक्तियों के लेखक ने अपने 'ठलुआ क्लब' में डाक्टर स्तोत्र-द्वारा डाक्टरों की फ़ीस और उनके शल्य-प्रहार की महिमा गाई है। देखिए—

"मुर्दे चीरते-चीरते आप का हृदय इतना कठोर बन जाता है कि मृत्यु आप के लिए साधारण-सी बात हो जाती है। शव-शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता। आप योगी की भाँति स्थिर और अचल रहकर फ़ीस की बातचीत करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते······आप की रिश्वतें 'फ़ीस' के गौरवशाली नाम से प्रख्यात हैं।"

उपर्युक्त वाक्यों द्वारा डाक्टरों की हृदयहीनता पर व्यंग्य किया गया है। मुर्दे चीरते-चीरते उनका हृदय मुर्दा हो जाता है। उनकी वीत-राग योगियों से तुलना कर विपरीतता द्वारा इन वाक्यों में हास्य की सृष्टि की गई है।

इन पंक्तियों के लेखक ने 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक पुस्तक में

स्वयं अपना ही उपहास किया है। श्री गोपाल प्रसाद जी व्यास ने अपनी पत्नी को ही अपनी कविता का विषय बनाकर हास्य की सृष्टि की है। इस हास्य में पाकिस्तान, कण्ट्रोल आदि राजनीतिक विषयों पर सुन्दर व्यंग्य है।

शृंगार के सहायक रूप दाम्पत्य हास-परिहास का उदाहरण हमको साकेत के आदि सर्ग में मिलता है। उसमें हास्य व्यंग्य और वाक्-चातुर्य सभी के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

आज-कल हिन्दी में हास्य-रस के बहुत से ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। 'ठोक-पीटकर वैद्यराज', 'रायबहादुर' 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि बहुत अच्छे प्रहसन लिखे गए हैं। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के बंगला से अनुवादित 'मूर्ख-मंडली' और 'सूम के घर धूम', बंकिमचन्द्र का 'चौबे का चिट्ठा' तथा श्रीपरशुराम जी के 'भेड़िया धसान' और 'लम्बकर्ण' भी पठनीय हैं। आजकल कहानी साहित्य में हास्य रस का अच्छा समावेश होता जाता है। मुंशी प्रेमचन्द की 'मोटेराम' शीर्षक कहानी में भोजन भट्ट ब्राह्मणों पर अच्छा व्यंग्य है। निराला जी की 'सुकुल की बीबी' आदि अच्छी हास्य-प्रधान कहानियाँ हैं। हास्य में सुरुचि की बड़ी आवश्यकता है। केवल धौलधप्पा और पात्रों के उलटे-सीधे नाम रख देना ही हास्य नहीं है। हास्य साहित्यिक होना चाहिए। हर्ष है कि अब हिन्दी में हास्य क्रमशः परिमार्जित और निरापद होता जा रहा है। यदि यही गति वर्तमान रही तो शीघ्र ही हमारी हिन्दी हास्य-रस में किसी भाषा से पीछे न रहेगी।

---

२०. वैष्णव सम्प्रदाय का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

यह बात सर्वमान्य है कि समाज और साहित्य एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। उनकी उन्नति भी पारस्परिक आदान-प्रदान पर बहुत-कुछ अवलम्बित है। किसी समय की सामाजिक प्रगति तत्कालीन भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्थाओं पर

निर्भर रहती है। भारतवर्ष में जनता की रुचि साहित्य निर्माण में बहुत बड़ा भाग रखती है। इस प्रकार भारतवर्ष में धर्म और साहित्य का चोली-दामन का साथ रहा है।

यह जानने के लिए कि वैष्णव धर्म ने किस प्रकार हिन्दी-साहित्य पर अपनी छाप डाली, हमको भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास पर क्षणिक दृष्टिपात करना होगा। ईसा-मसीह से छः-सात सौ वर्ष पूर्व हिन्दू धर्म में ज्ञान और उपासना की धाराओं के अतिरिक्त जो कर्मकांड की धारा बहती थी वह पशु-वध के रुधिर से कलुषित हो रही थी। दर्शन-शास्त्रों ने इस हिंसावाद के विरुद्ध जो आवाज़ उठाई थी उसके अतिरिक्त धर्म की जटिलता की प्रतिक्रिया-रूप में एक विचार-स्वातन्त्र्य की धारा बहने लगी थी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उदय इसी विचार-स्वातन्त्र्य के कारण हुआ। बौद्ध-धर्म का कई सौ वर्ष तक बोलबाला रहा। वह राजधर्म भी बन गया था। बौद्ध-धर्म ने हिन्दू धर्म को दबा अवश्य लिया था, परन्तु वह उसका उन्मूलन नहीं कर सका था। साथ ही साथ भगवान् वासुदेव की उपासना और शिव-पूजा भी चल रही थी। बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म की उदारता एवं अन्य स्वाभाविक नियमों के कारण हिन्दू-धर्म में मिलने-जुलने लगा और तान्त्रिक संप्रदायों से मिलकर उसने एक नया रूप धारण कर लिया जो महायान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस क्रिया में बौद्ध धर्म का प्रारंभिक उत्साह नष्ट हो गया था और उसमें वह चरित्तबल भी न रहा था। कर्मकांड का भी पुनरुज्जीवन हो चला था। ऐसे ही समय में गौड़पादाचार्य के शिष्य श्री शंकराचार्य ने ईसा की आठवीं शताब्दी में ब्रह्मवाद और मायावाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर बौद्ध-धर्म एवं कर्मकांड का प्रभाव हटाया।

शंकराचार्य की बुद्धि की प्रखरता के कारण खंडनात्मक कार्य तो बहुत सफल हुआ किन्तु शुष्क निगुर्णवाद लोगों के हृदय में स्थान न पा सका। इस निगुर्णवाद में हृदय के भावों के लिए कम स्थान था।

मनुष्य स्वभाव से उपासना-प्रिय है। बौद्ध-धर्म भी आचार धर्म न रह कर उपासना-धर्म बन गया। ऐसी अवस्था में जनता को ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो संसार की वास्तविकता, आचार की दृढ़ता और भक्ति का प्राधान्य स्थापित कर उसके हृदय को भी संतोष दे। ऐसी ही परिस्थिति में दक्षिण भारत में श्री रामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७४) का उदय हुआ। उन्होंने अद्वैतवाद के स्थान में विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। इसके द्वारा उन्होंने संसार की सत्यता बतलाई। परमात्मा को नारायण रूप में मानकर उपासना और भक्ति को स्थान दिया। उनकी शिष्य परम्परा में चौदहवी शताब्दी में स्वामी रामानन्द जी हुए, जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर देकर एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया। इन्होंने धर्म को संकुचित न रख शूद्रों को भी दीक्षा दी। गोस्वामी तुलसीदास भी इन्हीं के संप्रदाय के बाबा नरहरि दास के शिष्य थे। कबीर ने स्वयं इनसे दीक्षा ली थी।

रामानन्द के द्वारा साहित्य में दो शाखाओं का उदय हुआ। एक रामोपासना की, जिसका सूत्रपात तुलसीदास जी से हुआ और दूसरी सन्तवाणियों की, जिसका सूत्रपात कबीर से हुआ। कबीर भी रामोपासक थे, किन्तु अधिकतर नाम के ही उपासक थे और ज्ञान-कांड की ओर अधिक झुके हुए थे।

जिस प्रकार रामानुजाचार्य के संप्रदाय से रामोपासना को उत्तेजना मिली उसी प्रकार निंबार्काचार्य, वल्लभाचार्य (जन्म सं० १२५४) मध्वाचार्य (जन्म सं० १२५५) और चैतन्य महाप्रभु (जन्म सं० १५४३) के सिद्धान्तों से कृष्णोपासना को उत्तेजना मिली। निंबार्काचार्य तैलंग थे, वल्लभाचार्य भी दाक्षिणात्य थे (जब इनके माता-पिता तीर्थयात्रा कर रहे थे, तब इनका जन्म बनारस में हुआ था) और मध्वाचार्य भी दाक्षिणात्य थे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन्हीं के सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। इस प्रकार भक्ति की सरिता दक्षिण ने

उत्तर को वही, उन्होंने उत्तर के ऋण को पूरी तौर से चुकाया। यद्यपि चैतन्य महाप्रभु बंगाल-निवासी थे, तथापि कृष्णोपासक होने के कारण कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा-वृन्दावन को ही इन्होंने अपना केन्द्र बनाया था।

उपर्युक्त संप्रदायों के अनुयायी राम और कृष्ण रूप विष्णु के अवतारों को मानने के कारण वैष्णव कहलाते हैं। मध्वाचार्य के द्वैतवाद सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों से कृष्णोपासना रूप में भक्तिवाद को पर्याप्त सहायता मिली। चैतन्य संप्रदाय ने तथा अन्य वैष्णव संप्रदायों ने भगवन्नाम-कीर्तन को प्रधानता देकर संगीत को महत्ता दी। चैतन्य महाप्रभु ने जयदेव के गीतगोविंद और विद्यापति के पदों को अपनाकर गीतकाव्य का प्रचार बढ़ाया। ये लोग कृष्ण भगवान् के ऐश्वर्य के उपासक नहीं थे, वरन् माधुर्य के उपासक थे, इसलिए कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में भगवान् की बाललीला और शृंगारलीला का प्राधान्य हो गया। बंगाल में विद्यापति और चंडीदास ने श्रीकृष्ण और राधिका के प्रेम का वर्णन कर उनको नायक-नायिका का रूप दे दिया था। इन सब बातों का प्रभाव ब्रज-मंडल के काव्य पर पड़ा। ब्रज की भाषा स्वभावतः मधुर और ललकती होने के कारण शृंगार और वात्सल्यभाव का उत्तम माध्यम बन गई। शान्त भाव के अतिरिक्त दांपत्य भाव, वात्सल्यभाव, दास्य और सख्यभाव (जिसमें सखी भाव भी शामिल था) वैष्णव उपासना के प्रकार बन गये। लोग अपनी अपनी रुचि के अनुकूल इन्हीं भावों में से किसी एक भाव को अपनाने लगे। वैष्णव धर्म में मनुष्य विष्णुरूप परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जो सम्बन्ध मनुष्यों में प्रचलित हैं उन्हीं सम्बन्धों में वैष्णव-भक्त परमात्मा को देखने लगे।

क्रमशः भक्तिवाद की वृद्धि हुई और भक्ति के भी नौ प्रकार हो गए जो नवधा भक्ति के नाम से विख्यात हैं। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजनीतिक अवस्था भी साहित्यिक-वृद्धि के अनुकूल थी। मुग़ल-

साम्राज्य की जड़ जम गई थी। देश में बहुत हलचल नहीं थी और अकबर हिंदू और हिन्दी को अपनाना भी चाहता था।

वैष्णव धर्म के प्रेम और भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए ब्रजभूमि और ब्रज-भाषा उर्वरा भूमि मिली। यद्यपि ब्रज में कृष्णोपासना के लोकगीत पहले से वर्त्तमान थे तथापि बंगाल के प्रभाव से तथा कीर्तन में संगीत के प्राधान्य से गाने के योग्य पद बनाये जाने में विशेष उत्तेजना मिली। प्रेम के वर्णन में नायक-नायिकाओं का भी भेद चल पड़ा और उसकी छाप हिन्दी-काव्य पर बहुत दिनों तक रही। पहले तो यह वर्णन केवल आध्यात्मिक भाव से ही होता था। इसमें माधुर्य-भाव ने और भी उत्तेजना दी। ऐश्वर्य की उपासना मनुष्य की आत्मा को एक प्रकार से नीचा करती है, वह दबाव की उपासना है। माधुर्य की उपासना प्रेम की उपासना होने के कारण स्वतंत्र समझी गई है। लोग इस मूल-भाव को तो भूल गये और शृंगारोपासना यहाँ तक बढ़ गई कि सिवाय राधा और कृष्ण के दैवी नाम के, उसमें आध्यात्मिकता बिलकुल न रही। राधा और कृष्ण का नाम भौतिक वासना को एक दैवी रूप देने का बहाना बन गया। यह शृंगार भाव ऐसा दृढ़ हो गया कि इसने थोड़ा बहुत रामोपासना पर भी प्रभाव डाल दिया। रामचन्द्र जी का भी कालिन्दीकूल के स्थान में सरयू-तट का विहार कवियों की कल्पना का विषय बन गया। यही प्रेमभाव बढ़ते-बढ़ते आलंकारिक साहित्य का भी जन्मदाता हो गया। शुद्ध स्वाभाविक प्रेम का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए नाना प्रकार के कृत्रिम अलंकारों का प्रयोग होने लगा और नायक-नायिकाओं का विस्तार बढ़ने लगा। समस्त शृंगारी काव्य में, यहाँ तक कि सन्तों के और वर्तमान रहस्यवाद में भी वैष्णव धर्म की छाप दिखाई पड़ती है। आधुनिक युग के रहस्यवादियों में अग्रगण्य कवीन्द्र रवीन्द्र पर वैष्णव कवियों का बहुत प्रभाव है। निर्गुण धारा के प्रवर्तक वैष्णव धर्म से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने शाक्तों के

गाँव की अपेक्षा [illegible] की झोंपड़ी को महत्ता दी है।

अब यहाँ पर रामोपासक और कृष्णोपासक कवियों का थोड़ा-सा वर्णन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

रामोपासक कवियों में गोस्वामी तुलसीदास मुख्य हैं। रामचन्द्र जी की जन्मभूमि अवध में होने कारण तुलसीदास जी ने अवधी भाषा को अपनाया था। तुलसीदास जी ने सूरदास जी के ही अनुकरण और प्रभाव से व्रज-भाषा के पदों की भी रचना की थी। दूसरा नाम जो राम-काव्य के सम्बन्ध में आता है, वह केशवदास जी का है। इन्होंने आचार्यत्व और पांडित्य का प्रदर्शन अधिक किया है, इसी कारण इनकी रामचन्द्रिका जनता में प्रचार न पा सकी। प्रियादास ने भी रामोपासना सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। राजा रघुराजसिंह, रसिक बिहारी आदि और कई कवियों ने भी रामचरित लिखा। रामोपासक कवियों की परंपरा में पंजाबी कवि हृदयराम जी का नाम अच्छा स्थान पाता है। उन्होंने रामचरित नाटक-रूप में लिखा था। वर्तमान काल में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' लिखकर रामोपासना की परंपरा को जीवन प्रदान किया है।

कृष्णोपासक कवियों में महात्मा सूरदास, मीरा और रसखान का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

कृष्णोपासक संप्रदायों में पाँच मुख्य हैं। (१) वल्लभ संप्रदाय (२) राधावल्लभीय संप्रदाय (३) गौड़िया संप्रदाय (४) टट्टी संप्रदाय (५) निंबार्क संप्रदाय। हरेक संप्रदाय के अलग अलग कवि हुए हैं।

(१) वल्लभ संप्रदाय—सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास, ये चार कवि स्वयं वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चतुर्भुजदास, नन्ददास, गोविंदस्वामी और छीतस्वामी उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने इन कवियों का वर्णन व्रजभाषा गद्य में लिखा है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना है, इसी कारण सूरदास ने बाल-चरित्र का

वर्णन बहुत ही विशद रूप से किया है। ऐसा उत्तम वर्णन शायद ही किसी साहित्य में हो। रसखान भी इसी संप्रदाय के हुए हैं।

(२) राधावल्लभीय संप्रदाय—इसके प्रवर्तक श्री हितहरिवंश जी थे। इसका जन्म वाद ग्राम में संवत् १५३० में हुआ था। कहा जाता है कि स्वयं राधिका जी ने इनको मन्त्र-दीक्षा दी थी। इनके मतानुसार राधिका जी को स्वयं भगवान से भी अधिक प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि भगवान भी उनके वश में हैं। हितहरिवंश जी के ८४ पद भाषा के प्रवाह और माधुर्य में बहुत ही श्रेष्ठ हैं। ध्रुवदास जी और वृन्दावन चाचा जी भी इन्हीं के संप्रदाय के हैं।

(३) गौड़िया संप्रदाय—इस सम्प्रदाय के कवियों पर बङ्गाली वैष्णवों का अधिक प्रभाव है। गदाधर भट्ट, ललित किशोरी और ललित माधुरी (जिन महानुभावों का मन्दिर साह जी साहिब के नाम से प्रख्यात है) इस संप्रदाय के मुख्य कवि हुए हैं। श्री हरिराम व्यास जी का भी कुछ दिनों गौड़ संप्रदाय से संबंध रहा था।

(४) टट्टी संप्रदाय—इसको सखी संप्रदाय भी कहते हैं। इसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास संगीत में बड़े निपुण थे। कहा जाता है कि ये तानसेन के गुरु थे। इन्होंने भी अच्छे पद बनाए हैं। श्री सहचरी शरण जी और श्री भगवत रसिक जी भी इसी संप्रदाय के कवि हुए हैं।

(५) निंबार्क संप्रदाय—श्री घनानन्द जी इस संप्रदाय के मुख्य कवि हुए हैं।

वर्तमान समय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, रत्नाकरजी, उपाध्याय जी, सत्यनारायण जी और वियोगी हरि जी ने कृष्ण काव्य की परंपरा को जीवित रक्खा है। संक्षेप में वैष्णव-धर्म का प्रभाव हिन्दी साहित्य, विशेषकर ब्रज-भाषा और अवधी पर पूरे तौर से है। वैष्णवधर्म ने ही हिंदी साहित्य-गगन के सूर्य सूर, सुधाधर तुलसीदास और उडुगण केशवदास को जन्म दिया है। इसकी रचनाएँ वैष्णव-धर्म की अमूल्य

संपत्ति हैं। रीति काल के कवि भी वैष्णव धर्म से प्रभावित थे। हिन्दी साहित्य में सूरदास से लेकर ३०० साल तक इन्हीं वैष्णव कवियों का दौर-दौरा रहा। भक्ति के इसी अनूठे प्रवाह में तत्कालीन मुसलमान कवि भी बह गये। रहीम, रसखान, आलम, ताज आदि मुसलमान कवियों ने भी राम और कृष्ण की उपासना में सुन्दरतम कविताएँ लिखी हैं। हिन्दी साहित्य वैष्णव-धर्म का चिर आभारी रहेगा कि उसने जनता की रुचि की पूर्ति करते हुए सूर और तुलसी जैसे दिव्य रत्न दिये।

---

२१. मुसलमानों की हिंदी-सेवा

'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए'

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमण सातवीं सदी से शुरू हो गए थे किन्तु उन प्रारंभिक आक्रमणों में राज्य-लिप्सा की अपेक्षा धन-लिप्सा अधिक थी। जब मुसलमान लोग धीरे-धीरे यहाँ बसने लगे और उन्होंने मूल देश से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया तब से वे यहाँ की जनता के अधिक संपर्क में आने लगे। उनके लिए यहाँ की भाषा और रहन-सहन सीखना आवश्यक हो गया। राजकाज चलाने के लिए प्रजा का सहयोग भी आवश्यक था। कुछ विद्वानों का कथन है कि मुसलमानी शासन के आरम्भ में बहुत-सा राजकार्य हिन्दुओं के ही हाथ में था और वे लोग अपना सब कार्य हिन्दी में ही करते थे। इसके अतिरिक्त कोई सफल राज्य देशी भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण हिन्दी का सम्बन्ध राजदरबारों से हो गया। उधर मुसलमान शासक लोग अपनी प्रशंसा सुनने का लोभ संवरण न कर सके। इस कारण हिन्दी के कविगण भी मुसलमानी शासकों के यहाँ आश्रय पाने लगे।

अकबर को हिंदुओं से और उसी के साथ हिन्दी से भी पर्याप्त

प्रेम था। उसने अपने नाती खुसरो को हिन्दी पढ़ाई थी। हिन्दी की कुछ कविताओं में अकबर शाह की छाप मिलती है, कहा नहीं जा सकता कि वे कविताएँ उन्हीं की लिखी हुई हैं या और किसी की। औरंगजेब के लड़के आज़मशाह का दरबार हिन्दी-प्रेमियों का आश्रय-स्थान रहा है।

हिन्दुओं के संपर्क में आने से साधारण मुसलमान लोगों को भी हिन्दी से प्रेम हो गया था। राजनीतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ हृदय की भी आवश्यकताएँ रहती हैं। इस्लाम धर्म अधिक शुष्क है। सूफ़ी सम्प्रदाय ने उसको सरल बनाया। हिन्दी प्रेम के भावों को व्यंजित करने के लिए बड़ी उपयुक्त भाषा है। इसके अतिरिक्त हिंदू-धर्म में प्रेमी हृदयों के लिए श्रीकृष्णचन्द्र का माधुर्यमय व्यक्तित्व एक बड़ा आकर्षण है। इस प्रकार कुछ मुसलमान राजनीतिक कारणों से और कुछ हृदय की प्रेरणा से हिन्दी की ओर झुके और उन्होंने अपनी वाणी से हिंदी-साहित्य को अलंकृत किया। मुसलमानी राज्य के प्रारंभिक काल में उर्दू की प्रतिद्वंद्विता भी न थी। इसलिए वही जनसाधारण की भाषा के नाते अपनाई गई। प्रायः साहित्यिक लोग राजनीतिक बंधनों से मुक्त होते हैं, उनमें जाति-भेद वा विजेता और विजित का भाव कम होता है। साहित्यिक साम्राज्य समता-मूलक है। उसमें हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं था। वे साहित्यिक मुसलमान द्वेषभाव से परे थे। इन मुसलमानों के द्वारा हिन्दी की जो सेवा हुई है वह थोड़ी नहीं है। इनकी रचनाएं हिन्दी साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं। इनका थोड़ा सा उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा।

यद्यपि हिन्दी का जन्म बहुत काल पूर्व हो गया था तथापि हिन्दी को खड़ी बोली के वर्तमान रूप में हम अमीर खुसरो की वाणी में ही देखते हैं। अमीर खुसरो का जन्म संवत् १२६२ में हुआ था। वे फ़ारसी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में अच्छे कवि थे। उनकी कविता से ही हम को पता चलता है कि खड़ी बोली कितनी पुरानी है। उनकी

स्थान नहीं रहता और न अत्यधिक आकस्मिकता का। कोई आदमी सोते से उठकर राजा नहीं बन जाता। आजकल का कहानीकार एक राजा और एक रानी से सन्तुष्ट नहीं होना चाहता। वह उनका नाम-ग्राम ही नहीं देता वरन् उसका स्वभाव बतलाकर उसके व्यक्तित्व को प्रकाश में लाना चाहता है। आजकल के कथा साहित्य में व्यक्तित्व का महत्त्व है। इन सबके अतिरिक्त वह केवल कौतूहल की तृप्ति न करके मानव-जीवन के भीतरी स्तरों की भी झाँकी दिखाता है और आंतरिक भावों की बाह्यकृतियों से अन्विति भी करता है। आजकल का कहानीकार औत्सुक्य के साथ भावुकता और बुद्धि दोनों की तृप्ति कर काव्य के अधिक निकट आ जाता है।

काव्य मानव-जीवन की आलोचना है। इस परिभाषा की पूर्ति हमारा कथा-साहित्य पूर्णतया करता है। कथा-साहित्य में उपन्यास और आख्यायिका दोनों ही आते हैं। इन दोनों में भेद है। उपन्यास में जीवन की अनेकरूपता मिलती है। उसमें हमको जीवन की सरिता नाना शाखा प्रशाखाओं में बहकर एक परिणाम की ओर जाती हुई दिखाई पड़ती है, किंतु कहानी में हमको जीवन की एक झलक ही दिखाई पड़ती है। वह झलक ऐसी होती है कि वह जीवन का अंग होकर भी उससे स्वतंत्र एवं स्वतःपूर्ण रहती है। वह जीवन के प्रवाह में मिली हुई होकर भी छिपकली की पूँछ की भाँति प्रवाह से अलग की जा सकती है। उपन्यास में भी एकलक्ष्यता रहती है किंतु कहानी की एकलक्ष्यता बिलकुल सीधी और स्पष्ट होती है। सफल लक्ष्य वेध करने वाले अर्जुन की भाँति कहानीकार भी अपनी दृष्टि को केन्द्र से बाहर नहीं जाने देता; वह चिड़िया को नहीं, चिड़िया के सिर को ही देखता है।

कहानीकार सीधी राह से ही पाठक को लक्ष्य के पास ले जाता है किंतु वह लक्ष्य ऐसा नहीं होता जो एक साथ दिखाई पड़ जाय। इसलिए सड़क में एक या दो मोड़ आजायँ तो अच्छा है किंतु उसमें

शाखाएँ न फूटनी चाहिएँ। कहानी के शीर्षक में उसकी झलक तो मिल जाती है लेकिन वह प्रायः अन्त में ही एक काव्यात्मक ढंग से पूर्णतया व्यक्त होती है। यह अंतिम बात ही कहानी का तथ्य कहलाती है। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना और भावों का सन्तुलन रहना चाहिए और साथ ही साथ उसमें कथोपकथन की सजीवता होना वांछनीय है। कहानियाँ सब सच्ची तो नहीं हो सकतीं, किंतु उनका स्वाभाविक होना आवश्यक है। उनका स्वाभाविक होकर भी चमत्कारपूर्ण होना सोने में सुगंध की बात उत्पन्न कर देता है। जो कहानीकार स्वाभाविकता और चमत्कार-प्रदर्शन को ठीक अनुपात में रख सकता है, वही सफल होता है।

प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य में कहानियों का बाहुल्य रहा है और जातक कथाओं,कथासरित्सागर,हितोपदेश,पंचतंत्र,सिंहासन-बत्तीसी आदि की कहानियों का कई भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। इनमें घटना-प्रधान और भाव-प्रधान दोनों ही प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं।

आजकल हिन्दी में जो छोटी कहानियाँ लिखी जाती हैं वे प्रायः बँगला द्वारा अँगरेज़ी साहित्य की देन हैं। मासिक पत्रिकाओं के कारण ऐसी कहानियों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो एक बैठक में ह समाप्त हो सकें। कहानी ही साहित्य का एक ऐसा अंग है जो साधारण पाठक के लिए रुचिकर हो सकता है। आजकल जिस पत्रिका में कहानी नहीं होती साधारण पाठक उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। प्रयाग से निकलने वाली 'सरस्वती' द्वारा ऐसी कहानियों का प्रचार बढ़ा।

यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि हिन्दी की पहली कहानी कब और किसने लिखी तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनका प्रचार करने में 'सरस्वती' का बहुत बड़ा हाथ है। हिन्दी में कहानियों का लिखा जाना संवत् १९५७ से प्रारम्भ हुआ। हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक लेखकों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी

गिरजाकुमार घोष (पार्वतीनन्दन), 'बङ्ग महिला', पंडित रामचन्द्र शुक्ल, मास्टर भगवान दास आदि हैं। इन लोगों की लिखी हुई कहानियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ बँगला से अनुवादित। इसके पश्चात् स्वनामधन्य जयशङ्कर प्रसाद जी ने इस क्षेत्र में अवतरित होकर छोटी कहानियों में एक प्रकार से प्राणप्रतिष्ठा कर दी। उनकी आकाशदीप, पुरस्कार, प्रतिध्वनि, चित्र-मन्दिर आदि कहानियों ने एक नया युग उपस्थित कर दिया। उनकी कहानियों में स्वर्णिम आभा से विभूषित प्राचीनता के वातावरण को उपस्थित करने के अतिरिक्त अच्छे मनोवैज्ञानिक चित्रण आये हैं। उनमें हमको बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई देते हैं। पुरस्कार नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का संघर्ष है। आत्मबलिदान द्वारा मधूलिका इस द्वन्द्व का शमन कर देती है। इसके पश्चात् विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक कहानी के क्षेत्र में आये। इनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। इनकी बहुत सी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। इनकी कहानियाँ वार्तालाप-प्रधान हैं।

सुदर्शन जी का नाम भी कौशिक जी के साथ लिया जाता है। इनकी कहानियों के कुछ कथानक राजनीतिक आन्दोलन से भी लिये गये हैं। इनकी 'न्याय-मन्त्री' नाम की कहानी ऐतिहासिक है। इसने बहुत लोक-प्रियता प्राप्त की है। इनकी लिखी हुई 'हार में जीत' शीर्षक कहानी में उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। सुदर्शन जी शहरी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वास्तव में सुदर्शन जी, कौशिक जी और प्रेमचन्द जी के साथ हिन्दी कहानी लेखकों की बृहत्-त्रयी में रक्खे जा सकते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी कहानियों में जान डाल दी है। इन्होंने अपनी कहानियों द्वारा साधारण मनुष्यों में भी उच्च मानवता के दर्शन कराये हैं। 'पंच परमेश्वर' में पद का उत्तरदायित्व दिखलाया है। 'बड़े घर की बेटी' बुरे अर्थ में भी बड़े घर की बेटी है और भले

अर्थ में भी अपने नाम को सार्थक करती है। जो देवर और पति के बीच में लड़ाई का कारण बनती है वही उनमें मेल करा कर अपने हृदय की मानवता का परिचय देती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ जीवन के अच्छे चित्र हैं। 'ईदगाह' में गरीब मुस्लिम जीवन की झाँकी मिलती है। मुंशी जी की कहानियाँ अधिकांश घटना प्रधान हैं किन्तु उनमें भावुकता का भी पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे कहानी की अपेक्षा गद्य काव्य का नाम अधिक सार्थक करती हैं। उनकी कहानिय में भाषा का चमत्कार अधिक है

प्रेमचन्द जी के बाद कहानी साहित्य में जैनेन्द्र जी का नाम आदर से लिया जाता है आपकी कहानियों में युग की नई भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी 'खेल' नाम की कहानी को पढ़कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि हिन्दी में रवि बाबू और शरद् बाबू हमको मिल गये और एक साथ मिले। जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक अथवा तथ्यनिरूपण का इतना महत्व नहीं जितना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण का। फिर भी बीच-बीच में वे बड़ी तथ्यपूर्ण बातें कह देते हैं।

चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने भी बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी 'ताँगेवाला', 'क ख ग,' 'डाकू', 'चौबीस घंटे' आदि कहानियों ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। 'चौबीस घंटे' नाम की कहानी में क्वेटा भूकम्प का हाल है। 'डाकू' में दरबार साहब के धार्मिक वातावरण का अच्छा चित्रण है। 'एक सप्ताह' नाम की कहानी पत्रों में लिखी गई है।

अज्ञेय जी अब वात्स्यायन के नाम से ज्ञेय हो गये हैं। आपने कहानी कला में विशेष निपुणता प्राप्त की है। आपकी कहानियों में विप्लव और विस्फोट की सी भावना रहती है। आपकी 'अमर वल्लरी' नाम की कहानी में एक विशेष काव्यभावना को लेकर पीपल वृक्ष का जीवन वृत्त आया है। यह एक प्रकार का शब्दचित्र है।

श्री अन्नपूर्णानन्द और श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने विनोद-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ अच्छी लिखी हैं। उनका भाषा-प्रवाह प्रशंसनीय है। वर्तमान कहानी-लेखकों में सियारामशरण गुप्त, विनोदशङ्कर व्यास, बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पहाड़ी, यशपाल, राधाकृष्ण प्रसाद प्रभृति महानुभावों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पन्त जी की पाँच कहानियों में पान वाले आदि के शब्द-चित्र देखने को मिलते हैं।

हिन्दी की स्त्री लेखिकाओं में शिवरानी देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला देवी चौधरानी, उषा देवी मित्रा, होमवती तथा चन्द्रवती जैन प्रभृति देवियों ने विशेष ख्याति पाई है। श्रीमती होमवती देवी की कहानियों का संग्रह 'निसर्ग' नाम से छपा है।

हमारे समाज में नई सभ्यता के जो नये भाव आये हैं उनकी छाप हमारे कहानी-साहित्य पर पड़ती जा रही है। हमारे कहानी-साहित्य का वर्णन-क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। उसमें बैल-बकरों को भी मनुष्य के साथ-साथ रागात्मक सम्बन्ध में रक्खा जाता है। इसी के साथ-साथ भाव-विश्लेषण और मनोवैज्ञानिकता बढ़ती जा रही है। इस उन्नति को देखकर यह आशा की जा सकती है कि वह शीघ्र ही विश्व-साहित्य से टक्कर ले सकेगा।

२३. हिन्दी-साहित्य में समालोचना

यद्यपि आलोचनात्मक सूक्तियाँ तो बहुत काल से वर्तमान हैं तथापि हिन्दी में वर्तमान ढंग की समालोचना का सूत्रपात हरिश्चन्द्र-युग से हुआ है। पं० बदरीनारायणजी चौधरी ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में कई समालोचनात्मक लेख निकाले। पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति के साथ-साथ समालोचना-शैली में भी उन्नति होती गई। कुछ समालोचनाएँ पुस्तक-रूप में भी लिखी गईं। स्वनामधन्य आचार्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक में कालिदास के ग्रन्थों की, निर्णयात्मक समालोचना (Judicial criticism) लिखी और 'विक्रमाङ्कदेव चरित चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' नाम की पुस्तकों में परिचयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किये।

लिखित ग्रन्थों के रूप में मिश्र-बंधुओं का हिन्दी नवरत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि बहुत से लोग उनके निर्णयो से सहमत नहीं हैं, तथापि मिश्र-बंधुओं ने उस समय के लिए बहुत अच्छा काम किया। उन्होंने कवियों की भाषा, विषय तथा काव्यकला-सम्बन्धिनी विशेषताओं को बतलाने के अतिरिक्त हिन्दी के नवरत्नों का सापेक्षित स्थान भी निर्धारित करने का उद्योग किया। पुस्तक में बहुत सी बहुमूल्य सामग्री है, किन्तु उसके पढने से यह प्रतीत होता है कि वे किसी संस्था द्वारा परीक्षक नियुक्त हुए हों। उन्होंने बिहारी को देव से नीचा स्थान देकर एक वाद खड़ा कर दिया। उससे साहित्य में कुछ सजीवता आगई।

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रंथ में बिहारी की तुलनात्मक समालोचना निकाली। उसमे उन्होंने बिहारी की उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों से तुलना कर, बिहारी की उत्कृष्टता दिखलाई। यद्यपि उनकी समालोचना में पक्षपात और महफ़िली-दाद सी दिखाई पड़ती है, तथापि उससे बिहारी के सम्बन्ध मे लोगों की जानकारी बहुत-कुछ बढ़ गई है। देव और बिहारी के विवाद के सम्बन्ध में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उन्होने यद्यपि देव का पक्ष लिया है तथापि बिहारी के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। बिहारी को उनके छोटे छंदों के कारण, जुही की कली कहा है तो देव को कमल का फूल ठहराया है। लाला भगवानदीन ने भी बिहारी का पल्ला ऊँचा दिखाने के लिए 'बिहारी और देव' नाम-की एक पुस्तक लिखी है।

क्रमशः आलोचना का आदर्श बदल गया है। अब किसी बँधी हुई रीति या नियमावली के आधार पर काव्य के गुण-दोष बतलाने की अपेक्षा समीक्षक आलोच्य कृति द्वारा लेखक या कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित करना अपना मुख्य ध्येय समझता है। वह केवल यह निर्णय देकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता कि किसी रचना में अमुक मात्रा में नीर है और अमुक मात्रा में क्षीर, वरन् वह क्षीर के रसास्वादन में भी सहायक होता है। आजकल प्रायः आलोचक इसी आदर्श को अपने सामने रखते हैं। इस प्रकार की आलोचना को व्याख्यात्मक (Inductive) आलोचना कहते हैं। तुलनात्मक आलोचना भी इस प्रकार की व्याख्या में सहायक होती है। इसी प्रकार कवि की ऐतिहासिक परिस्थितियों को बतलाकर उसकी कृतियों में समय का प्रभाव बतलाना ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism) कहलाती है और स्वयं कवि की मानसिक स्थिति पर प्रकाश डालकर उसकी कृतियों द्वारा उसकी वैयक्तिक छाप को प्रकाश में लाना मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological criticism) कहाती है। ये दोनों प्रकार की आलोचनाएँ व्याख्या में योग देती हैं। अपने मन पर पड़े हुए प्रभाव को ही मुख्यता देकर कवि की प्रशंसा के पुल बाँध देना या निन्दा का बवंडर खड़ा कर देना प्रभावात्मक आलोचना (Impressionist criticism) कहलाती है। उसमें 'क्या खूब कहा,' 'बस बात फिर बैठ गई', 'वह तो शक्कर की रोटी है जिधर से तोड़ो उधर ही मीठी है' ऐसे वाक्यों की प्रधानता रहती है। पंडित पद्मसिंह शर्मा भी अपने उत्साहाधिक्य में कहीं-कहीं ऐसी ही आलोचना कर बैठे हैं।

आचार्य शुक्ल जी ने 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका में तुलसीदास की, 'भ्रमर गीत सार' की भूमिका में सूर की और 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका द्वारा जायसी की आलोचना कर हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का यथार्थ रूप से पथ-प्रदर्शन किया है। आचार्य शुक्ल जी

यद्यपि पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित हैं तथापि उन्होंने भारतीय रसपद्धति का आश्रय लिया है और उसमें भाव और विभाव दोनों पक्षों को ही मुख्यता दी है। बिना विभावों के अनर्गल भावों की शृंखला जोड़ने वालों के अथवा केवल शैली को महत्त्व देने वाले कोरे अभिव्यंजनावादियों के वे सख्त खिलाफ़ हैं।

हाल ही में बिहारी के ऊपर श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखित 'बिहारी की वाग्विभूति' नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक निकली है। उसमें बिहारी की भाषा, उनकी भक्तिभावना, भाव-व्यञ्जना आदि बातों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'दुलारे दोहावली' के सुप्रसिद्ध टीकाकार सिलाकारीजी ने 'बिहारी-दर्शन' नाम की अच्छी पुस्तक लिखी है। पुस्तक में बिहारी पर किये जाने वाले आक्षेपों का भी उत्तर दिया गया है, और उनके जीवन वृत्त पर भी विवेचना की है।

आजकल कई कवियों पर समालोचनात्मक ग्रन्थ निकल चुके हैं। पं० कृष्णशङ्कर शुक्ल का कविवर रत्नाकर पर एक ग्रन्थ निकला है, जिसमें लेखक ने उनके विभाव-चित्रण और अलंकारों तथा रसों की अच्छी विवेचना की है। 'केशव की काव्यकला' में केशवदास के आचार्यत्व और कवित्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र-कृत 'मीरा की प्रेम-साधना' भी एक बहुत उत्तम ग्रन्थ है। उसमें मीरा के विरह-प्रधान गीत-काव्य का सुन्दर विवेचन है। श्री रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ में कबीर के सिद्धान्तों पर आवश्यक आलोक डाला है। उनके हठयोग की भी व्याख्या की गई है। आधुनिक कवियों के ऊपर कई सुन्दर ग्रन्थ निकल चुके हैं। श्री जयशङ्कर प्रसाद पर तो पाँच ग्रन्थ निकल चुके हैं। इन में दो (एक श्री सत्यपाल जी विद्यालंकार द्वारा 'कामायनी का सरल अध्ययन' दूसरा श्री गंगाप्रसाद पाण्डे द्वारा 'कामायनी का परिचय') तो केवल कामायनी पर ही हैं। एक ही कवि पर बहुत से आलोचनात्मक ग्रन्थ निकलने से अध्ययन में बड़ा सुभीता होता है।

श्री नगेन्द्र जी के 'सुमित्रानन्दन पंत' में, छायावादी कला का अच्छा विश्लेषण है।

तुलसी के सम्बन्ध में आलोचनात्मक साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई है। तुलसी ग्रन्थावली के तृतीय भाग में तुलसी के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण लेख निकले हैं, उनमें श्री रामचन्द्र शुक्ल की प्रस्तावना 'तुलसीदास' नाम से अलग पुस्तक के रूप में निकल गई है। व्याख्यात्मक समालोचना में वह एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसमें गोस्वामी जी के भावों की एक प्रकार से गद्य में पुनः सृष्टि की गई है। रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास जी के 'तुलसीदास' में गोस्वामी जी की जीवनी पर, मूल गुसाईं चरित के आधार पर, अच्छा प्रकाश डाला गया है।

श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी के 'तुलसी के चार दल' ने भी तुलसी-साहित्य का महत्त्व बढ़ाया है। उन्होंने तुलसीदासजी के जानकी मङ्गल, पार्वती मङ्गल, रामलला नहछू और बरवै रामायण पर कई दृष्टि-कोणों से प्रकाश डाला है। उसमें बहुत सी रस और अलंकार-सम्बन्धी पठनीय सामग्री का समावेश किया गया है। मिश्र-बन्धुओं ने पार्वती-मङ्गल, नहछू आदि ग्रन्थों के प्रामाणिक होने में जो शङ्काएँ उपस्थित की हैं, पुस्तक के विज्ञ लेखक ने उनका बड़ी सफलता के साथ निराकरण किया है।

श्री माताप्रसाद गुप्त ने 'तुलसी सन्दर्भ' में मूल गुसाईं चरित को अप्रामाणिक सिद्ध करने का यत्न किया है। इसकी भी विवेचना बहुत मार्मिक है। तुलसी-कृत ग्रन्थों के काल-निर्णय के लिए इसमें बहुत उपादेय सामग्री है। अब 'तुलसी सन्दर्भ' की सामग्री 'तुलसीदास' नाम के ग्रन्थ में समाविष्ट हो गई है।

सूरदासजी के ऊपर भी श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत उत्तम ग्रन्थ लिखा है। उसमें सूर की विद्यापति आदि वैष्णव कवियों से तुलना की गई है। श्री रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी

लिखित 'सूर साहित्य की भूमिका' में सूरकाव्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातों का (जैसे भक्ति इतिहास, श्री वल्लभाचार्य के सिद्धांत, सूर सागर से भागवत् की तुलना) का समावेश किया है। रस सिद्धांत के अनुकूल सूर-साहित्य से सञ्चारी भावों और मनोदशाओं के उदाहरण देकर उनके आस्वादन में इस पुस्तक से अच्छी सहायता मिलती है।

मध्यकालीन साहित्य एवं वर्तमान काल की धाराओं के संबंध में कई ग्रन्थ निकले हैं; जिनमें श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'हिन्दी साहित्य विमर्ष' का स्थान ऊँचा है। उन्होंने अपने 'विश्वसाहित्य' में साहित्य के द्वारा मानव-जाति में प्रेम और ऐक्यभाव स्थापित होने का एक दिव्य संदेश दिया है।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने 'साहित्यालोचन' द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध और महत्त्व बतलाकर समालोचना के कार्य में एक प्रकार की सुगमता उत्पन्न कर दी है। डाक्टर रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' के अनुवाद ने भी लोगों की साहित्य और कला-सम्बन्धी रुचि को परिमार्जित करने में बहुत कुछ योग दिया है। रायबहादुर डा० श्यामसुन्दर दास के "हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास" ने बाह्य परिस्थितियों को बतलाकर व्याख्यात्मक समालोचना के क्षेत्र में अच्छा काम किया है। आज-कल और भी कई भाषा के इतिहास निकले हैं, जिनमें आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डा० सूर्यकांत का 'हिंदी साहित्य का विवेचानात्मक इतिहास' एवं डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' मुख्य हैं। इन ग्रन्थों से हिंदी भाषा के उन आंतरिक और बाह्य स्रोतों का पता लगता है जिनसे हिंदी काव्य की धारा का प्रभाव अविच्छिन्न रूप से आज तक बहा चला आ रहा है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी समालोचना-सम्बन्धी फुटकर ग्रन्थ निकले हैं। पं० रामकृष्ण शुक्ल ने 'प्रसाद जी की नाट्यकला'

में नाट्यकला के साधारण सिद्धान्तों को बतलाकर 'प्रसाद' जी के नाटकों पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्रसाद जी के दो नाटक' नाम की एक और पुस्तक निकली है। श्री जनार्दन झा तथा डा० रामविलास शर्मा ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में एक अच्छी पुस्तक लिखी है। झा महोदय की पुस्तक में कला के ऊपर अधिर ज़ोर है और शर्मा जी की पुस्तक में विचारधारा पर अधिक बल दिया गया है। उनका दृष्टिकोण प्रगतिवादी है। उपन्यासों और नाटकों की समालोचना के सम्बन्ध में ऐसे बहुत से ग्रन्थों की आवश्यकता है। प्रसन्नता की बात है कि अब कुल नाटक साहित्य और उपन्यास साहित्य पर भी आलोचनात्मक ग्रंथ निकल रहे हैं।

समालोचना के सिद्धान्तों पर भी बाबू श्यामसुंदर दास जी के 'साहित्यालोचन' के अतिरिक्त कई और ग्रंथ निकल गए हैं। श्री नलिनी-मोहन सान्याल ने अपने 'आलोचनातत्त्व' में मनोवैज्ञानिक पक्ष लिया है। श्री सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' एक बहुत उच्च कोटि का ग्रंथ है। उसमें क्रोचे (Croce) के अभिव्यञ्जनावाद के अतिरिक्त अपने यहाँ के अलंकार शास्त्र के कई मतों की अच्छी विवेचना है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'कवि और काव्य' में प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के काव्य पर बहुत मार्मिक विवेचना है। श्री पुरुषोत्तम जी ने 'आदर्श और यथार्थ' नाम की पुस्तक में आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध बतला कर इस दिशा में बड़ी मूल्यवान सामग्री उपस्थित की है। ऐसे ग्रन्थों ने हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative Criticism) की कमी पूरी की है। हर्ष की बात है कि हिन्दी का आलोचना साहित्य दिन प्रतिदिन उन्नति कर रहा है।

२४ हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य

गतिशीलता के दो अर्थ हैं। एक साधारण, जिस के अनुसार साहित्य में जो कुछ उन्नति होती है, वही प्रगतिशीलता है और जो साहित्य जनहित का साधक है वही प्रगतिशील साहित्य है। दूसरा परिभाषिक अर्थ है जिसके अनुकूल एक विशेष सम्प्रदाय की विचारधारा से प्रभावित होकर साहित्य का सृजन करना प्रगतिशीलता है। पहले अर्थ में भारतीय साहित्य का श्रीगणेश ही प्रगतिशीलता में हुआ है। जनहित हमारे साहित्य का आरम्भ से ही ध्येय रहा है। महर्षि वाल्मीकि ने काम-मोहित क्रौंचवध से दुःखित होकर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः' का जो पहला अनुष्टुप छन्द लिखा उसमें उन्होंने प्रगतिशीलता का शिलान्यास किया। उसमें कवि का ध्यान जीवन की वास्तविकताओं की ओर गया और उसने अत्याचारी के प्रति अपने मन का विद्रोह स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। रामायण, और महाभारत में भी, अत्याचारपीड़ित मानवता की करुण पुकार सुनाई पड़ती है। काव्यों में राजाओं के विन्यास-वैभव का वर्णन अवश्य है किन्तु उनमें भी अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। मेघदूत का कवि लोल अपाङ्ग वाली पौर-ललनाओं के साथ भ्रूविकारानभिज्ञ जनपद (ग्राम) वधुओं तथा उदयन-कथाकोविद ग्रामवृद्धों को भूल नहीं जाता।

हिन्दी के वीरगाथा-काल में सामन्तशाही प्रभाव की प्रबलता के साथ व्यापक राष्ट्रीयता का भी अभाव था, किन्तु आपस की मारकाट के साथ कहीं-कहीं आक्रमणकारियों के प्रति भी विद्रोह की भावना प्रकट होती है। उस समय के साहित्य में इतनी ही प्रगतिशीलता थी कि चन्द वरदाई आदि महाकवि लेखनी के ही शूर न थे वरन् तलवार के भी वीर थे और उस साहित्य का तत्कालीन जीवन से

सम्पर्क भी था। (यद्यपि वह जीवन मज़दूर और किसान के जीवन से बहुत दूर था)।

सन्त कवि समताभाव के प्रतिपादक होने के कारण सच्चे प्रगतिशील थे। कबीर तो अपने समय से आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने तो वर्ण-व्यवस्था पर बड़ा ज़बरदस्त कुठाराघात किया था। नानक ने भी यही किया। प्रायः सभी सन्त कवि 'जाति पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के मानने वाले थे। प्रेम-मार्गी कवियों में समता भाव इतने प्रबल रूप में तो नहीं था किन्तु, जैसा आचार्य शुक्ल जी ने दिखाया है, उनमें भी लोक पक्ष का अभाव न था (यद्यपि उसका अस्तित्व बहुत ही क्षीण और धुँधली रेखाओं में था)।

भक्त कवियों में संसार को 'मृग वारि' और हेमन्त्र याथ :रौ" मानने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी भी अपने समय की परिस्थिति से बेखबर न थे। 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि, बनिक को बानिज न चाकर को चाकरी' और दारिद्रय दानव से सीद्यमान प्रजा की विषम परिस्थिति की उन्हें खबर थी। 'जासु राज्य प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी' कहकर उन्होंने किसानों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाई है। सूर ने भी 'खेलत में को काको गुसैयाँ' और प्रेम के नाते ही सही, कृष्ण को खरी-खोटी कहला कर समताभाव का पक्ष लिया है। कुंभनदास ने 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम' कहकर तत्कालीन सामन्तशाही का तिरस्कार किया था। तुलसी वर्ण-व्यवस्था के अवश्य पोषक थे किन्तु कृष्ण-भक्त कवि रूढ़ियों और लोक-मर्यादा के प्रति विद्रोही नहीं तो उदासीन अवश्य थे। रीतिकाल की प्रगतिशीलता शायद इतनी ही थी कि उसने सन्तों और भक्तों की बढ़ती हुई वैराग्य-भावना को सांसारिकता की ओर ले जा कर उसका संतुलन उपस्थित कर दिया था। विलास का मद उस काल में बढ़ा हुआ था और साहित्य रूढ़ियों के दलदल में फँस गया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रूढ़िग्रस्त शृङ्गार के रुद्ध वातावरण में भारत-दुर्दशा पर चार आँसू बहाकर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया था, उनकी निम्नोल्लिखित पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं :—

अँग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईश देत हा! हा! री॥
सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

द्विवेदी-युग के राष्ट्रीय साहित्य में पर्याप्त प्रगति-शीलता थी, किन्तु उस में वर्तमान की अपेक्षा प्राचीन गौरव-गरिमा का कुछ अधिक बखान था। 'भारत-भारती' उस समय की प्रमुख पुस्तक थी। चरित्र-निर्माण की भावना और उपदेशात्मकता अधिक थी। राजनीतिक-उत्थान में पर्याप्त सफलता न देखकर हमारे साहित्य में दुःखवाद और पलायनवाद की प्रवृत्ति आई।

'ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे!

छायावाद के साथ यद्यपि पलायनवाद लगा हुआ था तथापि उसके द्वारा भाषा के स्वतंत्र प्रयोग हुए। छंद से मुक्ति मिली और प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण बदला और शृंगार का संस्कार हुआ। यह भी एक प्रगति थी।

इन प्रेम-कथाओं के साथ नवीन जी की 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए'—'नाश और सत्यानाशों का

संस्कृति में मान दिया जाता था, वे सब प्रतारक और प्रवंचक हैं।

(५) जीवन की वास्तविकताओं के साथ सम्पर्क रखने के लिए प्रगतिवादी यथार्थवाद की ओर झुका हुआ है। वह यथार्थवाद वीभत्स और कुरूप के चित्रण से नहीं घबराता। ग्रामीणों के घरों के चित्रण के सम्बन्ध में श्री भगवती चरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' की कविता काफ़ी मशहूर हो चुकी है—

चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी!

× × × ×

भू की छाती पर फोड़ों-से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर
मैं कहता हूँ खँडहर उसको
पर वे कहते हैं उसे ग्राम।

दिनकर जी ने भी महलों के वैभव की तुलना में भारत की गरीबी का बड़ा हृदयद्रावक चित्र खींचा है; देखिए :—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती की लज्जा वसन बेंच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार, देता मुझको तब आमत्रण॥

अंचल जी के 'करील' में हमको ऐसे चित्र मिलते हैं। 'करील' स्वयं सामाजिक शोषण का प्रतीक है।

(६) दर्शन और धार्मिक विश्वासों में प्रगतिवाद मार्क्सवाद के भौतिकवाद को अपनाये हुए है। राजनीतिक आदर्श भी वह सोवियत रूस से ग्रहण करता है। कविताओं में भी वह रूस का गुणगान करता है। 'मास्को अब भी दूर है' सुमन जी की यह कविता काफी ख्याति पा चुकी है।

(७) सौंदर्य-बोध अब मधु, पराग और सुमनों, आम्र-मंजरियों और अलिबालाओं में नहीं रहा वरन् अब साधारण सी चीज़ में भी होने लगा है। अब हीन और अल्प ही महान बन गया है।

'पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर पत्थर
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर, लगता सार्थक सुन्दर।'

(८) अभिव्यक्ति का माध्यम सरल और सुबोध होना चाहिए जिस से कि कवि की वाणी जन साधारण तक पहुँच सके। प्रगतिवाद ने हिन्दी को उर्दू के बहुत निकट लाने का उद्योग किया है किन्तु संस्कार-वश प्रगतिवादी कवि संस्कृत-गर्भित हिन्दी में कविता करते रहे हैं।

(९) आलोचना का मानदण्ड उपयोगितावादी हो गया है। जो साहित्य शोषित पीड़ित मानव किसानों और मजदूरों का पक्ष ले अथवा पूँजीवाद और फासिज्म का विरोध करे वह उत्तम है, जो पूँजीवादी या सामन्तशाही संस्कृति का चित्रण करे, वह निकृष्ट है।

प्रगतिवाद ने हमारे जीवन का मुख जीवन की ओर मोड़ा। जीवन की विषमताओं की ओर हमारा ध्यान किया। सर्वहारा वर्ग को उत्थान दे उसने साम्य भावना को प्रमुखता दी और हिन्दू मुसलमानों को भी एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया। प्रगतिवाद हमको स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटाकर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैय्या-सेवी अकर्मण्य नहीं रक्खा है। प्रगतिवाद में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी हैं। उसने वर्ग-चेतना को बढ़ाकर दोनों के बीच की खाई को और भी चौड़ा कर दिया है। संघर्ष को ही उसने एक मात्र साधन माना है; शान्तिपूर्ण और अहिंसात्म साधनों पर उसने विचार नहीं किया है और वह मार्क्सवाद का धार्मिक कट्टरता के साथ पक्ष-समर्थन करता है। मत स्वातन्त्र्य की वह गुंजायश नहीं छोड़ता। जो उसका साथ नहीं देते उनको वह प्रतिक्रियावादी वा प्रतिगामी कहता है (इस सम्बन्ध में अब कुछ उदारता आती जाती है)। यथार्थवाद और रुढ़ियों से स्वतन्त्र होने

के नाम पर वह अश्लीलता को आश्रय देता है और पूँजीवाद को गाली देने में कला और कविता के गौरव का ध्यान नहीं रखता। छायावाद और रहस्यवाद की भाँति प्रगतिवाद भी एक रूढ़ियुक्त शब्दावली को जिसमें पूँजीवादी, मुनाफाखोर, शोषित पीड़ित मानव, प्रोलेतेरियत, सर्वहारा, ज़ालिम, मज़लूम, बुर्जुआ आदि मुख्य हैं, आश्रय देता है। प्रगतिवाद भी एक फैशन-सा होता जाता है। उसमें वास्तविक सहानुभूति की अपेक्षा बौद्धिक सहानुभूति अधिक है। जिस प्रकार आजकल के रहस्यवादी कवि का जीवन अध्यात्म से अछूता है उसी प्रकार आजकल के प्रगतिवादी कवि का जीवन मजदूर और किसान से दूर है। वह स्प्रिंगदार मखमली सोफों पर बैठकर बिजली के पंखे के नीचे खस की टट्टी की ओट में पार्कर पैन से मज़दूरों की कविता लिखता है। वह महलों में बैठकर झोपड़ियों का ख्वाब देखता है। मज़दूरों और किसानों से बाहर की दुनिया उसको ज़ालिमों की दुनिया दिखाई देती है, यद्यपि वह भी उसी दुनिया का जीव है। उच्च वर्ग में वह मानवी भावों को नहीं देख पाता। बुर्जुआ या सामन्तशाही सृष्टि का दुखी व्यक्ति उसकी सहानुभूति का विषय नहीं बनता। चीन और रूस से हमारी सहानुभूति अवश्य है किन्तु उनके गौरवगाथा-गान में हमारी रागात्मिका वृत्ति नहीं रमती।

प्रगतिवादी रोटी के सिवाय दूसरा मूल्य नहीं जानता, किन्तु उसे यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता। जीवन के इतर मूल्यों की ओर प्रगतिवादी का ध्यान नहीं जाता। लेकिन फिर भी वह हमारे कवियों को इस भू की जंजीरों में बाँधी रखने के लिए अपना मूल्य रखता है। वह हमारे कवियों को अनन्त की ओर जाने में एक स्वस्थ ब्रेक का काम देता है। जीवन कायम रखने के लिए प्रगतिवादी की चक्की भी आवश्यक है और उसकी कर्कशता में मधुरता लाने के लिए छायावाद का राग भी चाहिए।

---

२५. हिन्दी में वीर रस तथा राष्ट्रीय-भावना

वीररस – हिन्दी में यद्यपि काव्य के आत्मा-स्वरूप नवों रसों का समावेश रहा है तथापि उनमें शृंगार, करुण, वीर और शान्त की प्रधानता कही जा सकती है।

कोई भाव या वस्तु सदा एक रस नहीं रहती। परिवर्तन जीवन का नियम है। देश की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुकूल वीर रस का भाव भी बदलता रहा है। उसमें हमको एक निश्चित क्रम-विकास के दर्शन होते हैं।

यद्यपि हिन्दी का आदिकाल वीरगाथा-काल के नाम से प्रशस्त है, तथापि साहित्य के इतिहास में कोई समय ऐसा नही रहा जब कि न्यूनाधिक रूप से वीरकाव्य न रचा गया हो क्योंकि वीरभावना भी हृदय की शाश्वत पुकारों में से एक है। वह कुछ काल के लिए दब सकती हैं, किन्तु उसका समूल नाश नहीं हो सकता। शृङ्गार-प्रधान रीतिकाल में भी भूषण और लाल का प्रादुर्भाव हुआ था। समय के हेर-फेर से वीर-भावना का रंग गहरा और हलका होता रहा है। अब हम एक एक काल को लेकर यह दिखायेंगे कि हिन्दी काव्य में वीर-रस तथा राष्ट्रीय-भावना का क्रम-विकास किस प्रकार हुआ है।

वीरगाथा-काल—यह हिन्दी-साहित्य का शैशव काल था। जिस समय हिन्दी का जन्म हुआ था उस समय देश में रणचण्डी का भैरवनाद सुनाई पड़ रहा था। 'मानो हि महतां धनम्', जो मान राजपूतों का सर्वस्व था वही उनमें परस्पर वैमनस्य के बीज बोकर उनके पतन का कारण बना, इसका कारण यह था कि उस समय इस मान का मानदण्ड कुछ छोटा हो गया था। मानापमान व्यक्ति तथा छोटे-छोटे राज्यों की चहारदीवारियों में सीमित था। लोग अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलापना चाहते थे

क्षात्र-धर्म के नाम पर भाई-भाई का गला काटा जा रहा था। लहू बहाना उनका मुख्य ध्येय था। उनको इस बात की परवाह न थी कि किस का लहू बहाया जा रहा है। विवाह जैसे शुभ कार्यों का उपोद्घात और उपसंहार रुधिर की रक्तधारा से ही अंकित होता था।

क्षुद्र-मान-मूलक परस्पर की फूट और वैमनस्य ने मुसलमानों की विजयोल्लास भरी सेना के लिए प्रवेशद्वार तैयार कर दिया था। आक्रमणकारी मुसलमानों से लोहा लेते-लेते देश की शक्ति क्षीण हो गयी थी; कोई केन्द्रीय शासन न था। राजपूती रस्सी अधजली अवश्य हो गयी थी किन्तु उसमें ऐंठ पूरी बाकी थी। लड़ाई को ही धर्म समझनेवाली राजपूत जाति के लोग एक दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपनी वीरता की चरमसीमा समझते थे। दिल्ली-कन्नौज की प्रतिद्वन्द्विता ही कविता का एक विषय रह गया था। कवि लोग जिसका खाते उसका गाते थे। ज़रा-ज़रा-सी बातों पर तलवारें खिंच जाती थीं। सती होने वाली वेला का कौन दाह करे इस समस्या को लेकर ऐसी नौबत आ गई थी कि—

"गुस्सा हइकैं पृथ्वीराज तब। तुरतै हुकुम दियो करवाय॥
बत्ती दै देउ सब तोपन में। इन पाजिन को देउ उड़ाय॥
झुके खलासी सब तोपन पर। तुरतै बत्ती दई लगाय॥
दगी सलामी दोनों दल में। धुअना रह्यौ सरग मंडराय॥
तोपैं छूटीं दोनों दल में। रण में होन लगे घमसान॥
अररर-अररर गोला छूटैं। कड़-कड़ करैं अगिनिया बान॥
रिमझिम-रिमझिम गोला बरसैं। सननन परी तीर की मार॥

इस तरह के वर्णन वीरभाव को उत्तेजित करते थे किन्तु इनमें वीर-रस की उदार भावना कम थी। बदले की और नीचा दिखाने की भावना का प्राधान्य था।

उस समय के रासो ग्रन्थों में थोड़े-बहुत शृंगार के पुट के साथ ऐसी ही वीरता है। मुसलमानों से भी जो लड़ाइयाँ हुईं, वे प्रायः

व्यक्तिगत कारणों से हुई। इस काल की वीरता में यद्यपि राष्ट्रीयता नहीं थी, तथापि अपनी बात के लिए निर्ममतापूर्वक आत्म-बलिदान करने, शरणागत की रक्षा करने (जैसे पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन गोरी के भाई मीरहुसैन के कारण शाह से वैर मोल लेना), स्त्रियों द्वारा पुरुषों के प्रोत्साहित किये जाने आदि के भाव सराहनीय हैं।

उस समय मुसलमान मात्र से घृणा करने का भाव दृढ़ नहीं था। व्यक्तिगत रूप से मुसलमान लोगों ने भी हिन्दुओं का खूब साथ दिया। उस समय राष्ट्रीयता तो न थी किन्तु उदारता काफी थी। लोग मरना और मारना दोनों जानते थे। इतना होते हुए भी व्यक्ति का प्राधान्य था।

भक्ति-काल—इस काल में वीर काव्य का रूप बदला। वीरता का कारण व्यक्तिगत न रह कर सार्वजनिक हो गया। प्रजा पर अत्याचार करने वाले आततायियों के संहार में वीरता दिखाई जाने लगी। वीरता दिखाने वाले काव्य के पात्र उस समय इस लोक के न थे, वरन् देवकोटि के थे। इस का प्रभाव जनता पर यह तो अवश्य हुआ कि उनमें आततायियों के प्रति सात्विक क्रोध बढ़ा, पाप के प्रति घृणा हुई, किन्तु उसी के साथ पापी के प्रति घृणा ने लोगों के हृदय में आश्रय पाया। लोगों के हृदय में आशा-भाव की जाग्रति हुई। लेकिन उस काव्य से स्वावलम्ब की मात्रा नहीं बढ़ी। यह बात विशेष रूप से सूर और तुलसी के काव्य पर लागू होती है। तुलसी ने आपस की लड़ाई को भी बहुत कुछ कम करने का उद्योग किया है। वे बड़े भारी शान्ति-वादी थे। राजपूतों की परस्पर फूट को ही अपने मन में रखते हुए शायद तुलसीदास ने नीचे का दोहा लिखा होगा—

सुमति विचारहिं परहरहिं, दल-सुमनहु संग्राम।
सकुल गये तनु बिन भये, साखी जादौ काम।

तुलसीदासजी ने अवसर आने पर युद्ध के बड़े सजीव वर्णन किये हैं। ऐसे वर्णन प्रायः छप्पयों में हैं। उनमें ओजगुण पर्याप्त मात्रा में है।

केशवदास ने नरकाव्य भी किया है और उसमें वे वीरगाथा काव्य की भावनाओं के ही आस-पास रहे हैं। केशवदास जी ने महाराज वीरसिंहदेवजू की बहादुरी का अच्छा वर्णन किया है किन्तु उसमें साम्राज्यशाही की झलक है। उसमें मुगल-साम्राज्य की महत्ता स्वीकार की गई है। केशव के समय में उसी की महत्ता भी थी, और उस समय के मुसलमान सम्राटों का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार भी अच्छा था।

केशवदास में राम-रावण युद्ध के ही अच्छे वर्णन नहीं है वरन् राम की चतुरंग चमू के साथ लव कुश के युद्ध का भी बड़ा वीर-भावोत्तेजक वृत्तान्त दिया गया है।

रीतिकाल—यद्यपि रीतिकाल का काव्य शृंगार-प्रधान है तथापि उस काल में भी वीररस की कविता का अभाव नहीं था। उस समय जोधराज, भूषण, सूदन, लाल आदि कवियों ने वीर रस की कविता की। इनमें भूषण ने सब से ज्यादा ख्याति पाई। इस समय के और सब कवियों के लिए तो नहीं किन्तु भूषण और लाल के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें हिन्दू-संगठन की मात्रा अधिक पाई जाती है। हम इन के वर्णन किये हुए युद्धों में वैयक्तिक द्वेष की अपेक्षा हिन्दुत्व की रक्षा का भाव देखते हैं। इनके समय दाढ़ी-चोटी का संघर्ष दिखाई देता है। देखिए :—

"वेद राखे विदित, पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
वैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल, सुधर्म राख्यो घर में।"

इस में हिन्दू संस्कृति की रक्षा की पुकार है। भूषण के काव्य में वैरियों के प्रति अनुदारता भी दिखाई पड़ती है। 'तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं, नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं।" ऐसे कथन राष्ट्रीयता तथा उदारता के विरुद्ध अवश्य पड़ते हैं किन्तु इसके लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह रीतिकाल था। भूषण अच्छे यमक का लोभ संवरण न कर सके होंगे और दूसरी बात यह भी है कि वे मनुष्य थे, अपने समय की भावनाओं से प्रभावित थे। उनको हमें बीसवीं शताब्दी के मापदण्ड से नहीं नापना चाहिए। फिर बीसवी शताब्दी में ही मानवता पूरी तौर से कहाँ आ पायी है। उस समय के और कवियों में वीर-गाथा काल का ही प्रभाव है।

वर्तमान काल—वर्तमान काल का जन्म भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। उन्होंने अपने नाटकों में देशभक्ति का पुट दिया है। यद्यपि उनके नाटकों में भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की झलक मिलती है, तथापि उनमें राष्ट्रीयता का सूत्र-पात हुआ है। भारतवर्ष की दुर्दशा का अच्छा चित्रण है। अपने दोषों को निर्भयता-पूर्वक स्वीकार किया गया है 'जगत में घर की फूट बुरी, फूटहिं सो जयचंद बुलायो जवनन भारत धाम'। अंग्रेज़ी राज्य की तारीफ करते हुए भी उन्होंने विदेश को धन जाने तथा टैक्स की बुराई की है—

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

❀ ❀ ❀ ❀

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"

भारतेन्दुजी में भारत को एक इकाई मानने की प्रवृत्ति है। भारत के सुधार की पुकार है। 'भारत दुर्दशा लखी न जाई' भारत के ही दुःख पर शोक प्रकट किया जाता है।

"सबै सुखी जग के नर-नारी
रे विधना भारत हि दुखारी।"

सामूहिक रूप से वीरता दिखाने की भी बात आती है किन्तु वह वीरता ब्रिटिशों के नेतृत्व में ही है, उसमें साम्राज्यशाही की छाप है। देखिये वीरों को काबुल जाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है:—

"प्रगट वीरता देहि दिखाई।
छन महँ काबुल लेइ छुड़ाई॥"

राष्ट्रीयता की जो तान भारतेन्दु जी ने छेड़ी थी, उसका स्वर गुप्त जी में कुछ ऊँचा ही जाता है।

गुप्त जी के 'अनघ' में हम को गाँधीवाद की सहिष्णुतापूर्ण वीरता के दर्शन होते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गाँधी के विचारों की, हिन्दी साहित्य में गहरी छाप पड़ी है। वीरता का दृष्टिकोण अब बदल गया है। अब अत्याचारी के अत्याचार का बदला तलवार से घाव करने में नहीं रहा; वरन् प्रेम के साथ उसके हृदय-परिवर्तन में है। आजकल की वीरता का आदर्श हम इस पद्य में भली-भाँति पाते हैं—

"पापी का उपकार करो, हाँ
पापों का प्रतिकार करो।

× × × ×

आग्रह करके सदा सत्य का
जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो कभी न प्रकट करने में
जो अनुभव जो बोध करो,
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो
दृढ़ता सहित विरोध करो,
किन्तु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो न क्रोध करो।"

'साकेत' में हमको सत्याग्रह और युद्ध दोनों ही पक्षों का उद्घाटन

मिलता है। अनाक्रमणकारी (Non-aggressive) तथा हाथ न पसारने वाली वीरता हमको सुमित्रा के वचनों में मिलती है—

"स्वत्वों की भिक्षा कैसी?

× × × ×

पाकर वंशोचित शिक्षा—
माँगेंगी हम क्यों भिक्षा?
प्राप्य याचना वर्जित है,
आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी,
अपना त्याग नहीं देंगी,
वीर न अपना देते हैं,
न वे और का लेते हैं।"

गाँधीवाद का गुप्तबन्धुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। सियारामशरण जी ने अपनी 'बापू' शीर्षक कविता में गाँधीवाद का परिचय दिया है। देखिए कितना मानवतापूर्ण आशावाद है:—

"जान लिया तुमने विशुद्धान्तःकरण से—
सत्ताधारियों के प्रहरण से
नाश नहीं जीवन का
बीज उसमें है चिरन्तन का।"

गाँधीवाद के साथ-साथ देश में क्रान्ति की भी लहर चल रही है किन्तु उसकी छाया हमारी कविता में बहुत गहरी नहीं पड़ी है। यत्र-तत्र हमको काव्य में उग्रता के भी दर्शन मिलते हैं। कभी-कभी नवीनजी जैसे कवि ऐसी तान सुनाने को कहते हैं, जिससे उथल-पुथल मच जाय—

"कवि; कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।"

❀ ❀ ❀ ❀

"प्राणों के लाले पड़ जाएँ
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए—
नाश और सत्यानाशों का
धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ,
भस्मसात् भूधर हो जाएँ।"

हमको साहित्य से क्रान्ति की झलक मिलती अवश्य है किन्तु ज्यादातर हमको अत्याचारों को सहने का ही उपदेश मिलता है। देखिए सनेहीजी क्या कहते हैं :—

"सह कर सिर पर भार मौन ही रहना होगा,
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।
रंग-महल-सी जेल आहनी* गहना होगा,
किन्तु न मुख से कभी हन्त हा! कहना होगा।
डरना होगा ईश से और दुखी की हाय से।
भिड़ना होगा ठोक कर खम अनीति अन्याय से॥"

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'काबा और कर्बला' शीर्षक काव्य में मुसलिम वीरता में जो कष्ट-सहिष्णुता का भाव है उसका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। ऐसे वर्णनों को पढ़कर मुसलमानों के प्रति हमारी सहानुभूति बढ़ती है।

आजकल की वीरता का यही रूप है। आजकल पशुबल की अपेक्षा आत्मबल का अधिक महत्त्व है।

वर्त्तमान समय में रहस्यवाद और छायावाद की कविता का प्राधान्य होते हुए भी काव्य जीवन के घोर सत्यों की उपेक्षा नहीं कर रहा है। वह देश की निराशा और हार से भली-भाँति परिचित है। वह झूठी डींग भी नहीं मारता। नवीन जैसे कवि भी पराजय गीत गाते हैं—

---

* लोहे का।

"आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है खाली तूणीर हुआ।
विजय पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।"

आजकल का कवि अपने आश्रयदाता के गीत नहीं गाता। किसान, मज़दूर, पीड़ित, शोषित ही उसके गीतों के विषय बन गये हैं। पंत जी की 'युगवाणी' में साम्यवाद की पूरी-पूरी छाप है। किन्तु उनका साम्यवाद शुष्क साम्यवाद नहीं है, उसमें सौंदर्य और कल्पना के लिए स्थान है। कवि की मानवतापूर्ण भावुकता में सब कुछ सुन्दर हो जाता है। हमारे भाव संकुचित राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर जाने लगते हैं। पंतजी ने भावी संस्कृति का कैसा सुन्दर रूप सामने रखा है :—

"जहाँ दैन्य-जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित;
युग-युग के छाया-भावों से त्रासित
मानव प्रति मानव-मन हो न सशंकित;
मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव मानवता में जन-जीवन परिणति;
संस्कृत वाणी भाव, कर्म संस्कृत मन
सुन्दर हो जनवास, वसन सुन्दर तन।"

अब राष्ट्रीयता को छोड़ मानवता की पुकार की जाती है—

"क्षुद्र, छुणित, भव-भेद-जनित
जो, उसे मिटा, भव सत्य भाव भर
देश काल औ स्थिति के ऊपर
मानवता को करो प्रतिष्ठित।"

गाँधीवाद का मूल मंत्र मानवता ही माना गया है। देखिए—

"गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।"

पंतजी ने समाजवाद का सार नीचे की पंक्तियों में दिया है:—

"साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान
भव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण।"

गाँधीवाद ने देश के आत्मा की परिशुद्धि को अपना लक्ष्य बनाया है और समाजवाद ने देश के शरीर की रक्षा की है। जीवन के लिए शरीर और आत्मा दोनों ही आवश्यक हैं।

प्रगतिवाद ने युद्ध और संघर्ष में भाग लेने के लिए जनता को प्रोत्साहित करते हुए रूस और चीन की वीरता के गीत गाये हैं। इस प्रवृत्ति में सर्वश्री अंचल, नरेन्द्र और सुमन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सुमन जो की 'मास्को अब भी दूर है' शीर्षक कविता पर्याप्त ख्याति पा चुकी है। हिन्दी काव्य में देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावना ओत-प्रोत होती जा रही है और उसमें वर्तमान सभ्यता की मानव-गौरव-सम्बन्धिनी भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही है। अब स्वतन्त्र भारत में वीर रस सच्चे हृदयोल्लास से आयगा। यद्यपि भारत किसी देश पर आक्रमण नहीं करेगा तथापि अपनी और अन्य देशों की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए कटि-बद्ध होकर लड़ेगा। अभी हैदराबाद और काश्मीर में हमारे सैनिकों ने अपनी अपूर्व वीरता का जो परिचय दिया है उसका यशगान हिन्दी कवियों की लेखनी से अपेक्षित है।

---

२६. हिन्दी साहित्य में स्त्रियों की देन

स्त्रियों ने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में पुरुषों का साथ दिया है। साहित्य का क्षेत्र अछूता नहीं है। वह क्षेत्र भी ऐसा है जिसमें स्त्रियाँ सुलभता से सहयोग दे सकती हैं। इसमें घर के बाहर जाने की भी विशेष आवश्यकता नहीं और न इसके लिए भौतिक बल ही अपेक्षित

है। स्त्रियों के विद्या-प्रेम के प्रमाण वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। एक दो स्त्रियाँ तो मंत्रद्रष्टा ऋषि के पद से विभूषित हुई हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पच्चीसवें सूक्त की ऋषि 'सूर्या' नाम की देवी है। मैत्रेयी, भारती, मदालसा नाम की अनेकों विदुषी स्त्रियाँ हो गई हैं। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रसिद्ध प्रार्थना मैत्रेयी की ही है। संस्कृत काव्य की रचना करने वाली स्त्रियों में लक्ष्मी याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका की टीका लिखने वाली, विज्ञका, शिलाभट्टारिका, जिनको राजशेखर ने पाञ्चाली रीति के प्रयोग में बाण के समकक्ष रक्खा था; आदि नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ वीर-काव्य से हुआ। यह ऐसा भगदौड़ और मारकाट का समय था कि कविता भी वे ही लोग कर सकते थे जो कि चंद की भाँति लेखनी के साथ असि को भी धारण कर सकें। यह स्त्रियों के लिए असम्भव नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनकी प्रकृति के अधिक अनुकूल भी न था। उन्होंने मौखिक प्रोत्साहन अवश्य दिये और वे शायद लोक-गीतों में स्थान पाते हैं, किन्तु उनका कोई लिखित रूप नहीं मिलता। उस समय आत्मरक्षा और सतीत्व-रक्षा सब से बड़ा कर्तव्य था। अग्नि-ज्वालाओं से अंकित जौहर उनका सबसे ओजस्वी काल था। स्त्रियाँ सन्तों की भाँति इधर-उधर अधिक भटकती भी नहीं थीं, और न उनमें मत-प्रवर्तन की प्रवृत्ति थी। किन्तु सन्त-काल के पश्चात् सन्तों की शैली में और उन्हीं के प्रिय विषयों को लेकर सहजोबाई और दयाबाई ने अच्छी कविता की है। प्रेम-काव्य भी उन्होंने नहीं लिखा। भक्ति-काव्य उनकी एक मात्र साधना-प्रधान प्रकृति के विशेष अनुकूल था। इसमें उन्होंने विशेषता प्राप्त की। इन भक्ति कवयित्रियों में राजरानी मीरा का नाम स्त्रीसमाज में ही नहीं पुरुष समाज में भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। हमारी कवयित्रियों ने अधिकतर कृष्ण-काव्य को ही अपनाया है क्योंकि जीवन का माधुर्य कृष्णकाव्य में ही प्रकाश पा सका है। भगवान कृष्ण

की बाल-लीला और यौवन-लीला हिन्दी कवियों के प्रिय विषय रहे हैं और इन दोनों का स्त्रियों से विशेष सम्बन्ध है। मीरा ने दाम्पत्य भाव को ही अपनाया। पुरुष कवि जब आध्यात्मिक विरह निवेदन करते हैं तब मुसलमानी शैली में तो ईश्वर को प्रेमिका बनाने से काम चल जाता है किंतु हिंदू शैली में ईश्वर को पुरुष रूप दिये जाने के कारण कठिनाई पड़ती है। सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करके विरह-निवेदन किया है। उसमें वह सीधा संपर्क, सचाई और तन्मयता नहीं होती जो स्त्री-कवियों के विरह-निवेदन में रहती है। पुरुषों में स्त्रीत्व का आरोप—जैसे कबीर ने 'राम की बहुरिया' बनकर किया; अथवा कुछ सखी-सम्प्रदाय के कवियों ने सखी बनकर किया—हास्यास्पद हो जाता है। इसलिए दाम्पत्य भवा के प्रेम की जो स्वाभाविकता मीरा में है वह अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती।

हेरी ! मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
× × × ×
दरद की मारी बनबन डोलूँ वैद मिल्या नहीं कोय
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी जब वैद सँवलिया होय।

एक और देखिए :—

घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसन बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी कासो जीवन होय॥
घर न भावे, नींद न आवे, विरह सतावे मोय।
घायल सी घूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जाणे कोय॥
\+ + + +
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ ऊभी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम मिलियाँ सुख होय॥

मीरा के एक भक्ति-सम्बन्धी पद का अनुकरण करने का मोह तो कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ भी नहीं संवरण कर सके। उस पद के आधार

पर Gardener नाम के काव्य संग्रह की प्रधान कविता रची गई है; देखिए :—

म्हाने चाकर राखो जी गिरधारी लाला चाकर राखो जी
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसन पासूँ
ब्रिंद्रावन की कुंज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ
चाकरी में दरसन पाऊँ सुमिरन पाऊँ खरची❀

अब रवि बाबू की गार्डनर की कविता लीजिए—

Make me the gardener of your flower garden

What will you have your reward? To be allowed to hold your little fist like tender lotus buds and slip flower chains round your wrists.

मीरा के साथ ही सहजोबाई और दयाबाई का नाम लिया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इनकी कविता संत श्रेणी की थी। सन्तों के मूल विषय हैं गुरु-महिमा और आत्मा-परमात्मा की एकता। इन दोनों विषयों का अच्छा प्रतिपादन हमको इन कवयित्रियों में मिलता है; देखिए :—

चिउटी जहाँ न चढ़ि सके, सरसो ना टहराय।
सहजोकूँ वा देश में, सतगुरु दई बसाय॥

जीव ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में दयाबाई का एक पद लीजिए—

ज्ञान रूप को भयो प्रकास
भयो अविद्या तम को नास।
सूझ परयो निज रूप अभेद,
सहजै मिट्यो जीव को खेद॥

× × × ×

❀ जेब खर्च।

जग विवर्त सो न्यारा जान,
परम देव रूप निरबान।
निराकार निरगुन निरबासी,
आदि निरंजन अज अविनासी ॥

उपर्युक्त पद में वेदान्त का सार आगया है। सहजोबाई और दयाबाई दोनों ही महात्मा चरनदास की शिष्या थीं। मुसलमान कवयित्रियों में ताज और शेख (रंगरेजिन) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ताज ने कृष्ण-भक्ति की कविता की है, शेख भी इसी रंग में रँगी थी। उसने शृंगारिक कविता भी की है। ताज को कृष्ण भक्ति का गर्व था—'नंद के कुमार कुरबान तांणी सूरत पै, हौं तो तुरकानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं'। उन्होंने कृष्ण के रूप माधुर्य के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर पद लिखे हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही उन्होंने कविता की है। खड़ी बोली का एक नमूना लीजिए:—

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला सब देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै, नाक मोती सोहै कान,
मोहै मन कुंडल मुकुट सीस धारा है॥
दुष्टजन मारे, संत जन रखवारे 'ताज',
चित हित वारे प्रेम प्रीत कर वारा है।
नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावन वारा कृष्ण साहब हमारा है।

शेख आलम की पत्नी और जहान की माँ थी। ताज की अपेक्षा शेख को ब्रजभाषा पर अधिक अधिकार था। उसकी कविता से यह नहीं प्रतीत होता कि वह किसी मुसलमाननी की है। देखिए:—

मिटि गयो मौन पौन साधन की सुधि गई,
भूली जोग जुगति बिसरायो तपबन को।

सेख प्यारे मन को उजारो भयो प्रेम नेम,
तिमिर अज्ञान गुन नास्यो बालपन को ॥
चरन कमल ही की लोचन में लोच धरी,
रोचन ह्वै राख्यो सोच मिटो धाम धन को ।
सोक लेस नेक हू कलेस को न लेत रह्यो,
सुमिर श्री गोकलेस गो कलेस मन को ॥

इसमें यमक की छटा दर्शनीय है।

कहा जाता है कि हिन्दी में बरवै छन्द एक स्त्री की ही देन है। उसने अपने पति के नौकरी पर चले जाने पर नीचे लिखा छंद भेजा था—

प्रेम प्रीत कौ बिरवा चलेहु लगाय।
सींचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाय ॥

इसमें बिरवा शब्द होने के कारण रहीम ने इस छन्द का बरवै नाम रखा और स्वयं उसके अनुकरण में बरवै नायिका-भेद लिखा। फिर गोस्वामी तुलसीदास जी ने रहीम के अनुकरण में बरवै-रामायण की रचना की। गोस्वामी तुलसीदास जी की स्त्री रत्नावली की कविता की भी चर्चा हो चली है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता में अभी सदेह है।

मध्यकाल में बहुत सी स्त्रियाँ कविता करती थीं। कुलाङ्गना ही नहीं वरन् वेश्याएँ भी कविता से प्रेम रखती थीं और यदि केशवदास जी की गवाही मानी जाय तो वे कविता भी करती थीं। 'तिन में करति कवित्त इक, एक प्रवीन प्रवीन'। उसी की शिक्षा के लिए हिन्दी संसार को केशव की 'कविप्रिया' मिली। गिरधर कविराय की स्त्री साईं ने अपने पति के ही टक्कर की कुण्डलियाँ रची हैं। यदि उनमें साईं शब्द न हो तो पहचानना कठिन हो जाय कि ये गिरधर की हैं या और किसी की। 'साईं ये न विरुद्धिए गुरु पंडित कवि यार' ऐसी कुण्डलियाँ पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं।

ब्रजभाषा और राजस्थानी काव्य की सरसता बढ़ाने वाली कोकिलाओं में रसिक बिहारी (श्री नागरीदास जी की दासी बनी ठनी थी), प्रताप

कुँवर बाई, सुन्दर कुँवर बाई, रत्न कुँवर बीबी, चन्द्रकला बाई, जुगल प्रिया आदि अनेकों नाम गिनाये जा सकते हैं। इनकी विशेषता यही है कि ये प्रायः रानियाँ थीं, या इनका राजघरानों से सम्बन्ध था। उन दिनों उच्च शिक्षा साधारण स्त्रियों के लिए अप्राप्य थी।

बिलकुल वर्तमान काल में आने से पूर्व श्रीमती रघुवंश कुमारी श्रीमती राजरानी देवी, श्रीमती सरस्वती देवी, श्रीमती बुन्देला बाला, (लाला भगवदीन की धर्म पत्नी) गोपाल देवी, श्रीमती राजदेवी, श्रीमती कीरति कुमारी आदि देवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कविताओं में देश-प्रेम और द्विवेदीयुग की उपदेशात्मकता का प्राधान्य है। श्री तोरनदेवी लली ने भी प्रायः देश-प्रेम की ही कविता की है; किन्तु उनकी रचनाओं में पाण्डित्य और कला की कुछ अधिक झलक मिलती है। इसीके साथ उनकी कविताओं में भक्ति और रहस्यवाद का भी पुट पाया जाता है। 'मुझसे मिल जाना इक बार' बड़ी सुन्दर कविता है। पहले कवयित्री ने अपने भगवान को नव कुसुमों की कुंजलता में ढूँढा अब वह उन्हें देश-प्रेम के अभिमानों में, वीरश्रेष्ठ-गुण-गानों में देखना चाहती हैं। इस प्रकार उन्होंने देश-प्रेम और ईश्वर-भक्ति का सम्बन्ध किया है।

वर्तमानकाल की कवयित्रियों में श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान और श्रीमती महादेवी वर्मा के नाम उज्ज्वल नक्षत्रों की भाँति जगमगाते हैं। श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की राजनीतिक कविताओं में क्षत्राणी का वीरदर्प है और उनकी वात्सल्य रस-सम्बन्धिनी कविताओं में नारी-हृदय-सुलभ कोमलता भी है। उनकी राजनीतिक कविताओं में 'झाँसी की रानी' ने बहुत ख्याति पाई है। उनकी वात्सल्य सम्बन्धी कविताओं में जो माधुर्य है वह उनको एकदम सत्कवियों में प्रतिष्ठित कर देता है। उनकी 'मेरा बचपन' शीर्षक कविता बड़ी मर्म-स्पर्शिनी है—

वह भोलापन मधुर सरलता, वह प्यारा जीवन निष्पाप।
क्या फिर आकर मिटा सकेगा, तू मेरे मन का सन्ताप?

मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नन्दन वन सी फूल उठी छोटी सी कुटिया मेरी,
पाया मैने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया।
उसका मञ्जुल मूर्ति देखकर, मुझ में नवजीवन आया।

श्री महादेवी वर्मा की कविताओं में हृदय को पवित्र करने वाली करुणा की अपूर्व कलामयी अभिव्यक्ति है जो उन्हें अपने वर्ग के पुरुष कवियों से ऊँचा नहीं उठाती तो उनके समकक्ष अवश्य रख देती है। उनके काव्य में एक दार्शनिकता है जिसमें दुख ही सुख बन जाता है और अपनी असीम पीड़ा में असीम का मुकाबला करता दिखाई देता है। वे असीम को सीमा के बन्धनों में देखना चाहती हैं:—

विश्व में वह कौन सीमाहीन,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला ?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम ही सर्वेश एक महान हो ?

उनका प्रेम निष्काम प्रेम है। वे अमरता नहीं चाहतीं वरन् मर-मिटने को ही अपना अधिकार समझती हैं।

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार ?

वे युग-युग तक साधना में ही लगी रहना चाहती हैं। 'युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी। ले फिरूँ सुधि दीप सी, फिर राह में अपनी अँधेरी'। यह इसीलिए कि विरह की पीड़ा का उन्माद प्रिय-मिलन से कम महत्त्व नहीं रखता। 'विरह से कम मादक पीर नहीं'। इसीलिए वे मिलन के समय अपना अस्तित्व या व्यक्तित्व ही मिटा देना चाहती हैं। प्रियतम का मिलन भी न चाहना त्याग का पराकाष्ठा है, देखिए:—

काढूँ वियोग पल रोते
संयोग समय छिप जाऊँ।

महादेवी वर्मा सफल कावयित्री ही नहीं हैं, उनकी गद्य रचनाएँ भी बड़ी उच्चकोटि की हैं। 'शृङ्खला की कड़ियाँ' में उन्होंने भारतीय नारी को अपना उचित स्थान दिलाने के लिए उसको भार्या या रमणी न रखकर सहयोगिनी वा सहधर्मिणी बनाने के लिए बड़ी जोरदार अपील की है। उनके 'अतीत के चलचित्र' में हम उनके करुणार्द्र हृदय का परिचय पाते हैं।

केवल कविता में ही नहीं वरन् कहानी, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न अङ्गों में भी भारतीय रमणियों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रसङ्ग में श्रीमती शिवरानी देवी, श्रीमती उषादेवी मित्रा, श्रीमती कमलादेवी चौधरी, श्रीमती होमवती देवी, श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा, श्रीमती चन्द्रवती जैन, श्रीमती सोनरिक्सा 'छाया', श्रीमती सत्यवती मल्लिक प्रभृति देवियों का नाम उल्लेखनीय हैं। श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने शिक्षा मनोविज्ञान पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में हमारे महिला-समाज ने यह भलीभाँति प्रमाणित कर दिया है कि स्त्रियों को अवसर मिलने हर वे प्रत्येक क्षेत्र में चमक सकती हैं और जहाँ तक प्रतिभा का प्रश्न है वे पुरुषों के ही समान उच्च शिक्षा की अधिकारिणी हैं।

---

२७. हिन्दी के नाटक और रंगमंच

नाटक साहित्य के प्रधान अंगों में से हैं—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। संस्कृत-साहित्य में नाटकों का खूब विकास हुआ। यूरोप वालों का ध्यान नाटकों द्वारा ही संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ। जर्मन कवि गेटे (Goethe) ने भी शकुन्तला नाटक की भूरि-भूरि प्रशंसा की

है, और वास्तव में वह है भी प्रशंसा के योग्य—'नाटकपु शकुन्तला'।

कालिदास और भास की कला पर जितना विचार किया जाता है उतनी ही उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती है। किन्तु खेद है कि बहुत काल तक हिंदी ने इस अतुल संपत्ति का उपयोग नहीं किया। इसके कई कारण हो सकते हैं। जिस काल में हिंदी का उदय हुआ, उस काल में पहले तो मार-काट बहुत रही, जिसमें नाटक का विकास होना असंभव था। नाटक के समुचित विकास के लिए रंगमंच चाहिए और लड़ाई की भाग-दौड़ में रंगमंच की स्थापना और उन्नति की संभावना नहीं रहती। मुसलमानी राज्य में भी शांति का समय आया अवश्य, किंतु मुसलमानी सभ्यता में नाटक के लिए प्रोत्साहन न मिल सका। मुसलमान लोग मूर्तिपूजा के विरोधी होते हैं, इसलिए उनके यहाँ किसी प्रकार के अनुकरण श्लाघ्य दृष्टि से नहीं देखे जाते। मुसलमानी राज्यकाल में चित्रकला की उन्नति अवश्य हुई, किंतु वह एक प्रकार का अपवाद था; उनकी जातीय संस्कृति के खिलाफ था। इतने बड़े ताजमहल की कारीगरी फूल-पत्तियों में ही संकुचित रही। फतहपुर सीकरी में हाथी इत्यादि जानवरों की मुखाकृतियों के अलकरण अवश्य हैं किंतु वे अकबर की उदारता के कारण हैं। अस्तु, जो कुछ भी कारण हो, नाटकों का मुसलमानी राज्य में एक प्रकार से अभाव ही रहा। 'यथा राजा तथा प्रजा' में बहुत तथ्य है।

इसके अतिरिक्त नाटकों के लिए गद्य की आवश्यकता होती है और उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी गद्य का रूप भी प्रतिष्ठित न था।

हिन्दी नाटकों के वास्तविक जन्मदाता श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। उनसे पहले नाटक लिखे अवश्य गये थे, किंतु वे नाटक कहलाने योग्य न थे। देवीजी का भी 'देवमाया प्रपंच' नाम का नाटक है, किंतु वह एक प्रकार की आध्यात्मिक कविता मात्र है। यह नाटक प्रसिद्ध देव कवि का नहीं बतलाया जाता। यही हाल ब्रजवासीदासकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद महाराज

जसवंतसिंह ने भी किया था। श्री बनारसीदास जी जैन लिखित 'समय सार' नाम के इसी प्रकार के एक नाटक का बाबू हरिश्चन्द्र ने और उल्लेख किया है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ आगरे के दो जैन मंदिरों में मौजूद हैं।

इंगलैंड आदि देशों में नाटकों का आरम्भ धार्मिक नाटकों से हुआ था। इनको मिस्ट्री प्लेज़ (Mystry Plays) अर्थात् रहस्य-सम्बन्धी नाटक कहते थे। इनमें धैर्य, दया, पाप, पाखंड, ईर्ष्या आदि ही मूर्तिमान हो नाटकों के पात्र के रूप में आते थे। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटक भी इसी प्रकार के हैं। पूर्व-हरिश्चन्द्र-काल के नाटकों में नेवाज़-कृत 'शकुन्तला' नाटक और हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' उल्लेखनीय हैं। महाराजा काशिराज की आज्ञा से 'प्रभावती' नाटक बना था और रीवाँ-नरेश की आज्ञा से 'आनन्द रघुनंदन' रचा गया, किंतु इनमें भी नाटक के सब नियमों का पालन नहीं हुआ था। इनमें छंद का प्राधान्य था। छन्द में साधारण जीवन के अंगों का वर्णन नहीं हो सकता और उसी अंश में छंद-प्रधान ग्रंथ नाटक के परिमाण से गिरे रहते हैं।

पात्रों के प्रवेश आदि नियमों का पालन करते हुए भारतेन्दु जी के पूज्य पिता गिरिधरदास जी ने 'नहुष' नामक सब से पहला नाटक लिखा था। उसमें इन्द्र और नहुष की कथा है। पहले इन्द्र को ब्रहहत्या लगी, उसका स्थान नहुष को मिला, वह राज-मद को संयमित न रख सका, 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं,' वह पद-च्युत हुआ, इंद्र ने अपना पूर्व-पद प्राप्त किया।

समय के क्रम से रीत्यनुकूल नाटक-रचना में दूसरा नाम राजा लक्ष्मणसिंह का आता है। उनका शकुन्तला नाटक यद्यपि अनुवाद है, तथापि उसमें मूल का सा सौंदर्य है। इसके पश्चात् भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का नाम आता है। उन्होंने एक प्रकार से नाट्य-कला को पुनर्जीवन दिया। कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और कई

स्वतंत्र नाटक लिखे। इनके लिखे हुए सोलह नाटक हैं, जिनमें कुछ प्रहसन भी हैं। भारतेंदु जी के नाटकों में सत्यहरिश्चंद्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, अंधेर-नगरी आदि प्रमुख हैं। इन नाटकों में से कुछ इनके समय में खेले भी गये। हरिश्चंद्र जी के समय से लेखकों ने नाटकों को अपनाना शुरू किया और पर्याप्त संख्या में नाटक लिखे गये। उस काल के नाटको में बाबू तोताराम का 'केटो-कृतांत' लाला श्रीनिवासदास के 'तप्ता-संवरण' और 'रणधीर प्रेम-मोहनी', बाबू केशोराम भट्ट-कृत 'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सौसन', गदाधर भट्ट का 'मृच्छकटिक', बाबू बदरी नारायण चौधरी का 'वारांगना-रहस्य,' अंबिकादत्त व्यास की ललिता' नाटिका, 'भारत सौभाग्य और 'गोसंकट' नाटक और बाबू राधाकृष्णदास के 'दुखिनी बाला,' 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' मुख्य हैं।

हिन्दी के प्रारंभिक नाटक ब्रज भाषा में लिखे गये थे। उनमें पहले तो गद्य था ही नहीं और यदि थोड़ा बहुत था भी तो वह भी ब्रजभाषा में। धीरे-धीरे गद्य खड़ी बोली में हो गया और पद्य ब्रजभाषा में ही रहा। भाषा के सम्बन्ध में नाटकों का यह हाल हरिश्चंद्र युग के बाद में भी चलता रहा।

इन नाटकों के विकास में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो जैसे-जैसे समय आगे चलता गया, वैसे-वैसे देवता, राक्षस, यक्ष, गंधर्व आदि दैवी पात्रों की कमी होती गई। दैवी चमत्कार और आ[illegible]त्य के स्थान में मनुष्य की बुद्धि का चमत्कार और उसके भावों का संघर्ष अधिक दिखाया जाने लगा। नाटक का मनुष्य-जीवन से विशेष संबंध हो गया। दूसरी बात यह है कि क्रमशः पद्य के स्थान में गद्य का प्रवेश होने लगा। पद्य साधारण जीवन की भाषा नहीं समझी जाती। मंत्री लोग गाकर मंत्र नहीं देते और न राजा लोग नाचकर यह कहते हैं राजा हूँ मैं क़ौम का और इन्दर मेरा नाम'। नाटकों से पद्य का महत्त्व दूर करने में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों ने हिंदी नाटककारों

पर अच्छा प्रभाव डाला। ये अनुवाद प० रूपनारायण पांडेय ने सफलतापूर्वक किये हैं। श्री गोपालराम जी गहमरी ने रवीन्द्रबाबू की चित्राङ्गदा का अनुवाद किया था।

वर्तमान युग मे अथवा यो कहिए कि हरिश्चन्द्र युग और वर्तमान युग के बीच मे रायबहादुर लाला सीताराम जी उपनाम 'भूप' ने बहुत से संस्कृत के नाटकों का अनुवाद कर हिन्दी का बहुत उपकार किया है। यह बड़ी लज्जा का विषय था कि संस्कृत के नाटको का अंगरेजी में तो अनुवाद हो और हिन्दी इस गौरव से वंचित रहे। इस संबंध में स्वर्गीय लाला सीताराम जी ने भगीरथ का सा काम किया था। स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न ने महाकवि भवभूति-कृत 'उत्तर रामचरित' और 'मालती-माधव' के बहुत ही सुन्दर और सरस अनुवाद किये हैं। जिस प्रकार राजा लक्ष्मणसिंह के शकुन्तला के अनुवाद ने हिन्दी में कालिदास की कीर्ति को स्थायित्व प्रदान किया वैसे ही सत्यनारायण जी के उत्तर रामचरित के हिन्दी अनुवाद ने भवभूति की ख्याति को हिन्दी मे प्रसारित किया।

शेक्सपीयर के नाटकों का भी हिंदी में अनुवाद हो गया है। बाबू गंगाप्रसाद एम. ए. ने बहुत से नाटको का अनुवाद किया है। बाबू प्रेमचन्दजी ने आधुनिक कवि गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद किया है, किन्तु उन में वह बात नहीं, जो उनके उपन्यासो में है। इन अनुवादों के अतिरिक्त बहुत से मौलिक नाटक भी लिखे गये हैं और वे रंगमंच पर खेले भी जाते है।

धार्मिक नाटककारों मे कथावाचक पं० राधेश्याम और नारायण प्रसाद 'बेताब' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'श्रीकृष्ण अवतार' 'रुक्मिणी मंगल' और 'वीर अभिमन्यु' पं० राधेश्याम के नाटको में अच्छे गिने जाते हैं। बाबू नारायण प्रसाद के नाटकों में 'रामायण, और 'महाभारत' प्रधान हैं। ये नाटक रंगमंच के तो बहुत उपयुक्त हैं, किन्तु इनमें साहित्यिकता कम है, उर्दू का पुट है और हिंदी की नाटकीय

भाषा का विकास नहीं दिखाई देता। हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इन के द्वारा हिंदी को रंगमच पर स्थान मिल गया और उर्दू के नाटकों का बोलबाला न रहा। बाबू हरिकृष्णजौहर के सामाजिक नाटक अच्छे हैं। कृष्णचंद के नाटकों में राजनीतिक पुट है किन्तु इनमें उर्दू-पन अधिक है। व्याकुल जी का 'बुद्धदेव' नाटक रंगमंच की दृष्टि से बहुत अच्छा है।

साहित्यिक दृष्टि से बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का कार्य बहुत सराहनीय है। 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख' आदि उनके कई उच्चकोटि के नाटक हैं, जिनमें उन्होंने अपनी गवेषणा-शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। इनके नाटक कलामय होते हुए भी अत्यन्त क्लिष्ट हैं और साधारण रंगमंच के योग्य नहीं रहते। उसमें ऐसे क्लिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया गया है जो किसी विवेचना-पूर्ण ग्रन्थ के योग्य हो सकते हैं, किन्तु वे साधारण रंगमंच के दर्शकों की गति से बाहर हैं। उनमें प्रसाद गुण की कमी है। उनके लिए विशेष रंगमंच, अभिनेताओं और सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत दर्शकों की आवश्यकता है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी उनमें हमको प्राचीन सभ्यता की अच्छी झलक मिलती है। प्रसाद जी के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्वों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उन नाटकों के गीत और सूक्तियाँ साहित्य की एक विशेष निधि हैं।

प्रसाद जी के अतिरिक्त पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीयुत जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद', पं० गोविन्दवल्लभ पंत तथा श्रीयुत हरिकृष्ण 'प्रेमी' आदि कई सज्जनों ने अच्छे-अच्छे नाटक लिखे हैं। भट्ट जी के नाटकों में हास्यरस का पुट अधिक है। पं० माखनलाल जी का 'कृष्णार्जुन युद्ध'; 'मिलिंद' जी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', पंत जी के 'वरमाला' और 'राजमुकुट' और प्रेमी जी के 'रक्षा-बंधन', 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध' आदि नाटक साहित्यिक दृष्टि से अत्युत्तम होने के साथ रंगमंच की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते

हैं। हिन्दी जगत् में इनका आदर हुआ है और साहित्य-समितियों द्वारा इनमें से कई नाटक समय-समय पर खेले भी गये हैं।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों में हास्य की मात्रा अधिक है। किन्तु वह हास्य अधिकांश में धौल-धप्पे और हास्यमय परिस्थितियों के उपस्थित करने का है। पं० रामनरेश त्रिपाठी जी का 'जयन्त' और श्री सुमित्रा नदन पंत का 'ज्योत्स्ना' नाटक साहित्यिक दृष्टि से उत्तम निकले हैं। पं० पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' और 'अपराधी' नामक सामाजिक नाटक लिखे हैं। वे यूरोपीय ढंग पर लिखे गए हैं, पद्य का इनमें बिलकुल अभाव है। रंगमंच पर खेलने के लिए वे बहुत उपयुक्त हैं। अब बिलकुल आधुनिक नाटक प्रायः वर्तमान समस्याओं से संबंध रखते हैं। वे आकार-प्रकार में भी छोटे से होते हैं। उनमें रंगमंच के संकेत भी विस्तृत होते हैं। ये उपन्यासों के वर्णन का स्थान लेते हैं।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'संन्यासी','राक्षस का मंदिर', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' आदि समस्यात्मक नाटक अच्छे हैं। सेठ गोविंददास जी ने 'उषा', 'हर्ष', 'नवरस', 'कुलीनता' आदि कई नाटक लिखे हैं। 'प्रकाश' के प्रारम्भ में थोड़ा प्रतीकवाद (Symbolism) से काम लियागया है और उसमें वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनोंका अच्छा विवरण है। सेठजी के नाटकों की संख्या बढ़ती ही जाती है। प्रसाद जी कृत 'कामना' की भाँति श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत 'छलना' आदि कई नाट्य रूपक भी लिखे गये हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'स्वर्ग की झलक' और उदयशंकर भट्ट का 'कमला' नये ढंग के नाटकों के अच्छे उदाहरण हैं। भट्टजी ने पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त 'विश्वामित्र' आदि कई गीति-नाट्य भी लिखे हैं। आपके नवीन नाटकों में कुमार-सम्भव' बहुत कलामय है। उसमें आचार और कला की प्रतिद्वन्द्विता में कला को प्रधानता दी गई है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा ने कुछ एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

'पृथ्वीराज की आँखें' नाम के संग्रह में उनके एकांकी नाटक प्रकाशित हुए हैं। हाल में 'रेशमी टाई' और 'चारुमित्रा' नाम के दो एकांकी संग्रह निकले हैं। उनका 'अट्ठाईस जुलाई की शाम' नामक नाटक कई कालेजों में सफलता पूर्वक अभिनीत हो चुका है। श्रीभुवनेश्वर प्रसाद के एकांकी नाटकों का संग्रह 'कारवाँ' के नाम से निकला है। इन महानुभावों के अतितिक्त सर्वश्री सुदर्शन, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीश चन्द्र माथुर आदि कई ख्यात-नामा लेखक हिंदी के इस अंग की पूर्ति कर रहे हैं। समय की बचत और अभिनय की सुगमता के कारण एकांकी नाटक बहुत लोक-प्रिय होते जाते हैं। रेडियो नाटक भी प्रायः एकांकी होते हैं, किन्तु उनका शिल्प-विधान कुछ भिन्न होता है।

नाटक की अभिनय-योग्यता उसकी उत्तमता की कसौटियों में से है, क्योंकि उसमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुकरण रहता है और नाटक का अर्थ ही नट से संबंध रखने वाला है। नाटककार की यही विशेषता है कि वह जीवन की नकल चलते फिरते सजीव रूप में बोलते-चालते मनुष्यों द्वारा कराता है। नाटक की अभिनयात्मक सार्थकता रंगमंच पर ही हो सकती है। रंगमंच पर ही लेखक को पता चलता है कि वह जीवन की प्रतिलिपि उतारने में कहाँ तक सफल रहा, किंतु खेद की बात है कि रंगमंच के सम्बन्ध में जो कमी श्री बाबू हरिश्चन्द्र के समय में थी, वह प्रायः अब भी है। यथार्थ बात तो यह है कि रंगमंच की उससे भी अधिक शोचनीय अवस्था है। उस समय की साहित्य-समितियों द्वारा कई नाटक खेले अवश्य गये थे, किन्तु शिष्ट समाज में नाटक खेलने की प्रथा ने जड़ नहीं पकड़ी और अशिष्ट समाज से उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। अशिक्षितों के हाथ में साहित्यिक नाटकों की साहित्यिकता जाती रहती है। हिंदी-नाटकों का रंगमंच से विच्छेद रहा, इसका कारण यह भी है कि रंगमंच एक व्यवसाय का विषय हो

गया है और जिस सिमय हिंदी बोलने वाले प्रदेशों में रंगमंच का पुनर्जीवन हुआ उस समय उर्दू की तूती बोल रही थी, ('अमानत' का 'इन्दर सभा' उर्दू का पहला नाटक था)। नाटयशालाओं के केन्द्र कलकत्ता और बम्बई में थे। कलकत्ता में नाटकगृहों के होने के कारण १८०५ में ही एक बँगला नाटक खेला जा चुका था। बंबई में यह रोज़गार पारसियों के हाथ में था। उन्होंने उर्दू नाटकों को ही अपनाया। उस समय देश में जाग्रति कम थी, हास विलास, नाचरंग, चमकते-दमकते पट पाटांबर ही में जनता की रुचि थी। अब देश में जाग्रति हुई है। भाषा की शुद्धता और शक्ति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अभिनय में मनोविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

प्राइवेट नाटक मंडलियाँ एक सीमित वृत्त में ही काम कर सकीं, वे जनता की रुचि आकर्षित करने में असमर्थ रहीं। पीछे से व्याकुल, बेताब, हश्र, राधेश्याम आदि महानुभावों के प्रभाव से हिंदी नाटकों को व्यावसायिक कंपनियों में स्थान मिला। सन् १९१३ में बेताब का महाभारत नाटक खेला गया, वह बहुत लोक-प्रिय हुआ। हश्र के श्रवणकुमार, गंगावतरण आदि नाटकों ने विशेष ख्याति पाई।

हिंदी नाटकों को रंगमंच पर स्थान मिला ही था कि सिनेमा का आविर्भाव हो गया और इस कला ने नाटक-मंडलियों को बहुत आघात पहुँचाया, यद्यपि कला की दृष्टि से सिनेमा नाटक से पीछे है तथापि सिनेमा लुभाने के कारण अधिक लोकप्रिय हो रहा है। नाटक जीवन का अनुकरण है; सिनेमा अनुकरण का भी छायारूप है। वह वास्तविक रूप से दो श्रेणी हटा हुआ है। किंतु लोग इस बात को नहीं सोचते। इंगलिस्तान में नाटक अब भी लोक-प्रिय है। वहाँ पर जीवन के उल्लास की कमी के कारण अभिनय की ओर रुचि अधिक नहीं है। हिंदी में भी रवि बाबू जैसे महानुभावों की आवश्यकता है जो अपनी कृतियों के अभिनय में भी योग दे सकें। हिंदी भाषा को ऐसे नाटक-

कारों की आवश्यकता है जो समाज के सूक्ष्म निरीक्षक हों, जो मनोविज्ञान के पंडित हों, जो स्वयं अभिनय में कुशल हों, संगीतज्ञ हों, जो रंगमंच के मर्मज्ञ हों और उसके सब नियमों से अभिज्ञ हों, भाषा पर जिनका प्रभुत्व हो और जो साधारण गद्य में कविता के प्रभाव के साथ शक्ति, सुबोधता, और भाव-गांभीर्य ला सकें। अब नाटक की उत्तमता कथावस्तु (प्लाट) की पेचीदगी में नहीं रही, वरन् मानवी-प्रकृति की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं के उद्‌घाटन में है। हर्ष की बात है कि हमारे नाटककार इस ओर ध्यान दे रहे हैं।

---

२८. छायावाद और रहस्यवाद

उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उन्नति ने संसार को चकाचौंध में डाल दिया था। वैज्ञानिक सत्य ही ध्रुव सत्य समझा जाने लगा। इन्द्रिय-गोचर होना ही वास्तविकता का मान-दंड बन गया। पश्चिमी वैज्ञानिकता का प्रभाव बेचारे बूढ़े भारत पर भी पड़ा। यहाँ भी चारों ओर वैज्ञानिकता की दुहाई दी जाने लगी। उपयोगितावाद की तूती बोलने लगी। सब चीज़ों का मूल्य रुपया-आना-पाई में, आँका जाने लगा। संसार में भौतिकता का प्राधान्य होगया। वस्तु के बाहरी आकार-प्रकार के अतिरिक्त और कुछ न देखने की प्रवृत्ति शिक्षा और विदग्धता की कसौटी मानी जाने लगी।

हिंदी-साहित्य के द्विवेदी युग में इसी इतिवृत्तात्मकता का बोलबाला था। किंतु मनुष्य का हृदय संकुचित वादों की अपेक्षा कुछ विशाल है। उसकी दृष्टि इंद्रिय-गोचर जगत में सीमित नहीं रहती। हम इस संसार में विदेशी की भाँति नहीं हैं। हम उसकी भावानुकूल भाषा समझ सकते हैं। निर्झर में हमें संगीत सुनाई देता है, गुलाब के फूल में स्वास्थ्य और सौन्दर्य की द्योतक किसी रमणी की मुखश्री की आरक्त

आभा दिखाई देती है। संध्या-सुन्दरी चुप-चाप परी की भाँति आकाश से उतरती दिखलाई देती है, प्राची की स्वर्ण-आभा आशा का संदेश लाती है। कलियाँ खिलकर प्रकृति के हृदयोल्लास का परिचय देती हैं। हिम-कण हमारे साथ रोते हुए दिखाई पड़ते हैं। जमुना की लहरों में भावुक हृदय को अतीत की आकुल तान सुनाई पड़ती है। इस प्रकार कवि-हृदय प्रकृति के सुरम्य राग से स्पंदित हो उठता है। उसके लिए प्रकृति मनुष्य से संबंध करने के लिए आकुल दिखाई पड़ती है।

आधुनिक कवि उपयोगितावाद से ऊब कर प्रकृति की कटी-छटी सीमाओं को पार कर प्रकृति में मानवता के दर्शन करने लगा है। वह इस बात का अनुभव करता है कि प्रकृति की सार्थकता उसके अस्तित्वमात्र में नहीं है। प्रकृति को गोचरता की सीमा में न बाँधकर उससे आत्मीयता स्थापन करने तथा किसी वस्तु को उपयोगिता मात्र के दृष्टि-कोण से न देखकर उसको भावुकता की कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति को ही छायावाद कहते हैं। यह प्रवृत्ति विस्तारोन्मुखी है। यह प्रवृत्ति आत्मा के प्रकृति के बंधनों से मुक्त होने तथा आत्मा के राज्यविस्तार की घोषणा है। इस प्रकार से छायावाद एक स्वातंत्र्य-भावनामयी शैली का नाम हो गया है।

यहाँ पर छायावाद नाम पर प्रकाश डाल देना अप्रासंगिक न होगा। आचार्य शुक्ल जी ने छायावाद शब्द को 'Phantasmata' अर्थात् छायाभास से निकला हुआ बतलाया है इसके अनुकूल वास्तविक संसार एक विचारमय संसार की छायामात्र रह जाता है। कविवर जयशंकर 'प्रसाद' जी ने बतलाया है कि प्राचीन संस्कृत काव्य में छाया मोती की आभा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। छायावाद का उसी छाया से संबंध है जो वस्तु का मूल्य बढ़ा देती है।

संभव है कि छायावाद को लोगों ने उसकी ईषत् अस्पष्टता के कारण इस नाम से पुकारा हो और फिर वह नाम प्रचलित हो गया हो।

कुछ भी हो इसमें छाया की-सी कोमलता और स्वप्नमयता रहती है। छायावाद कोरे वस्तुवाद से संतुष्ट नहीं रहता, वह वस्तु में एक आध्यात्मिकता और स्थूल में सूक्ष्म की स्वप्निल आभा देखत. है।

छायावाद ने अपनी इस सूक्ष्म और स्वप्नप्रियता के अनुकूल एक शैली बना ली है। उस शैली की विशेषताओं में से मूर्त की अमूर्त से तुलना करना, मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय अलकारों का महत्त्व, सुन्दर शब्द चित्रण, भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों का प्राचुर्य और छन्द की स्वच्छन्दता मुख्य हैं। शैली की इस नवीनता के अतिरिक्त छायावाद में बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को अधिक स्थान दिया गया है और वह कोरे वस्तुवाद से जरा ऊपर उड़ना चाहता है। छायावाद ने वासना के कर्दम से युक्त सौंदर्य को शुद्ध निर्मल रूप दिया और इसी के साथ हमारा ध्यान विश्व में एक व्याप्त चेतना की ओर आकर्षित किया।

मनुष्य का हृदय न केवल प्रकृति ही से सामंजस्य स्थापित करना चाहता है, वरन् वह प्रकृति और मनुष्य दोनों का ही एक इंद्रियातीत सत्ता में समन्वय करने को उत्सुक रहता है। वह फूल में अपने यौवन का ही प्रतिबिंब नहीं देखता वरन् वह बिंब और प्रतिबिंब के मूल स्रोत तक पहुँच कर उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा करता है।

जिस प्रकार प्रकृति की गोचर-सीमाओं को पार कर उसमें दृश्यमान इति-वृत्तात्मक भौतिकता की अपेक्षा एक अलौकिक अगोचर भावुकता के दर्शन करने की प्रवृत्ति को छायावाद कहते हैं, उसी प्रकार दृश्य संबंधों के अतिरिक्त एक लोकोत्तर सत्ता के साथ संबंध-स्थापना की प्रवृत्ति को रहस्यवाद कहते हैं। छावावाद जिस प्रकार प्रकृति को मनुष्य के संबंध में लाता है, रहस्यवाद उसी प्रकार मनुष्य तथा मनुष्येतर जगत् को उससे अतीत करने वाली श्रेष्ठ-तम सत्ता के साथ संबंधित करता है। वह ससीम और असीम का एक प्रकार से समन्वय करता है। छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही दृश्य की संकुचित सीमाओं को पार करने की ओर अग्रसर होते हैं।

वर्तमान की अपूर्णता, उसका अस्थायित्व, उसका सूनापन, मनुष्य को वर्तमान को अतीत करने वाली सत्ता की ओर ले जाता है। वह सत्ता चाहे अपने ही आध्यात्मिक आनन्द में मिल जाय और चाहे वह अपने से पृथक् ईश्वर की हो, किन्तु उसका विचार मनुष्य को वर्तमान की क्षुद्र सीमाओं के ऊपर ले जाता है। छायावाद में केवल भावुकता ही रहती है, रहस्यवाद भावुकता से कुछ ऊपर जाता है और उसमें सान्त और अनन्त और नश्वर तथा शाश्वत का सम्मिलन रहता है।

रहस्यवाद का विषय बुद्धि और तर्क से परे एक अलौकिक अनुभव है। बुद्धि और तर्क दर्शन शास्त्र के घेरे से बाहर नहीं जाते। यह अनुभव गूँगे के गुड़ की भाँति अवर्णनीय होता है।

केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाय।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाय॥

भक्त के अनुभव को 'मूकास्वादवत्' कह कर नारदमुनि ने भी उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार की है।

यद्यपि 'रहस्यवाद' शब्द नया है, क्योंकि पुराने लोग वादों में नहीं पड़ते थे; तथापि प्राचीन लोगों ने ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध को रहस्य ही कहा है। गीता में भी यह ज्ञान परम गुह्य कहा गया है—

'इदं हि ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।'

रहस्यवाद अंगरेज़ी शब्द मिस्टिसिज़्म का अनुवाद है। बंगाल में रहस्यवादियों को मर्मी कहते हैं, क्योंकि ये लोग तत्त्व या मर्म को जानने की कोशिश ही नहीं करते वरन् उसका अनुभव करते हैं। मुसलमानों में रहस्यवादी लोग 'सूफ़ी' (अर्थात् सूफ़ या मोटी ऊन पहनने वाले; यह नाम उनके सादे और त्यागमय जीवन के कारण पड़ा था) कहलाते थे। रहस्यवाद का इतिहास पुराना है। उपनिषदों से लेकर मध्यकालीन सन्तों में होती हुई आधुनिक काल तक यह धारा कभी अविरल रूप से और कभी-कभी कुण्ठित गति से बहती चली आई है।

रहस्यवाद का वर्ण्य विषय यद्यपि भाषा का विषय नहीं (कुछ यूनानी मर्मी लोग तो मौन ही रहा करते थे), तथापि हृदय की बात बिना प्रकाश में आये नहीं रहती। आनन्द का सागर जब उमड़ता है तब उसका प्रभाव किसी न किसी भाषा में व्यक्त होता ही है। गूँगा भी सैना-बैना से काम लेता ही है। कभी-कभी उद्वेलित हृदय की भावनाएँ मीरा के से गीतों में प्रकाश पाने लगती हैं। यद्यपि वह सत्ता वाणी की पकड़ में नहीं आती 'एक कहूँ तो है नहीं, दोय कहूँ तो गारि'; तथापि बिना कहे हृदय की उमंग पूरी नहीं होती। कबीर ने उसे बोल और अबोल के बीच में कहा है—'बोल-अबोल मध्य है सोई।' बात यह है कि 'बोलत बोलत तन्त नसाई', उसी के साथ यह भी है कि जिसका मन आनन्द से भर जाता है उस से बिना बोले रहा भी नहीं जाता—'बिन बोले क्यों होई बिचारा।' प्रेम की पूर्ण व्यंजना तो नहीं होने पाती, 'याही सों अधखिली रही यह प्रेम कली है', तो भी कुछ न कुछ व्यंजना अवश्य होती है। भावाधिक्य के ही कारण रहस्यवाद की भावनाओं का प्रस्फुटन कविता में हुआ है और भाषा की अपूर्णता के ही कारण संकेतों का प्रयोग करना पड़ता है। नश्वर स्वर में अनश्वर के गीत गाना कठिन होता है; इसीलिए मनुष्य अपने नश्वर अनुभव की सांकेतिक भाषा में अलौकिक भावों को व्यक्त करता है। सांकेतिक भाषा के दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा, एक कबीर का, दूसरा सूरदास का—

> काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी
> तेरे ही नाल सरोवर पानी।
> जल में उत्पति जल में वास
> जल में नलिनी तोर निवास।

यहाँ पर जल परमात्मा है, नलिनी जीव है। जल में रहकर भी नलिनी का दुखी होना आश्चर्य की बात है। यह उदाहरण कबीर की

तन्मयता और अनुभूति नहीं है तथापि हमारे वर्तमान कवियों ने भी अपनी कल्पना के सहारे आध्यात्मिक मिलन और वियोग का अच्छा वर्णन किया है। इन वर्णनों में अनुभूति का आभास अवश्य है। आजकल वियोग के दुःख का अनेक रूप से वर्णन किया जाता है। महादेवी जी तो वियोग को ही सुख मानती हैं—

युग युगान्तर की पथिक मैं, छू कभी लूँ छाँह तेरी।
ले फिरूँ सुधि दीप सी, फिर राह में अपनी अँधेरी॥

हम आज-कल के कवियों में दोनों प्रकार के अर्थात् द्वैतमूलक व्यक्तित्वपूर्ण मिलन तथा व्यक्तित्व खोने वाले मिलन के वर्णन पाते हैं। व्यक्तित्वपूर्ण मिलन का उदाहरण लीजिए—

आनन्द बन जाना हेय है
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

श्रीमती महादेवी वर्मा अपने को खो देने में ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार॥

श्री सुमित्रानन्दन पंत के 'परिवर्तन' में हम प्रकृति-संबंधी रहस्यवाद की अच्छी झलक देखते हैं।

वर्तमान काल में रहस्यवाद और छायावाद का दुरुपयोग अवश्य हुआ है। रहस्यवाद की भाषा भी रूढ़ि-ग्रस्त हो गई है। सभी लोग हृदयतंत्री के टूटे तारों से अनन्त का राग अलापते हैं, किन्तु कुछ कवियों के काव्य में कवित्व के दर्शन अवश्य होते हैं। यदि रहस्यवाद में खराबी है तो इतनी ही है कि कुछ लोगों ने उसे कविता का एक मात्र विषय बना लिया है और इससे सम्बन्ध रखने वाली वर्तमान कविता जीवन से बहुत दूर हो गई है। पृथ्वी को छोड़ कर आकाश में उड़ना उचित नहीं है।

वायुयान भी पहले धरातल पर चलकर फिर आकाश में उड़ान लेता है। जीवन के क्षेत्र काव्य के क्षेत्र के साथ अधिक विस्तृत हैं। काव्य को रहस्यवाद में ही संकुचित करना उसके साथ अन्याय करना है। हर्ष की बात है कि अब हमारे छायावादी कवि जीवन की ओर भी झुक रहे हैं। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पंत जी का जीवन की ओर झुकाव अधिकाधिक होता गया है। वर्तमान रहस्यवाद अनुभूति-पूर्ण न होता हुआ भी निरीश्वरवाद और भौतिकवाद से अच्छा है, इस लिए हमको उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

---

२६. आदर्श और यथार्थ

कवि को प्रजापति कहा गया है—'अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। वह विश्वामित्र की भाँति नई सृष्टि अवश्य रचता है किन्तु वह बहुत अंश में ब्रह्मा की ही सृष्टि की अनुकृति होती है। जहाँ उसको कुछ कमी, असामञ्जस्य या अन्याय दिखाई देता है वहीं वह अपनी रचना को अपने आदर्शों के अनुकूल सुधार लेता है। महाभारत के शकुन्तला के आख्यान को यदि हम इतिहास मानें तो कालिदास की रचना को हम कवि की सृष्टि कहेंगे। महाभारत में दुष्यन्त शकुन्तला को लोकापवाद भय से स्वीकार नहीं करता है। यह बात कालिदास को सच्चे प्रेम के आदर्श के विरुद्ध प्रतीत हुई। उन्होंने दुष्यन्त में गांधर्व विवाह की विस्मृति उत्पन्न करने के लिए ऋषि दुर्वासा के शाप की कल्पना की। दुष्यन्त को बिना दोषी ठहराये करुणा की सृष्टि हो गई। इस प्रकार कवि संसार की जैसी की तैसी अनुभूति नहीं करता वरन् वह उसको मनोनुकूल बना लेता है। कवि या कलाकार संसार को कहाँ तक जैसा का तैसा चित्रित करता है और कहाँ तक उसको मनोनुकूल बनाने के लिए परिवर्तित कर देता है इस आधार पर कवि-संसार में दो वाद खड़े हो गये।

कुछ लोग याथातथ्य अनुकृति को महत्त्व देते और कुछ उस में मनोनुकूल हेर-फेर करने के पक्ष में रहते हैं। साहित्य में दोनों ही प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। एक को यथार्थवाद कहते हैं, दूसरे को आदर्शवाद। दोनों की सीमा-रेखाओं पर विवाद चलता रहता है। इस विवाद में अपना मत निश्चित करने के पूर्व हमको इन के सम्बन्ध में कुछ निकट की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

यथार्थ वह है जो नित्य-प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य और धूप-छाँह और सुख-दुख मिश्रित रहता है। यह सामान्य भावभूमि के समतल रहता है और वर्तमान की वास्तविकता में सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ग के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तु हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं। भविष्य उसके लिए कल्पना का खेल है। वह संसार के हाहाकार और करुणा-क्रन्दन का याथातथ्य वर्णन करता है। वह कठोर सत्य को कहने में नहीं हिचकिचाता। वह वास्तविकता के नाते संसार में पाप और बुराई का विजय-घोष करने में संकुचित नहीं होता। वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित ही देखना चाहता है। वह उसे तपा गला कर और उसमें चमक उत्पन्न कर लोगों को चकाचौंध में नहीं डालना चाहता।

दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न द्रष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरी न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिए उत्सुक रहता है। वह पृथ्वी के नरक से ऊँचा उठकर कल्पना के स्वर्ग में पहुँच जाना चाहता है। यदि वर्तमान दुःखमय है तो वह उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। आदर्श का सम्बन्ध उधार धर्म से है; यथार्थ का सम्बन्ध नकद धर्म से है। वह आज के कबूतर की अपेक्षा कल के मोर को पकड़ना चाहता है। वह आशावादी होता है और आशा

के एक विन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है। नक्षत्र उसको मौन निमंत्रण देते और आशा का संदेश भेजते हैं। सावन के अन्धे की भाँति उसको सब हरा ही हरा दीखता है।

इन वादों के सम्बन्ध में हमारे साहित्यिकों के विभिन्न मत हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है, "ये दोनों साहित्य की चित्रण-शैली के दो स्थूल विभाग मात्र हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलंबित रहती हैं। कला की सौन्दर्य-सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" यहाँ पर वाजपेयी जी ने इन दोनों वादों के प्रयोग का पूर्ण भार लेखक पर ही डाल दिया है। यहाँ आलोचक का कोई माप-दण्ड काम नहीं दे सकता। इस दृष्टिकोण से कोई भी रचयिता दोषी नहीं कहा जा सकता।

स्वर्गीय प्रसाद जी "जीवन की अभिव्यक्ति" को ही यथार्थवाद मानते हैं। उनके लिए "अभावों की पूर्ति" ही आदर्शवाद है।

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द जी कोरे यथार्थवाद का विरोध करते थे। वे "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" के एक बहुत बड़े पृष्ठपोषक थे। उनका कहना था कि "यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है।"

श्री शिवदान सिंह जी आदर्शवाद को "पलायनवाद" मानते हैं। उन्होंने गोरखपुर में अध्यक्ष के पद से 'कथा-साहित्य' पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "पलायन का साहित्य और चाहे जो कुछ हो, प्रथम कोटि का नहीं हो सकता।" परन्तु यह बात कुछ असगत-सी प्रतीत होती है। कौन कहता है कि हिन्दी-साहित्य के पलायनवादी लेखक विस्मृति के गर्त में चले गये। स्वर्गीय प्रसाद जी तथा सुश्री महादेवी जी का काव्य आज के यथार्थवादी लेखकों से अब भी महान् है। भावों की गहराई, अनुभूति की तीव्रता और व्यंजना की धूप-छाँह के लिए हम आज भी ऐसे ही साहित्यिकों की शरण में जाते हैं।

आधुनिक प्रगतिवादी लेखक भी यथार्थता के पक्ष में ही सम्मति देते हैं। निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के किसी भी युग में यथार्थवाद की इतने आग्रह से माँग नहीं की गई जितनी कि आज के युग में।

इन दोनों वादों को अपने अपने क्षेत्र और सीमाएँ हैं। गुण और अवगुण दोनों में विद्यमान हैं। इसका भी विवेचन कर लेना आवश्यक है। इन दोनों वादों की गुणग्राहकता समय की माँग पर निर्भर है। आदर्श समय की आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक वस्तु गतिशील होनी चाहिए, नहीं तो वह जड़ हो जाती है। आदर्श का मनुष्य की पकड़ से जरा बाहर होना वांछनीय है। A thing should exceed one's grasp—परन्तु इतनी मात्रा में नहीं कि वे लोमड़ी के खट्टे अंगूर हो उठें।

आदर्शवाद के अनेक गुण हैं। इसमें चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्यवस्था, परिष्कार, औचित्य एवं भूत, भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव रहता है। प्रत्येक समय की परिस्थितियाँ अपना आदर्श स्वयं गढ़ लेती हैं। हिन्दी और अन्य देशों के साहित्य इसके उदाहरण हैं। प्राचीन साहित्य प्रत्येक देश का संघर्षपूर्ण है। युद्धकालीन समय का आदर्श वही हो सकता है जो वीर, साहसी, धीर और पराक्रमी हो। उसमें असाधारण बल हो। नीति और न्याय में पारंगत हो। आँग्ल-साहित्य में आर्थर (Arthur) की असाधारण और अलौकिक गाथाएँ और ऐल्फ्रेड (Alfred) की वीरता इसके उदाहरण हैं। यूनान का पूरा साहित्य रोमन युद्धों का सवाक् चित्रपट है। वहाँ एटलस (Atlas) ने पृथ्वी को कंधे पर उठा लिया था। ट्राय के योद्धा अमर हो गये। फ़ारस के सोहराब और रुस्तम की वीरता भी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारतीय साहित्य की वीरगाथायें और डिंगल का चारण-काव्य भी इसी के द्योतक हैं। हमारे प्राचीन महाकाव्य प्रायः सभी आदर्शवादी हैं। महाभारत और रामचरितमानस अनेक आदर्शों के समन्वय हैं। अपने

अपने चरित्रादर्शों की लंबी सूची है। भक्ति काल में राम न्यायप्रिय धर्मावलंबी वीर पुरुष के आदर्श थे। उस समय ऐसा ही अवतार चाहिए था। कृष्ण को अपने समय की आवश्यकताओं ने गढ़ा था और इसीलिए वह राम से भी चार पग आगे थे। ये सब आदर्श ऐसे थे जिनका अनुसरण करके मनुष्य इस लोक को तो क्या उस लोक तक को बना सकता था।

आदर्श में परोक्ष का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इतना सब कुछ होते हुए भी इन आदर्शों में कभी-कभी कुछ न्यूनताएँ आ जाती हैं। इनके अपने दोष भी हैं। कभी कभी यह क्लिष्ट, अस्वाभाविक, अयथाथतापूर्ण हो उठते हैं। धार्मिक संकीर्णता, प्रत्यक्ष उपदेश की प्रवृत्ति और वर्तमान जीवन से संबंध विच्छेद हो जाने पर आदर्श की महत्ता लोप हो जाती है।

दूसरी ओर यथार्थता के भी अपने गुण और दोष हैं। इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता, सुस्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम विद्यमान रहता है। परन्तु इसके लिए नग्न चित्रण आवश्यक नहीं। कल्पना का पुट आवश्यक है नहीं तो यथार्थता नीरस, अश्लील और अशान्ति की पोषक होकर पूर्णता अथवा औचित्य का विरोध करने लगती है। यथार्थ में सत्य का स्वरूप अवश्य रहता है, परन्तु कटु-सत्य बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। कोरी नामावली और घटनाओं का विशद वर्णन इतिहास हो उठता है।

दोनों के गुण और दोषों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों का सामंजस्य और समन्वय ही लाभकारी हो सकता है। दोनों एक दूसरे को पारस्परिक पूर्णता प्रदान करते हैं। Ruskin ने जैसा कहा है—"One completes the other and is completed by the other." इनकी व्यापकता काव्य के विविध रूपों में पाई जाती है। आदर्श यथार्थ को ऊँचा उठाता है और यथार्थ आदर्श को खोखला होने से बचाता

है। आदर्श पात्र हमारी न्यूनताएँ बताते हैं और सुधारों का निर्देश करते हैं।

प्रो० श्रीरंजन ने कहा है कि—"दोनों तत्त्व ही साहित्य-अभियान के दो पहिये हैं ·······उनमें से एक के अभाव में साहित्य कोरा शरीर अथवा निराधार प्राण ही रह जाएगा।" भारतीय संस्कृति के दो शब्द 'श्रेय' और 'प्रेय' का सम्मिलन ही श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी है।

"जीवन के स्थूल कठोर सत्य की उपेक्षा न करते हुए भी हम स्वभावतः परिशान्ति के लिए उत्सुक रहते हैं।" संघर्ष मानव-जीवन का अन्तिम साध्य नहीं हो सकता। वह तो किसी विशेष तत्त्व तक पहुँचने का एक साधन-मात्र ही है और रहेगा। हमें अगर दृढ़ता से पैर जमाने के लिए पृथ्वी चाहिए तो सिर पर छाया के लिए आकाश भी आवश्यक है। कलाकार केवल कल्पना को लेकर जीवित नहीं रह सकता। उसे कल्पना के आधार का चुनाव पृथ्वी की किसी जड़ या चेतन वस्तु से ही करना पड़ता है। उसके बाहर रह कर कलाकार केवल स्वप्नदर्शी हो सकता है, युग-निर्माता नहीं। कला की सुन्दर, संश्लिष्ट योजना के लिए हमें स्थूल का सहारा लेना ही पड़ेगा। पर केवल स्थूल के मोह से हम पृथ्वी पर ही लेटे नहीं रह सकते। पृथ्वी पर निर्मित अपनी रचना को हमें ऊपर उठाना ही पड़ता है। हमारे चालीस खंडों के गगन-चुम्बी प्रासाद आज इसी बात के सूचक हैं।

हमारे प्राचीन आदर्शवादी महाकाव्य में भी दोनों वादों का समन्वय है। उनमें आदर्श के साथ-साथ मानव-दुर्बलताएँ भी दिखलाई गई हैं। 'उत्तर रामचरित्र' में राम सीता का निर्वासन केवल आदर्श की स्थापना के लिए करते हैं; परन्तु वही राम साधारण कोटि में आ जाते हैं जब सीता का विरह-ताप उन्हें झुलसाए डालता है। 'रामायण' का 'राम-राज्य' सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना है, परन्तु वह भी आधुनिक राज्य-व्यवस्था की तुलनात्मक कमी बताता है। जब आदर्श की प्राप्ति हो जाती है तब वही यथार्थ बन जाता है। वही

पूर्णता है जहाँ हमारे भावों को विश्राम मिले। कविवर प्रसाद ने कहा है, 'जहाँ हमारी कल्पना आदर्श का नीड़ बना कर विश्राम करे वही स्वर्ग है।" आदर्श की प्राप्ति ही चरम सुख है।

कोरा यथार्थतावाद नीरस, शुष्क और रुग्ण हो उठता है। आज के साहित्य में इसका ही बोलबाला है। वे इस यथार्थ पर किसी प्रकार का भी आवरण नहीं चाहते। इसीलिए आज के प्रगतिवादी यथार्थतावादियों पर अश्लीलता का आरोप किया जाता है। इसकी प्रेरणा उन्हें अभारतीय साहित्य से मिली है। आंग्ल-साहित्य में बीसवीं शताब्दी का साहित्य इसका भंडार है। Thomas Hardy का कथन है,—"Let there be truth at last, even if despair." और इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वह जीवन भर अपने साहित्य में करता रहा। Mayor of Casterbridge का चरित्र यथार्थता के भँवर में पड़ी हुई वस्तु की मूर्ति है। Tess के संघर्षमय जीवन और बलात्कार की यथार्थवादिता के ही कारण वह उपन्यास दुखान्त है। Jude का चरित्र 'होरी' की प्रतिध्वनि है। प्रतिक्षण Jude कराह उठता है, परन्तु निरन्तर बढ़ा जा रहा है। 'होरी' की भाँति उस का अन्तिम निदान भी मृत्यु है। Shakespeare ने ठीक ही कहा है:—

"As flies to wanton boys
are we to gods,
They kill us for their sports."

यह सब तो रही विदेशी साहित्य की दिशा। 'यथार्थतावाद' के नारे को लेकर हमारे अपने साहित्य में भी कलाकार सतत प्रयत्नशील हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के समय में ही उन पर यह दोषारोपण किया गया था कि वे आदर्शवादी हैं। अच्छा हुआ वे उस समय जीवित थे और अपने आलोचकों की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करते रहे। साहित्य में प्रचलित यथार्थवाद की वे अधिकतर निंदा ही

करते रहे। वे मानते थे कि यथार्थवाद में हमारी दुर्बलताएँ भरी हैं और साहित्य में उन्हीं का चित्रण हमें निराशावादी बना देगा। उनका पात्र चक्रधर 'कायाकल्प' में कहता है,—"यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है, और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें, तो संसार नरक तुल्य हो जाए।" साहित्य का ध्येय ही मनुष्य का उत्थान है, पतन नहीं। आज के प्रगतिवादी आलोचक प्रेमचन्द जी की इस प्रवृत्ति को 'पलायन' मानते हैं, क्योंकि प्रेमचन्द जी यथार्थ का सामना नहीं कर सकते थे। परन्तु उनके उपन्यास के पात्र अधिकतर कर्मयुद्ध में आमरण जूझते हैं। कविवर प्रसाद भी यथार्थवाद को अभाव और 'लघुता' का द्योतक मानते हैं। निःसन्देह प्रेमचन्द जी में इस यथार्थ और आदर्श का पूर्ण समन्वय था। प्रसाद जी भी आदर्शवादी घोषित कर दिए गए हैं। परन्तु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी सिद्ध करते हैं कि वे यह सब कुछ नहीं थे। "हमारे युग में गुप्त जी आदर्शवाद और महादेवी जी यथार्थवाद की प्रवर्त्तक मानी जाती हैं।" आधुनिकतम कलाकार शुद्ध यथार्थतावाद का परिधान पहने हैं। इनमें शालीनता का अभाव है, जो साहित्य का एक आवश्यक अंग है। साहित्य का 'शिव' यथार्थता तथा आदर्श दोनों के ग्रहण में ही है। Addison और Victor Cousin के अनुसार कला की पूर्णता इन दोनों के सम्मिश्रण में ही है। Plato स्वयं आदर्शवादी ही थे और कलाकार के लिए इसको एक आवश्यक अंग भी मानते थे। इसके विरोध में Aristotle यथार्थवादी थे। परन्तु उनके माप-दंड में पर्याप्त हेर फेर हो गया है, और आज के लिए समन्वय की भावना में ही कल्याण है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यथार्थ का आधार सत्य है, तो कवि की कल्पना जिसका आधार भी कोई न कोई सत्य ही है, यथार्थ के ही अन्तर्गत आयगी या नहीं? कल्पना साहित्य-सृजन में मुख्य वस्तु है, यहाँ तक कि पन्त जी का कवि कल्पना को "ईश्वरीय प्रतिभा

का अंश" मानता है। सत्य से ही लगा हुआ सौन्दर्य है। सत्य सुन्दर अवश्य होगा। Keats का कथन है—

"Beauty is truth, truth beauty,
That is all ye know on earth,
And all ye need to know."

इससे ही निकटतम सम्पर्क में 'शिवं' का स्वरूप आता है। जो वस्तु सत्य और सुन्दर होगी, वह मंगलसूचक अवश्य होगी। आचार्य शुक्ल इसी को 'लोकमंगल और लोकाराधन' की भावना कहते हैं। साहित्य और कला की अधिष्ठात्री शारदा का भी ध्यान 'वीणापुस्तक-धारिणी' के रूप में होता है। हंस उनका वाहन है और वह नीर-क्षीर विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक है और वीणा 'सुन्दरम्' की। सुन्दर सत्य का ही परिमार्जित रूप है। पन्त जी का विचार है कि "सत्य शिव में स्वयं निहित है।" परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी कलाकार के सत्य को क्षुद्र निश्चित अगतिशील सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। वह संभावना के क्षेत्र के बाहर नहीं जाता और यही उसकी यथार्थता है।

आज हमें ऐसे साहित्य की रचना की आवश्यकता है जो आदर्श की सीमा को छूते हुए भी, जीवन के व्यवहार पक्ष की उपेक्षा न करे। जिसके वर्तमान अभाव के पीछे भावी का सुन्दर निर्माण निहित हो। आदर्श और वास्तविकता का यही मिलन साहित्य में उपयोगिता और सौन्दर्य की सृष्टि करता है। जीवन की सत्य अनुभूति और चेतना से शून्य कला स्वतः नष्ट हो जाएगी। "कला या साहित्य न तो हमारी ठोस भौतिक आवश्यकता की प्रतीक है और न काल्पनिक आदर्श की छाया मात्र।" वह तो जीवन के 'श्रेय' और 'प्रेय' का सुयोग है और इस सुयोग से सुसम्पन्न साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी पर खरा उतर सकता है।

३०. भक्ति-काव्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल को स्वर्ण युग माना गया है। इसी ने हिन्दी साहित्य-गगन के सूर और महत्त्व के मूल शशी उत्पन्न किये हैं। इस काल का काव्य कारण राज्याश्रित न रह कर या तो स्वान्तः-सुखाय लिखा गया या लोक-आश्रित रहा। इस काल की यह विशेषता थी कि इसके कवियों ने राज्याश्रय को ठुकराया। कुम्भनदास का 'सन्तन कहा सीकरी सों काम' अथवा तुलसीदास का 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' उस समय की विचारधारा के द्योतक हैं। एक बार तानसेन ने अकबर बादशाह के बहुत आग्रह करने पर उन्हें बैजूबावरे का गाना सुनवाया। अकबर को वह गाना बहुत पसन्द आया और तानसेन से पूछा कि तुम ऐसा गाना क्यों नहीं गा सकते। तानसेन ने उत्तर दिया—जहाँपनाह! मैं सिर्फ भारत के सम्राट् को खुश करने के लिए गाता हूँ और वे तीन लोक के शाहनशाह की प्रसन्नता के लिए गाते हैं। यही बात भक्तिकाल के काव्य के लिए भी कही जा सकती है। उस काल की कविता में कवियों ने अपने हृदय का रस घोला और अपने मन की मौज में गाया। कला वही है जो बाहरी प्रलोभनों से परे हो। हार्दिकता, विशाल मानवता-प्रेरित अद्रोह भावना, सांसारिक प्रलोभनों का तिरस्कार और अपने लक्ष्य की पूर्ति में काव्य-कला को साधन मात्र मानना, साध्य न बनाना, ये चार बातें भक्तिकाल की मूलगत विशेषताएं रही हैं और इन्हीं के कारण वह इतना मान्य हो सका है।

हिन्दी काव्य का स्वागत रण-भेरी की तुमुल तान से हुआ था। उस समय वीर-काव्य लिखा जाना स्वाभाविक ही था, किन्तु अपेक्षाकृत

शान्ति स्थापित हो जाने के पश्चात् काव्य का स्वर बदला। दोनों के पश्चात् शान्ति का वातावरण आता है। दोनों ही जातियों में समझौते और एक दूसरे के निकट आने की भावना उत्पन्न हुई। जो लोग इस पक्ष में नहीं थे उन में कम से कम संतोष और अद्रोह भावना के साथ भगवान पर भरोसा करने की प्रवृत्ति थी।

शाखाएँ

हिन्दुओं की ओर से जो मुसलमानों के साथ समझौते की प्रवृत्ति थी उसने निर्गुणवादी सन्त काव्य का रूप धारण किया। मुसलमानों को मूर्ति-पूजा से विशेष विरोध था, निर्गुणवाद में अवतारवाद और मूर्तिपूजा का बहिष्कार था, किन्तु व्यापक हिन्दू धर्म के ही ब्रह्मवाद का समर्थन, प्रतिपादन और प्रचार था। निर्गुणवाद में अवतारवाद का तो बहिष्कार सा हुआ किन्तु राम नाम की प्रतिष्ठा रही; इसीलिए वह थोड़ा बहुत लोकप्रिय हो सका—'सिरजनहार न ब्याही सीता जल पखान नहिं बाँधा'। निर्गुणवाद मुसलमानी अल्लाह-वाद से एक तो न था किन्तु उसके बहुत निकट था। उसमें कबीर जैसे कवि के काव्य में, जो दोनों ही संस्कृतियों में पले थे, कुछ मुसलमानी पुट भी आगया था। कबीर ने दोनों पक्षों का खण्डन कर एक दूसरे से न मिलाने वाले गर्व को दूर करना चाहा और राम रहीम की एकता का स्वर अलापा। किन्तु दोनों का खण्डन करने के कारण किसी एक में भी वे अधिक लोकप्रिय न हो सके। पर उनका गायन नितान्त अरण्य रोदन न रहा। उसका फल उनके पश्चात् अकबर की उदार नीति और वैष्णवों की शूद्रों के प्रति सहृदय भावना में दिखाई पड़ा।

कबीर ने यद्यपि अपने निर्गुण को प्रेम का विषय बनाया था और उस पर शृङ्गारिक आवरण भी चढ़ाया था तथापि वह आवरण उनकी 'झीनी बीनी चदरिया' की भाँति पारदर्शक रहा। शून्य की सेज शून्य ही रही और उनकी शृङ्गारिकता किसी के हृदय को स्पर्श न कर सकी।

मुसलमानों की ओर से जो समझौते का प्रयत्न हुआ वह सूफी-काव्य के रूप में जनता के सामने आया। सूफी लोग सदाशय और मुलायम तबियत के थे। ये गाने बजाने और कीर्तन के पक्ष में थे। ये भारतीय ब्रह्मवाद से प्रभावित थे और मंसूर जैसे तत्त्वदर्शी फकीर ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के अरबी रूपान्तर 'अनल हक' (मैं सचाई हूँ) की आवाज़ ऊँची उठाई थी। जायसी ने कबीर के ब्रह्म को कुछ अधिक सगुणता (साकारता नहीं) देकर लौकिक कथाओं के रूपकों द्वारा प्रेम के राजमार्ग से उस तक पहुँच कराने का प्रयत्न किया। यद्यपि ये कहानियाँ लोक-प्रसिद्ध थीं, तथापि इनमें लोक-हृदय को आकर्षित करने की वह शक्ति न थी जो चिर प्रतिष्ठित राम और कृष्ण में थी। सूफी मत का मुसलमानों में अधिक प्रभाव रहा। उसने एक सीमित क्षेत्र में उनकी कट्टरता दूर की। हिन्दुओं के हृदय में भी आकर्षण उत्पन्न किया किन्तु वह लोकव्यापी न हो सका।

तीसरी प्रवृत्ति जो सन्तोष और अद्रोह के साथ अपने इष्ट देवों के गुण-गान और उनके संरक्षण में विश्वास की थी वह भक्त-कवियों में प्रस्फुटित हुई। इसकी दो शाखाएँ हुईं, एक कृष्ण-भक्ति आश्रयी और दूसरी राम-भक्ति आश्रयी। पहली के प्रतिनिधि सूर थे और दूसरी के तुलसीदास। ये दोनों ही धाराएँ हिन्दू जीवन के साथ घुल-मिल गईं। राम और कृष्ण के लिए जनता के हृदय में स्थान था और काव्य के लिए वे लोक-आलम्बन बनने की क्षमता रखते थे। उनके आश्रय से कवि और पाठक के हृदय का सहज में तादात्म्य हो सकता था।

इस प्रकार भक्ति-काव्य की चार शाखाएँ हुईं—एक कबीर द्वारा प्रचारित निर्गुणवादी सन्तों की शाखा; दूसरी सूफियों की प्रेम-मार्गी शाखा, जिसका जायसी ने प्रतिनिधित्व किया। ये दोनों ही एक प्रकार से निर्गुण-परक थीं। सगुणोपासकों की दो शाखाएँ हुईं—एक सूर प्रभृति अष्टछाप के कवियों की कृष्णाश्रयी और दूसरी तुलसी प्रभावित राम-भक्ति-शाखा।

अन्विति

यद्यपि भक्ति-काल की चार शाखाएँ थीं तथापि उनमें एक विशेष अन्विति थी, जिसके कारण वे सब भक्ति के एक सूत्र में बँध सकीं। उनमें सब से पहले तो भक्ति की प्रधानता थी। कबीर ने ज्ञानोपासक होते हुए भी भक्ति को पर्याप्त महत्त्व दिया है 'और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निष्कर्म' तथा "कह कबीर हरि भक्ति बिनु मुकति नहीं रे मूल" आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। कबीर पर वैष्णव-धर्म का पर्याप्त प्रभाव था, उसी के कारण उन्होंने अहिंसावाद का प्रचार किया।

सूफियों का प्रेम तो भक्ति का एक व्यापक रूप ही था और भक्त कवि तो भक्ति को ही सर्वस्व मानते थे। वैसे भी इन चारों सम्प्रदायों के कवियों में एक विशेष आत्मोत्सर्ग और द्रवण-शीलता की भावना थी।

ईश्वर-भक्ति के अतिरिक्त गुरु-भक्ति का सूत्र चारों सम्प्रदायों में व्यापक था। कबीर ने गुरु को परमात्मा से भी बड़ा कहा है—

'कबिरा हरि के रूठते गुरु के सरने जाय।
कहि कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय।'

गुरु की महिमा को उन्होंने वर्णनातीत कहा है—

'सब धरती कागद करूँ लेखनि सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ गुरु गुन लिखा न जाय।'

जायसी ने भी अपने पद्मावत के आरम्भ में गुरु की बन्दना की है—

'सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन उजियारा।'

तुलसी ने राम-चरित मानस के प्रारम्भ में गुरु को नररूप हरि कहा है। (उसमें चाहे नरहरिदास की ओर भी संकेत हो) और 'बंदउँ गुरु-पद-पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' लिख कर गुरु के प्रति अचल भक्ति का परिचय दिया है। सूरदास जी ने तो सारी कृष्ण-लीला का गान गुरु के स्तवन रूप में ही किया था

(मैं तो सगरौ जस श्री आचार्य जी को ही वर्णन कियो है जो मैं कछु न्यारौ देखतो तो न्यारौ करतो)। फिर भी उन्होंने अन्त समय पर गुरुभक्ति का एक विशिष्ट पद गाया—

'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।'

तीसरी बात जो सब सम्प्रदायों में व्यापक रूप से वर्तमान थी वह थी नाम-महिमा—नाम को सभी ने महत्ता दी है, क्योंकि वह स्मरण रूपी साधना का प्रधान अङ्ग है। कबीर दास जी कहते हैं—

'जैसो माया मन रम्यो तैसो नाम रमाय।
तारा मंडल बेधि कै तबहिं अमरपुर जाय॥'

सूफियों में भी नाम की महिमा स्वीकार की गई है। तुलसीदास जी ने नाम को निर्गुण और सगुण का मेल कराने वाला कहा है। वास्तव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नाम में है; इसीलिए तुलसी ने उसे दोनों से बड़ा कहा है—

अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किये जेहि जुग निज बस निज बूते॥

तुलसी ने राम नाम को राम से बढ़कर ही माना है।

राम एक तापस तिय तारी। नाम खोटि खल कुमति सुधारी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी जैसे राम के अनन्य भक्त में भी नाम के द्वारा सगुण निर्गुण के समन्वय की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सूर ने भी नाम स्मरण का सहारा लिया है।

'जो पै राम नाम धन धरतो' 'रे मन कृस्न नाम कहि लीजै'
'कृस्न नाम बिनु जनम बाद ही, वृथा जिवन कहा लीजै'
'है हरि नाम को आधार'

आदि वाक्य सूर की नाम स्मरण में आस्था के साक्षी हैं।

भक्ति-काव्य में चौथी प्रवृत्ति वृथा आडंबर का तिरस्कार, समान भाव तथा दलित और पीड़ित की ओर दया भाव की है। कबीर का

साम्य भाव तो प्रसिद्ध ही है।

'गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा। मानो कहिए ब्राह्मन शुद्रा'
'एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राहण को शुद्रा'

किन्तु वैष्णव कवियों में भी शूद्रों के प्रति अपेक्षा-कृत कोमलता का भाव है। मर्यादावादी तुलसीदास जी ने वर्ण-भेद का तो आग्रह किया है, फिर भी उन्होंने रामभक्ति के नाते निषाद और शबरी को अपनाया है। सूर इस मामले में कुछ अधिक उदार हैं। देखिए—

कौन जाति को पाँति विदुर की जिन के प्रभु व्यौहारत।
भोजन करत तुष्टि घर उनके राज मान मद टारत
ओछे जनम करम के ओछे ओछे ही अनुसारत

× × × ×

स्वपच गरिष्ट होत (पद) रज सेवत,
बिनु गोपाल द्विज जन्म नसावत।

वर्णव्यवस्था में यद्यपि तुलसीदास जी ने विषमता को आश्रय दिया है तथापि उन्होंने पर-हित को सबसे बड़ा धर्म माना है—

'पर-हित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीड़न सम नहिं अधमाई'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति काल के सभी कवियों में हृदय की ईमानदारी, पाखण्ड और आडम्बर का द्वेष, समझौते और समन्वय की प्रवृत्ति तथा दीन और पापी के प्रति सहानुभूति का भाव था। इसीलिए वह काव्य सर्वमान्य हुआ।

सम्प्रदायों की विशेष देन—भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाएं लेकर अग्रसर हुए थे तथापि सब का जीवन से सम्बन्ध था। निर्गुणवाद भी लोक-पक्ष से वियुक्त न था। उसने हिन्दू-मुसलिम एकता तथा शूद्रों के प्रति सहानुभूति का बीजारोपण किया। जायसी ने लौकिक कहानियों को आध्यात्मिक महत्त्व देकर लोक-जीवन से सम्पर्क स्थापित किया और परमात्मा की प्रेम द्वारा प्राप्ति का सुन्दर मार्ग बतलाया। सूर ने भगवान कृष्ण की

बाल्य और यौवन काल की लोकानुरञ्जिनी लीलाओं का वर्णन कर जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्‌घाटन किया। "मैया, मोहि दाउ बहुत खिझायौ", 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' आदि स्वभावोक्तियों द्वारा जो बाल्य जीवन के चित्र खींचे वे किसी भी साहित्य के गौरव की वस्तुएं हो सकती हैं। सूर ने वास्तव में इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की सृष्टि कर दी है। भौतिक दृष्टि से भी 'जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नंद भामिनि पावै' की बात अक्षरशः चरितार्थ होती है। दाम्पत्य-जीवन के हर्षोल्लास की चरम परिणति नवजात शिशुओं के आमोद प्रमोद में है। सूर ने दाम्पत्यजीवन के उस सुख को मूर्तिमान करके दिखा दिया है।

कबहुँक दौरि घुटरुवनि लपकत, गिरत, उठत पुनि धावै री।
इतते नन्द बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री॥
दंपति होड़ करत आपस में, स्याम खिलौना कीन्हो री।

बाल्य-जीवन में जो पूर्ण साम्य-भाव है, उसको तुलसी भी अपनी गीतावली में नहीं ला सके हैं। किन्तु सूर ने उस साम्य भाव को चित्रित कर कृष्ण की बाल-लीला को पूर्णतया सजीवता प्रदान की है।

खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमसे बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातै, अधिक तुम्हारी हैं कछु गैयाँ।

उनके श्रृंगार-वर्णन में भी स्वस्थ जीवन की उछल-कूद है जो दैनिक कार्य-कलाप को सरसता प्रदान करती है। सूर का वियोग श्रृंगार संयोग की ऐन्द्रियकता से ऊपर उठ कर उस त्याग-प्रधान मानसिक पक्ष को अपना लेता है जिसमें अपने स्वार्थ का बलिदान कर प्रिय की मङ्गल कामना ही शेष रह जाती है। देखिए:—

फिर ब्रज बसहु गोकुल-नाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवों गोधन के साथ।

× × ×

करिहौं न तुम सो मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुम सों गान॥

× × ×

देहु दरसन नन्द नन्दन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छवि को मरत लोचन प्यास॥

सूर ने इस प्रकार जीवन के सौन्दर्य पक्ष की झाँकी दिखाकर मरणोन्मुख हिन्दू जाति में जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। शासकों के हृदय में भी उसका मूल्य बढ़ाया और उसकी संरक्षणीयता में विजित और विजेता दोनों में ही विश्वास उत्पन्न किया।

जिस जीवन का सहज सौंदर्य सूर ने दिखलाया, उसके कर्तव्य-पूर्ण लक्ष्य की ओर तुलसी ने ध्यान आकर्षित किया।

सूर ने जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की तो तुलसी ने उसके उत्थान की ओर प्रयत्न किया। उन्होने कोरे उपदेश ही नही दिये वरन् सौन्दय, शील और शक्ति के समन्वित जीवन का ऐसा जीवित आदर्श उपस्थित किया जो आपने भक्तों के जीवन में कर्तव्य-पूर्ण उत्थान और उन्नयन उपस्थित कर सकता है। शील के उपदेश से शील का उदाहरण कहीं अधिक महत्व रखता है। तुलसी ने उपदेश और उदाहरण दोनों से हिन्दू जाति और धर्म का उत्थान किया तथा शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के पारस्परिक द्वेष को मिटा कर हिन्दू जाति को अधिक संगठित बनाया।

तुलसी ने जीवन के सभी संबंधों का (भाई भाई, पति-पत्नी, माता-पुत्र, राजा-प्रजा, शरण्य और शरणागत) मनोवैज्ञानिक चित्रण कर हिन्दी साहित्य को ऐसा महाकाव्य दिया जो अपने भाव पक्ष और कला पक्ष, अनुभूति और अभिव्यक्ति के अपूर्व संतुलन के कारण संसार के उच्चतम महाकाव्यों में स्थान पा सकता है। भक्ति-भावना के चरम विकास की दृष्टि से तो रामचरित मानस और विनय-पत्रिका

अनुपम है ही किन्तु लौकिक दृष्टि से भी प्रबन्ध-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता, रस-परिपाक और शैली की अभिव्यञ्जकता के कारण वह ग्रन्थ अद्वितीय है।

तुलसी ने भक्ति-भावना को प्रधानता देते हुए नीति की अवहेलना नहीं की। देखिए:—

प्रीति राम सों, नीति पथ चलिए, राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते, इहै भगति की रीति॥

× × ×

चलत नीति मग राम पद नेह निबाहब नीक।

इसीलिए तुलसी का साहित्य समाज के लिए हितकर और मान्य है। उनका आदर्श भी यही था कि काव्य वही है जिससे लोकोपकार हो।

कीरति भनित भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

भक्ति काव्य यद्यपि भक्ति भावना से अनुप्राणित है तथापि उसमें जीवन-रस स्वस्थ रुधिर की भाँति शक्ति का सञ्चार कर रहा है। वह साहित्य चिरकाल तक अमर रहकर हमारी भाषा का गौरव बढ़ायेगा।

३९. तुलसीकृत रामायण

बन राम-रसायन की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके जन-मानस का मल सारा टला॥
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी विलसे कविता लसी पा तुलसी की कला॥

जिस प्रकार गुणशील-संपन्न सन्तति से कुल का नाम उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार कवि की अमर कृति से उसका नाम दीप्त हो जाता है। महात्मा तुलसीदास को हिंदी काव्य-गगन में पूर्ण शशी का जो स्थान मिला है वह रामचरितमानस के स्निग्ध शीतल प्रकाश के ही कारण है। यह ग्रंथ-रत्न हिंदी-साहित्य का ही नहीं वरन् सारे संसार के साहित्य

का मुख उज्ज्वल कर रहा है। इसमें काव्य-कला के विमल स्वरूप की झाँकी मिलती है। कला आनन्द का विषय है। उसका उद्गम स्थान हृदय है। उसमें आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) द्वारा सौंदर्य की सृष्टि की जाती है। कला की ये सब बातें रामचरित-मानस में भरपूर हैं। इस ग्रंथ-रत्न का उदय ही हृदय के आन्तरिक सुख के लिए हुआ—'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति'। यह न 'यशसे' और न 'अर्थकृते' लिखी गई। इसके लेखक के आश्रयदाता कोई लौकिक राजा नहीं, वरन् स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र हैं जिनके पुण्य चरित्र भारतीय परिवारिक जीवन के लिए आदर्श हैं और जिनके प्रति कवि की अनन्य भक्ति थी। भक्ति भी ऐसी थी जो किसी अर्थ-लाभ अथवा वैभव-लिप्सा की गन्ध से दूषित न थी। इसके लेखक कवि-कुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी तुलसीदासजी जैसे आदर्श भक्त थे वैसे ही वे सूक्ष्मदर्शी प्रतिभाशाली कवि थे। उत्तम से उत्तम सामग्री कुशल से कुशल भावुक कलाकार के हाथ में आई . सब बानिक बन जाने पर भी यह दिव्य कृति हिंदी साहित्य की मुकुट-मणि क्यों न बनती ?

भाषा और भावों के सामंजस्य दिखलाने, लोक-संग्रह और मर्यादावाद के उच्च-आदर्श उपस्थित करने, नीति के विवेचन और मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन में यह ग्रंथ अद्वितीय है। यह भक्ति-रसामृत से भरपूर सप्तसोपान-विभूषित रामचरितमानस वास्तव में मानसरोवर है। इसमें सहृदय रसिक काव्य-मर्मज्ञ मरालों के लिए अनेकों मौक्तिक भरे हुए हैं। इस महाकाव्य में स्थान-स्थान पर खंड-काव्य का पदलालित्य, भावावेश और रचना-चातुर्य है और महाकाव्य का सा तारतम्यमय विस्तार है। इसका एक-एक पद नपा-तुला है। मतिराम की नायिका की भाँति इसको 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई'। इसमें सौंदर्य का सच्चा स्वरूप मिलता है। जितनी बार पढ़ा जाय उतनी ही नवीनता मिलती है। अब

यहाँ पर मानस की विशेषताओं का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भाषा और भाव का सामंजस्य

भाषा को भावों का शरीर बतलाया गया है। शब्द वही सुन्दर कहे जा सकते हैं, जिनमें उनकी आत्मा—अर्थ—की अभिव्यक्ति सहज में हो जावे, उनकी आन्तरिक शक्ति, उनका प्रकाश छलकने लगे; भाषा को न जानने वाला भी भाव को समझ जावे और जो जानने वाले हैं उनके सामने चित्र-सा खिंच जावे। गोस्वामी जी वर्षा का वर्णन करते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि मानो वर्षा प्रत्यक्ष रूप से हो रही हो। 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' के सुनते ही बादल घिरे से दिखाई देने लगते हैं और उनकी कड़क का भान होने लगता है। वर्षाकाल के वर्णन में बादलों के लिए मेघ, घन और बारिद तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है, लेकिन तीनों का अपने-अपने उपयुक्त स्थान में। जहाँ पर 'डरपत मन मोरा' है वहाँ तो 'घन घमंड' और 'घोरा' शब्दों का प्रयोग किया है; जहाँ 'गरजत लागत परम सुहाए' कहा है, वहाँ 'मेघ' शब्द कहा है और जहाँ मोरों के नाचने का वर्णन है, वहाँ 'बारिद' जैसा कोमल शब्द रखा है। बसन्त-वर्णन में कैसे सुन्दर संगीतमय शब्दों का प्रयोग किया है! चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहँग नचत मन मोरा।' स्वयं शब्द ही कूजने और नाचने लगते हैं। 'गुंजत भृंगा' में भृंग और गुंजन की गूँज एक साथ मिलकर माधुर्य का उत्पादन करती है। 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' में कैसा शब्दों का चमत्कार है। 'नूपुर धुनि' में छोटे-छोटे शब्दों की अनुप्रासमय आवृत्ति में कंकण और किंकिणि की धीरे-धीरे विलीन होती हुई झंकार-सी सुनाई पड़ती है। जहाँ पर युद्ध का वर्णन आता है वहाँ कठोरतासूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥

इस विराट ग्रन्थ में जैसा भाषा का चमत्कार है वैसी ही भावों की

भी उत्कृष्टता है। एक से एक अनुपम भाव मौजूद हैं, जो मनुष्य की प्रत्येक स्थिति के लिए लाभदायक भावों की उत्कृष्टता होते हैं। 'होइहै सोई जो राम रचि राखा' में यदि भाग्यवाद है तो 'कादर मन कहँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा' में पुरुषार्थ है। ज्ञानियों के लिए मायावाद का प्रतिपादन किया है और उसी के साथ 'मन मोदक नहिं भूख बुताई' में व्यावहारिकता का प्रेम दिखाया है। 'लिखत सुधाकर लिखि गा राहू' में भाग्य की आकस्मिक विपरीतता का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है! 'पराधीन सपने सुख नाहीं' और 'सब ते अधिक जाति अपमाना' में स्वाधीनता तथा जाति-प्रेम का अत्यन्त मार्मिक परिचय दिया है। 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी, तिनहि विलोकत पातक भारी' में मित्रता की महिमा बड़े जोरदार शब्दों में गाई है। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई' में सब पुराणों का सार और शास्त्रों का निचोड़ रख दिया है। दुख-सुख के तुलसीदास जी ने बड़े ही सजीव चित्र खींचे हैं। जब दशरथ जी पर कैकेयी की राम-बनवास-सम्बन्धी वर-याचना का वज्रपात हुआ तब तुलसीदास उनके मुख से कुछ कहलाते नहीं हैं, वरन् दशरथ जी की अवस्था का बड़ा स्वाभाविक वर्णन कर देते हैं शायद ऐसा वर्णन कोई अभिनय-कुशल नाटककार भी न करता।

> 'गयउ सहमि कछु कहि नहिं आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा।
> बिबरन भयउ निपट महिपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
> माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लागु जनु सोचन।
> मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फलत करिनि जनु हनेउ समूला॥"

सिर पर हाथ रख कर आँख मूँद लेने का वर्णन कैसा स्वाभाविक है! सचान (बाज) और दामिनि की उपमा कितनी सजीव है। एक साथ शीघ्रता, आकस्मिकता और सर्वनाश का चित्र खिंच जाता है।

नाटककार का कौशल उसके चरित्र-चित्रण और चरित्र के

क्रमशः परिवर्तन दिखाने में पाया जाता है ।

चरित्र-चित्रण

रामचरित-मानस में चरित्र-चित्रण के लिए एक से एक उत्तम चरित्र भरे पड़े हैं । दशरथ में सत्य-संधता के साथ पुत्र-वत्सलता की कैसी सुन्दर खींचातानी दिखाई है ! पुत्र-प्रेम-वश दशरथ कैकेयी की कुटिलता में पूर्ण विश्वास नहीं करते । वे कैसे दीनभाव से कहते हैं—

'प्रिया हास रिस परिहरहु, माँगु विचारि विवेक ।'

फिर वे असमंजस में पड़े हुए व्यक्ति की भाँति महादेव जी से विनय करते हैं:—

सुमिरि महेशहिं कहहिं निहोरी, बिनती सुनहु सदाशिव मोरी ।
आशुतोष तुम औढर दानी, आरत हरहु दीन जन जानी ॥

आजकल के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष को बड़ा महत्त्व दिया जाता है । देखिए गोस्वामी जी ने कौशल्या का असमंजस और भाव-संघर्ष कैसे सुन्दर रूप में दिखाया है !

"राखि न सकहि न कहि सक जाहू, दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ।
धरम सनेह उभय मति घेरी, भइ गति साँप छछूँदर केरी ॥
राखउँ सुतहिं करउँ अनुरोधू, धरम जाइ अरु बंधु विरोधू ।
कहउँ जान बन तौ बड़ हानी, संकट सोच बिकल भइ रानी ॥"

इस संशय में आलोक आ जाता है और फौरन निश्चय हो जाता है ।

"बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी, राम भरत दोउ सुत सम जानी ।"

और वह कह देती है कि 'पितु आयसु सब धरमक टीका ।'

सुमित्रा का त्याग लक्ष्मण जी का भ्रातृभक्ति के सर्वथा अनुकूल है

तुमरेहि भाग रामु बन जाहीं, दूसर हेतु तात कछु नाहीं ।

रामचन्द्र जी को वनवास, हे लक्ष्मण, तुमको उनकी सेवा करने का अवसर देने के लिए ही, दिया गया है ।

नाटककार के लिए चरित्र का क्रमशः परिवर्तन दिखाना चरित्र-चित्रण से भी अधिक महत्त्व रखता है । कैकेयी-मंथरा-संवाद

गोस्वामी जी ने मनोविज्ञान का सूक्ष्म परिचय दिया है। बड़े ही कौशल के साथ उन्होंने कैकेयी का परिवर्त्तन दिखाया है। मंथरा कुछ कहती नहीं है, सिसकती है। जब सिसकना बंद नहीं होता तब कैकेयी के मन में शंका होती है, वह राम की कुशल पूछती है। मंथरा बड़ी चतुरता से उत्तर देती है 'रामहिं छाँड़ि कुशल केहि आजू' और सौतिया-डाह को जाग्रत करती है।

'पूत विदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह हमारे।'

कैकेयी इस भुलावे में न आकर नीति का आश्रय लेती है—

'जेठ स्वामी सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुल रीति सुहाई।'

इस पर मंथरा एक उपेक्षापूर्ण निस्वार्थता के साथ स्पष्टवक्ता होने की बात चलाती है, ठकुरसुहाती बात कहने को बुरा कहती है और अपने मन्द-भाग्य को दोष देती है।

'कोउ नृप होउ हमै का हानी। चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।'

उदासीनता में निःस्वार्थता दिखाई देती है; निःस्वार्थता सत्य और निष्पक्षता की कसौटी है। इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। मंथरा चुप हो जाती है। कैकेयी बार-बार पूछने लगती है। मंथरा बड़ा दिखावटी संकोच कर उत्तर देती है। इसी प्रकार कैकेयी में क्रमशः परिवर्त्तन हो जाता है।

यद्यपि रामचरितमानस नाटक के तौर पर नहीं लिखा गया तथापि इसमें नाटक के सब गुण हैं। ऐसी चरित्र-चित्रण-कुशलता शायद ही किसी नाटक में होगी। लक्ष्मण-परशुराम तथा रावण-अङ्गद आदि संवादों की सजीवता रामचरितमानस के नाटकत्व को और भी निखार देती है।

इन सब बातों के साथ गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस में
लोक-संग्रह और मर्यादावाद का बड़ा ऊँचा आदर्श
उच्च आदर्श रक्खा है। स्वेच्छाचार का घोर विरोध किया है;
'मारग सोई जा कहँ जो भावा' ऐसी स्वतन्त्रता को

बुरा कहा है। यह स्वेच्छाचार का विरोध प्रजा के लिए ही नहीं है, वरन् राजा लोग भी नियम मर्यादा से बँधे थे। प्रजा को सुखी रखना ही राजा का धर्म बतलाया गया है। 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी'। इसीलिए सचिव वैद्य और गुरु को सत्य बोलने के लिए पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी है।

'सचिव, वैद्य, गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरमु तनु तीन कर, होहि वेगही नास॥'

रामचरितमानस के समाज में ब्राह्मण और गुरुओं का पूरा आदर है। भगवान् रामचन्द्र जी विश्वामित्र के पैर दबाते हैं। जब गुरु वसिष्ठ श्रीरामचन्द्र जी के घर जाते हैं तब वे कितनी विनय से उनका स्वागत करते हैं—

गहे चरन सिय सहित बहोरी, बोले राम कमल कर जोरी।
सेवक सदन स्वामि आगमनू मंगल-मूल अमंगल-दमनू॥

श्रीरामचन्द्र के युवराज बनाये जाने के संबंध में राजा दशरथ सब से पहले गुरु वसिष्ठ से सलाह करते हैं। केवल गुरु जी ही नहीं बुलाये जाते वरन् 'सचिव महाजन सकल बुलाये'; कोई बात नीति के विरुद्ध नहीं होती। लंका जीत लेने पर श्रीरामचन्द्र जी अपने सहायकों को भूल नहीं जाते। 'प्रति उपकार करौं का तोरा, सम्मुख होई न सकै मन मोरा', 'तुम्हरे बल मैं रावण मारा' इत्यादि वाक्यों द्वारा वे वानरों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर उनको गौरव देते हैं। हिन्दू धर्म की जो कुछ मर्यादा है उसका मानस में पूर्णतया पालन किया गया है।

इस ग्रन्थ-रत्न ने हिन्दू-आदर्शों, हिन्दू-भावों और हिन्दू-संस्कृति की रक्षा कर एवं हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित कर हिन्दू-धर्म में अद्वितीय स्थान पाया है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म में इसका स्थान अद्वितीय है उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी कोई ग्रन्थ इसकी समता नहीं कर सकता। समुद्र की भाँति

हिन्दी-साहित्य में रामायण का स्थान

यह ग्रन्थ अपने विस्तार में जैसा व्यापक है वैसा ही इसका भाव-गांभीर्य भी अथाह है। मानव-जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं जिसको इसने आलोकित न किया हो। सूर, कबीर, देव, बिहारी, भूषण और मतिराम सभी महानुभावों ने अपनी अपनी सूक्तियों से हिन्दी-भाषा की शोभा बढ़ाई है; सब में अपनी विशेषताएँ हैं। किन्तु यदि हम ऐसे ग्रंथ को तलाश करना चाहें जिसने सारे मानव-जीवन को परिवेष्टित कर लिया हो तो हमको रामचरितमानस का ही नाम लेना पड़ता है। मानव-हृदय के अगाध समुद्र में पैठने वाले हिन्दी-कवियों में सूर और तुलसी ही अग्रगण्य हैं। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि सूरदास वात्सल्य के वर्णन में संसार के साहित्य में अद्वितीय ठहरेंगे, शृंगार-वर्णन में भी सूरदास जी ने कलम तोड़ दी है; उनकी भाषा का माधुर्य भी अनुपम है, किन्तु उनका वृत्त संकुचित है। तुलसीकृत रामायण में यह बात नहीं है। उसमें कोई बात छोड़ी नहीं गई और जिस बात को उठाया गया है, उसे पूर्णतया अलंकृत कर दिखाया है। स्नेह और शील, लज्जा और प्रेम, सत्य और पुत्र-प्रेम, आदि भावों का संघर्ष दिखाकर मानव-हृदय का मार्मिक ज्ञान उप-स्थित किया गया है। श्री रामचन्द्र का मर्यादा-पालन, धैर्य और अनुपम त्याग, दशरथ जी की आत्मबलिदान करने वाली सत्यपरायणता, भरत का संन्यास, लक्ष्मण की भ्रातृ-शक्ति, हनुमान का सेवा-धर्म, मंथरा का कौटिल्य, कैकेयी का तिरियाहठ, सीता का सतीत्व, रावण का घातक अभिमान, सब बातें किस एक ग्रन्थ में मिल सकती हैं! राम-चरित का औरों ने भी वर्णन किया है, किन्तु उनमें इतनी हृदय की आन्तरिकता नहीं। कोई अलंकारों के प्रवाह में बह गये तो कोई छंदों के जाल में फँस गये। मूल नायक के चरित्र-सौंदर्य को जैसा राम-चरितमानस में दिखाया गया है वैसा कहीं नहीं। तुलसीदास जी ने जो कहना चाहा, उसे दृढ़ता और प्रभाव के साथ कहा, जो बात दिखानी चाही वह सफलता-पूर्वक दिखा दी, काव्य-परिपाटी का पालन

किया, रस और अलंकारों का स्वाभाविकता से प्रयोग किया, किन्तु उनके कारण मूलभावों का बलिदान नहीं किया। मानव-चरित्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा पर प्रकाश डाला, धर्म और मर्यादा की रक्षा की, सिद्धान्तों का उद्घाटन किया और उत्तमोत्तम सूक्तियों द्वारा जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए उपदेश दिया। इसीलिए यह ग्रन्थ-रत्न हिन्दी-साहित्य का मुकुटमणि गिना जाता है।

---

२२. सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास

यद्यपि तुलनात्मक समालोचना आजकल की उपज समझी जाती है तथापि प्राचीन काल में संस्कृत और भाषा में बहुत सी ऐसी साहित्य-संबंधिनी सूक्तियाँ प्रचलित रही हैं जिनमें तुलनात्मक समालोचना का बीज पूर्णतया वर्तमान है। उपर्युक्त सूक्ति उन्ही सूक्तियों में से है। सूरदास जी के संबंध में इसी प्रकार की और भी एक तुलनात्मक सूक्ति प्रसिद्ध है।

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर (बीरबल)।
केशव अरथ-गँभीरता, सूर तीन गुण धीर ॥

'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' में सूर, तुलसी और केशव के सापेक्षित महत्त्व का प्रश्न है। वास्तव में 'सूर' और तुलसी की ही प्रतिद्वंद्विता है। इनमें से किस को 'ससी' और किस को 'सूर' कहा जाय यही प्रश्न है। उडुगन तो 'सूर' और 'ससी' से बहुत पीछे रह जाते हैं। साहित्य में इन तीनों का स्थान जानने के लिए इनके वर्ण्य-विषय और वर्णन-शैली के बारे में कुछ परिचय प्राप्त करना वांछनीय है। तुलना के लिए भेद के साथ समानता की आवश्यकता है, क्योंकि दो पृथक्-पृथक् राह जाने वालों की कोई तुलना नहीं हो सकती। तीनों ही महाकवि प्रायः समकालीन हैं और तीनों ही अपनी-अपनी रीति से सगुणोपासक भक्त हैं। त्यागी, महात्मा और भक्त होने के नाते तो सूर

और तुलसी में विशेष समानता है और राम-भक्त और प्रबन्ध-काव्यकार होने के नाते तुलसी और केशव का विशेष संबंध है। महात्मा सूरदास जी ने कथाप्रसंग और चरित्र चित्रण की अपेक्षा स्फुट पदों के सौंदर्य और नखशिख के विशेष वर्णनों की ओर अधिक ध्यान दिया है।

सूर और तुलसी दोनों ही स्वान्तःसुखाय लिखते थे। वे अपने इष्ट-देव के गुणगान में तल्लीन हो जाते थे। पर केशवदास जी राज्याश्रय में रहे थे और उनकी कविता भी उनके आश्रयदाता की रुचि से प्रेरित होती थी। इसके अतिरिक्त केशवदास जी पंडित और आचार्य भी थे और उनकी बहुत सी कविता काव्यांगों के उदाहरण-स्वरूप भी होती थी। यह परिस्थिति केशवदास को सूर और तुलसी से एकदम अलग कर देती है। महात्मा तुलसीदास जी तो नर-काव्य करना सरस्वती देवी को वृथा कष्ट देना समझते थे—

'कीन्हें प्राकृत-जन-गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'

सूरदास जी गोकुल-विहारी बालकृष्ण के उपासक हैं और उनकी भक्ति में सख्य-भाव का प्राधान्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी धनुर्धारी मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के उपासक हैं। ये अपने इष्ट देव को किशोरावस्था में देखते हैं। भक्ति में दास्यभाव के कारण ये अपने भगवान को इतनी खरी खोटी नहीं सुना सकते जितनी कि सूरदास जी। 'सूरदास सरबसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै'; 'अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ!' वात्सल्य और शृंगार में ऐसी बातें कुछ स्वाभाविक भी होती हैं। किन्तु फिर भी ऐसी बातें शायद तुलसीदास जी अपने इष्ट देव के लिए नहीं कहला सकते थे। बाल-लीला वर्णन में भी रामचन्द्र जी अवधेश के ही बालक रहते हैं।

तुलसी अपने इष्ट देव का नीचा देखना सह नहीं सकते थे इसलिए उन्होंने 'लवकुश कांड' नहीं लिखा। केशवदास जी भी अपने इष्ट देव का इतना भय नहीं करते थे। सूर और केशव में सीधी खरी बात कहने का अवश्य आनन्द आ जाता है। सूरदास जी मुँह लगे दास की

भाँति अकड़ भी जाते हैं और 'विरद बिनु' करने की धमकी भी देते हैं किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि तुलसीदास जी अपने इष्ट देव से दूर का ही सम्बन्ध रखते हैं। वे भी उपालम्भ देते हैं किन्तु मर्यादा के भीतर। उनके उपालम्भों में भी उनकी अनन्यता प्रकट होती है—

दूबरो को न दूसरो द्वार, राम दयाधाम
रावरी ही गति बलविभव-विहीन की।

जब विचारे इतना कह लेते हैं तब कहीं विरद को लज्जा आने की बात उठाते हैं।

लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहि
महाराज आज जो न देत दाद दीन की।

विनय के प्रसंग में कभी-कभी सूरदास जी भी दीनता दिखाने में तुलसी से पीछे नहीं रहते—'हौं सब पतितन को टीको'। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि ऐसे पद सूर ने महाप्रभु वल्लाभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व ही लिखे थे।

दोनों ही महात्माओं ने अपनी अनन्यता में अन्य देवताओं का थोड़ा बहुत तिरस्कार किया है, किन्तु तुलसीदास जी ने अपनी अनन्यता को आघात पहुँचाये बिना और देवताओं की उपासना भी की है। मर्यादा और परंपरा के अनुकूल गणेश जी तथा महादेव जी आदि सब से प्रार्थना भी की है किन्तु सब के पास राम-भक्त होकर ही गये हैं और सबसे राम भक्ति ही माँगी है—

"बसहिं राम-सिय मानस मोरे'।

कविता के सम्बन्ध में हमको इन महात्माओं के वर्ण्य-विषयों पर कुछ विचार करने की आवश्यकता है। गोवर्धन-धारण, कालीदह-प्रवेश, दावानल-पान आदि में यद्यपि भगवान कृष्ण का लोकोपकारक रूप प्रकट होता है, तथापि सारे जीवन पर विचार करने से उनका लोकरंजनकारी रूप अधिक प्रकाश में आता है। भगवान रामचन्द्र जी में दोनों रूप समानता से दृष्टिगोचर होते हैं। महात्मा सूरदास जी के वर्णन में

श्रीकृष्ण भगवान का क्षेत्र ब्रज की लीला में संकुचित है। भगवान रामचन्द्र जी का जीवन-कार्य प्रायः सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। उनके जीवन में सुख और दुःख दोनों ही हैं। वरन् सच तो यह कि उन्होंने सुख भोगने की अपेक्षा दुःख अधिक सहा है। रामचन्द्र जी शील और मर्यादा के अवतार थे। वे मर्यादा से एक रेखा भी हटना नहीं जानते थे। श्रीकृष्ण जी के जीवन में लीला, आनन्द और स्वातन्त्र्य का भाव अधिक था। इसी कारण सूर और तुलसी के वर्णनों में भेद है। सूरदास बाल लीला के वर्णन में अद्वितीय हैं, क्योंकि उनके इष्ट ही बाल-कृष्ण थे। "मैया कबहुँ, बढ़ैगी चोटी, किती बार मोहिं दूध पिवत भइ यह अजहूँ है छोटी" "मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो, मोंसों कहत मोल को लीन्हो, तू जसुमति कब जायो" का-सा वात्सल्य वर्णन शायद ही मिलेगा। महात्मा तुलसीदास जी ने भी गीतावली में बाल-लीला का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है, किन्तु उसमें थोड़ा सा राजसी भाव मिल जाने के कारण इतना माधुर्य नहीं रहा।

इसी प्रकार शृंगार वर्णन में भी दोनों महात्माओं के वर्णन में बहुत अन्तर पड़ जाता है। सूरदास जी में संयोग और वियोग की ऊँची और नीची सभी दशाओं का विशद वर्णन आता है। तुलसीदास जी का संयोग-शृंगार बड़ा मर्यादापूर्ण है, उनके वर्णन में वियोग का दुःख अवश्य है किन्तु उस वियोग में मान के लिए स्थान नहीं। एक-पत्नी-व्रत में ईर्ष्या-मान का तो प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु तुलसीदास जी के लिए प्रणय मान भी मर्यादा के बाहर था। सीता का वियोग भाग्य प्रेरित है, उसमें दुःख की सच्ची अनुभूति है। मर्यादा के बंधन में सीता जी गोपिकाओं की भाँति रामचन्द्र जी को उलटा-सीधा भी नहीं कह सकती थीं। उनके उपालंभ में बड़ी ही मीठी कसक सुनाई पड़ती है।

'लखनलाल कृपाल निपटहि डारिबी न बिसारि।
पालबी सब तापसिन ज्यों राजधरम बिचारि॥'

'इस राजधर्म के वश मुझको घर से निकाल दिया है उसी राज-

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास

धर्म के नाते मुझे और तपस्वियों की भाँति पालना' कितना दीनता का उपालंभ है!

सूरदास जी ने संयोग और वियोग श्रृंगार का वर्णन ऐसा पूर्ण किया है मानों फुरसत में बैठकर किया हो। तुलसीदास जी ने प्रसंगवश उतना ही किया है जितना कि मर्यादा के भीतर हो सकता है! वाटिका में राम और सीता को मिलाते अवश्य हैं किन्तु उनकी परस्पर बातचीत नहीं होने पाती। वन-गमन प्रसंग में 'खंजन मंजु तिरीछे नैननि' में सीताजी के भ्रू विक्षेप आदि का वर्णन करते हैं, किन्तु उसमें राम और सीता का परस्पर व्यवहार नहीं दिखलाया गया है।

सूरदास जी के लिए बाल-लीला और श्रृंगार-लीला मुख्य विषय हैं। तुलसीदास जी में मानव-जीवन के और दृश्यों के साथ इनका भी वर्णन हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि सूरदास जी ने अपने विषय का वर्णन कैसा किया है; यद्यपि सूरदास जी कहीं-कहीं कवि-परंपरा में पड़ गये हैं तथापि वे अपने मुख्य विषयों के वर्णन में अपना सानी नहीं रखते। उद्धव-संवाद में तो उन्होंने गोपियों के प्रेम की दृढ़ता पराकाष्ठा को पहुँचा दी है। ऐसी दशा को देखकर उद्धव जी को अपने तन-मन की सुध भूल ही जानी पड़ी होगी। सूरदास जी ने अपने विशेष विषय का वर्णन ऐसी उत्तमता से किया है कि दूसरे कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते, किन्तु कमी इतनी ही है कि उनका विषय उतना व्यापक नहीं जितना कि तुलसीदास जी का और न उनके वर्णनों में वैसा लोक-संग्रह का भाव है जैसा कि तुलसीदास जी के काव्य में। तुलसीदास जी के काव्य में 'शिव' और 'सुन्दर' का योग हो जाता है। कला और सदाचार का विच्छेद नहीं होने पाता। सूरदासजी अपना क्षेत्र संकुचित रख उसमें खूब कारीगरी दिखाते हैं। तुलसीदास जी अपना क्षेत्र व्यापक रखते हुए भी अपने वर्णनों को सुंदर और संबद्ध बनाते हैं। केवल श्रृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूरदास जी तुलसीदास जी से आगे बढ़े हुए हैं किन्तु मानवजीवन के भिन्न-भिन्न रूपों के वर्णन में

तथा लोक-संग्रह के भाव में तुलसीदास जी अपना सानी नहीं रखते।

भाषा की दृष्टि से दोनों की भाषाएँ भिन्न भिन्न हैं। सूरदास जी ने शुद्ध ब्रजभाषा में रचना की है और उसके स्वाभाविक माधुर्य का पूर्णतया लाभ उठाया है। इन्होंने अधिकतर गीति-काव्य लिखा है जिसमें काव्य और संगीत का बड़ा मधुर सम्मिश्रण हो गया है। इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्द बहुतायत से नहीं रखे हैं और संयुक्त वर्णों का भी कम प्रयोग किया है, इस कारण इनके काव्यों में श्रुतिकटु दोष कम आने पाये हैं। इनके काव्य में अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग पाया जाता है। कहीं तो इनके अलंकार बहुत ही स्वाभाविक रूप में आये हैं और कहीं पर वे केवल चमत्कार उत्पादन के लिए लिखे हुए मालूम पड़ते हैं—जैसे कि "अद्भुत एक अनुपम बाग" वाले प्रसिद्ध पद में दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं सूर ने अपने अलकारों की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला है। सूरदास जी ने कुछ कूट भी लिखे हैं जिनमें प्रसाद गुण का नितान्त अभाव है। तुलसीदास जी की अपेक्षा सूर में मुहावरों का अधिक प्रयोग है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों में ही काव्य लिखे हैं। लोगों का कथन है कि गीतावली आदि काव्य-पुस्तकें तुलसीदास जी ने सूरदास जी से ही प्रभावित होकर लिखी हैं। गीतावली और कवितावली के छंदों के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त थी। यद्यपि तुलसीदास जी का महत्त्व अवधी के दोहा-चौपाइयों की पद्धति में अधिक दिखाई पड़ता है तथापि उनके विनय के पद बहुत ही संगीतमय हैं और उन्होंने अपने समय की सभी अन्य शैलियों को भी अपनाया है। तुलसीदास जी ने जो अलंकार लिखे हैं, वे भी बड़े स्वाभाविक हैं। वे केवल चमत्कारोत्पादन के लिए नहीं हैं वरन् उनसे भावों की गूढ़ता और वर्ण्य-विषय की स्पष्टता भी प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने शब्दों के चुनाव और प्रयोग में बड़ा कौशल दिखाया है। यद्यपि यह गुण सूरदास जी में भी है तथापि

वह गोस्वामी तुलसीदास जी में विशेष रूप से है। इन सब बातों से गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सूरदास जी से ऊँचा बैठता है। किन्तु सूरदास जी में तुलसीदासजी की अपेक्षा माधुर्य गुण का आधिक्य है। जिन महात्मा ने 'सूर-सूर तुलसी ससी' की सूक्ति को प्रचार दिया है वे एक तो सूरदास के माधुय गुण से प्रभावित प्रतीत होते हैं, दूसरे वे किसी अंश में यमक और अनुप्रास के भक्त मालूम होते हैं।

तुलसी और केशव के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसीदासजी ने सच्चे भक्त की दृष्टि से कविता की थी। गोस्वामी जी में भक्ति-भावना का पहला स्थान है, उससे पीछे वे कवि हैं। भक्ति-भाव उनका ध्येय और साध्य है और कविता उसका साधन है। इसके विपरीत केशवदासजी प्रधानतया कवि और पंडित थे और गौण रूप से भक्त थे। उनका राजघरानों से संबंध होने के कारण उनके वर्णन में ऐश्वर्य की मात्रा अधिक है। केशवदास में चमत्कारोत्पादन की भावना का बाहुल्य है। उनमें इतनी सरसता नहीं जितनी कि सूर और तुलसी में। जिस प्रकार सूर और तुलसी ने अपने काव्य में अपना हृदय निकाल कर रख दिया है वैसा उन्होंने नहीं किया। उनमें न तो तुलसीदास जी की भावुकता आई है और न वे तुलसीदास जी की भाँति अन्तर और बाह्य प्रकृति के चित्रण में सफल हुए हैं। उन्होंने देश और काल का ध्यान नहीं रक्खा। नाम गिनाने के आवेश में अयोध्या और मिथिला के बीच में दक्षिण में होने वाले लौंग, इलायची और सुपारी के पेड़ रख दिये हैं। ये अलंकारों के विशेष भक्त मालूम पड़ते हैं, यहाँ तक कि अलंकारों के प्रेम में उन्होंने वास्तविकता को गौण-सा कर दिया है। केवल शब्दसाम्य के आधार पर वे सेब और बेर का बगीचा खड़ा कर देते हैं। श्लेष-प्रियता के कारण इनकी भाषा में संस्कृत के कटु और कठिन शब्द बहुतायत से आते हैं, इस कारण उसमें कहीं-कहीं श्रुति-कटुता का दोष आ जाता है। वास्तव में भाव और कलापक्ष का संतुलन जैसा सूर और तुलसी में है वैसा केशव में

नहीं है।। केशव का कलापक्ष भावपक्ष को दबा लेता है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी केशवदास में बहुत से श्लाघनीय गुण हैं जिनके कारण उन्हें हिन्दी-साहित्य के ज्योतिर्मय पिंडों में स्थान मिला है। इनका अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। एक-तानता (Monotomy) बचाने के लिए बदलते हुए छंदों को रखने में वे बड़े सफल हुए हैं। इनके राजसी ठाट-बाट के वर्णन बहुत सुन्दर हैं। केशव के कथोपकथन बड़े सजीव और वाक्चातुर्य-पूर्ण हैं। धर्म का भी इन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है किन्तु कहीं-कहीं—जैसे राम द्वारा कौशल्या के प्रति वैधव्य धर्म का उपदेश इस बात का बोधक है कि इन्होंने सर्वत्र औचित्य का ध्यान नहीं किया। इनकी कल्पना भी उर्वरा है, किन्तु इनमें भावों की वह सुकुमारता नहीं जो तुलसीदास जी में है। वन-गमन के समय तुलसीदास जी की सीता रामचन्द्र जी के चरण-चिह्नों को बचाकर चलती है—

'प्रभु पद रेख बीच बिच सीता, धरति चरन मग चलति सभीता।
सीय राम-पद अंक बराएँ, लखन चलहिं मग दाहिन बाएँ।'

इसी अवस्था में केशवदास जी की सीता उनके चरण चिह्नों पर ही चल कर रामचन्द्र जी के चरणों से शीतल की हुई पृथ्वी की अपेक्षाकृत शीतलता का अनुभव करती हैं—

'मारग की रज तापित है अति
केशव सीतहिं शीतल लागति।
ज्यों पद-पङ्कज ऊपर पाँयनि
दै जो चलै तेहि ते सुखदायिनी।'

इसमें प्रेम अवश्य है किन्तु वह शील और मर्यादा नहीं जो तुलसीदासजी के कथन में है। केशवदास जी भक्त होते हुए भी अपने इष्टदेव तथा उनके अनुयायियों के प्रति खरी-खोटी कहलाने में नहीं चूके। इन्होंने विभीषण के मातृ-द्रोह को उपेक्षा-दृष्टि से नहीं देखा है।

'आउ विभीषन तू नर दूषन

एक तुही कुल को कुलभूषन ॥'

\+ + +

'देव बधू जब ही हरि ल्यायो,
क्यों तब ही तजि ताहि न आयो ?
यों अपने जिय के डर आए
क्षुद्र, सबै कुल छिद्र बताए।
जेठो भैया, अन्नदा, राजा, पिता समान।
ताकी तैं पतनी करी, पतनी मातु समान ॥'

गोस्वामी जी ने ऐसे प्रसङ्गों को बचाने के लिए ही अपने रामचरित-मानस को उत्तरकाण्ड पर ही समाप्त कर दिया था।

केशव में पाण्डित्य और निर्भीकता आदि सद्गुणों के होते हुए भी भाषा का वह माधुर्य और भावों की वैसी तीव्रता और आन्तरिकता नहीं है जिसके कारण सूर और तुलसी ने सूर और ससी की पदवी पाई है।

---

३३. कविवर बिहारी और उनकी सतसई

तंत्री-नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग ॥

जीवन वृत्त का आधार

कविवर बिहारी उन सहृदय, सरस एवं भावुक महापुरुषों में हैं जो तंत्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग और रति-रंग में सब अंग बूड़े होने के कारण 'तरे' कहे जा सकते हैं। आत्मख्याति में अरुचि रखने वाले भारत के अन्य महापुरुषों की भाँति इन महाकवि का जीवन-चरित्र भी अज्ञानतिमिराच्छादित है। सतसई में कुछ ऐसे दोहे अवश्य पाये जाते हैं, जो इनके जीवन-चरित्र-सम्बन्धी अन्धकार में आलोक की एक क्षीण-रेखा उत्पन्न कर देते हैं।

इनका जन्मस्थान ग्वालियर राज्य के बसुआ गोविन्दपुर में

बतलाया जाता है। ये माथुर ब्राह्मण (चतुर्वेदी) कहे जाते हैं। इनके वंशज बूँदी राज्य में अब भी वर्तमान हैं।

जीवन वृत्त

इनका जन्म संवत् १६६० में बतलाया जाता है। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के, जिनकी प्रशंसा में इन्होंने दो चार दोहे लिखे हैं, आश्रित थे। इन्होंने संवत् १७१६ में अपनी प्रसिद्ध 'सतसई' समाप्त की थी—

संवत् ग्रह ससि जलधि छिति, छट तिथि बासर चंद।
चैत्र मास पख कृष्ण में, पूरन आनंद कंद ॥*

इससे उस समय उनकी अवस्था ५६ वर्ष की बैठती है। इस दोहे तथा बिहारी के आश्रयदाता मिर्जा राजा जयशाह के समय से जो कि संवत् १६७७ से १७२२ तक रहा, कवि का जन्म १६६० में होना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इनकी मृत्यु १७१६ के दो चार वर्ष बाद हुई होगी। इनके पिता का नाम केशव था।

प्रकट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे बृज आय।
मेरे हरो कलेस सब, केसो केसो-राय ॥

इस दोहे में कवि ने अपने पूज्य पिताजी की श्रीकृष्ण से—केशव नाम में तथा अन्य गुणों में—समानता दिखला कर वन्दना की है। द्विजराज कुल कृष्ण पक्ष में चन्द्रवंश और पिता के पक्ष में ब्राह्मण कुल; द्विजराज चन्द्रमा और ब्राह्मण दोनों को कहते हैं में दोनों का जन्म हुआ है और दोनों स्वेच्छा से ब्रज में बसे थे। इनका बाल्यकाल बुन्देलखंड में व्यतीत हुआ था और जवानी में ये मथुरा में रहे। इस सम्बन्ध में भी एक दोहा प्रचलित है।

जन्म ग्वालियर जानिए, खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल ॥

---

* ग्रह=नवग्रह अर्थात् ९, ससि=चन्द्र=१, जलधि=सप्त-सिन्धु=७, छिति=पृथ्वी=१, इसको उलटा करने से १७१९ हो जाता है। 'अङ्कानां वामतो गतिः।'

बुन्देलखंड में बाल्यकाल व्यतीत करने की बात उपर्युक्त दोहे तथा उन की कविता में लिखिबी, गनिबी, देखिबी, लाने, बीधे, गुहारी आदि बुन्देलखंडी शब्दों के बाहुल्य के साथ आने से प्रमाणित होती है। स्वर्गीय काव्यमर्मज्ञ पंडित पद्मसिंह शर्मा इस मत से सहमत नहीं मालूम होते। उन्होंने देखिबो, गनिबो शब्दों को ब्रजभाषा ही माना और अपने मत के समर्थन में तुलसीदासजी की भाषा में भी ऐसे शब्दों के उदाहरण दिखाये हैं। पर इस बात से तो इन शब्दों के बुन्देलखंडी प्रयोग होने की पुष्टि ही होती है, क्योंकि तुलसीदासजी तो, राजापुर के निवासी चाहे न भी माने जायँ किन्तु चित्रकूट के संबन्ध से उन पर बुन्देलखंडी प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। हाँ, सूरदास जी की बात ज़रूर कुछ मानने योग्य है, किन्तु गनिबी और देखिबी के अतिरिक्त 'लाने' आदि अनेक बुन्देलखंडी शब्द हैं जो सूरदासजी की कविता में नहीं मिलते। सूर या तुलसी के प्रयोग से शब्दों की भाषा तो बदल नहीं जायगी, इन महाकवियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण गरीब-निवाज, उमर-दराज, मुहकम, मसकत, जियान आदि विदेशी शब्द हिंदी के नहीं हो जायँगे। यदि बिहारी ने न लिखा होता कि उन्होंने बाल्यकाल बुन्देलखंड में बिताया तो ये प्रयोग आकस्मिक कहे जाते। ग्वालियर से बुन्देलखंड जाना कुछ कठिन नहीं है।

ससुराल से निरादृत होकर वे जयपुर-दरबार में गये। ससुराल से निरादृत होने की बात निम्नलिखित दोहे से पुष्ट होती है—

आवत जात न जानिए, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जँवाई लौं घट्यो खरो पूस दिनमान॥

जयपुर दरबार में इन्होंने निम्नलिखित एक दोहे से अपना प्रभाव जमा लिया था। महाराज जयसिंह अपनी नवेली रानी के अनुराग में ऐसे फँस गये थे कि उन्हें राज-काज की कुछ चिंता न थी, प्रजा में हाहाकार मच रहा था, मंत्री हैरान थे और किसी की यह हिम्मत न थी कि राजा से इस सम्बन्ध में कुछ कहे। ऐसे समय में महाकवि

बिहारी ने यह दोहा लिख भेजा—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहि विकास इहिं काल।
अली कली ही सा बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने अभीष्ट कार्य कर दिया। पढ़ते ही महाराज की आँखें खुल गई, उस एक दोहे ने महाराज जयसिंह को अन्तःपुर के हास-विलास से बाहर निकाल कर राजकाज में प्रवृत्त कर दिया। इसको कहते हैं कान्ता का सा मधुर उपदेश। 'हितं मनोहरि च दुर्लभं वचः' कवि ही कह सकते हैं।

कहा जाता है कि महाराज जयसिंह ने उसी दिन से इनको एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी देने का वचन दिया, तभी सतसई का निर्माण हुआ; किन्तु यह ग्रन्थ ऐसा नहीं है जो केवल 'अर्थकृते' ही लिखा गया हो।

राजा के आश्रित होते हुए भी ये महाकवि बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के थे।

स्वभाव

देखिये, शाहजहाँ का पक्ष लेकर हिंदुओं के खिलाफ लड़ने वाले अपने आश्रय दाता को इन्होंने बाज की अन्योक्ति द्वारा कैसी शिक्षा दी है—

स्वारथ सुकृत न, स्रम वृथा, देखु बिहंग विचार।
बाज पराये पानि पर, तू पंछीनि न मार॥

कहा जाता है कि वादा की हुई सात सौ अशर्फियाँ महाराज जयसिंह से इनको नहीं मिलीं। संभव है ऐसा हुआ हो। किन्तु बिहारी ने "तुमहूँ कान्ह मनो भए आजकाल्ह के दानि" इस मृदु उपालंभ के सिवाय कुछ भी नहीं कहा। इतना ही नहीं वरन् जयसिंह की प्रशंसा ही की है—'भेंट होत जयसाह सों भाग्य चाहियत भाल'। ये बड़े संतोषी भगवद्भक्त और सौम्य स्वभाव के थे।

कोऊ कोटिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारनहार॥

ये प्रतिभाशाली कवि तो थे ही, इसके अतिरिक्त हर विषय के

प्रकांड पंडित भी थे। इन्होंने अपनी सतसई में प्रायः सभी विषयों की बहुज्ञता जानकारी का परिचय दिया है। निम्नलिखित दोहे में ज्योतिष और राजनीति के ज्ञान का शृंगार में क्या ही अच्छा उपयोग किया है—

दुसह दुराज प्रजानि कौ क्यों न बढ़े दुख दंद।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चंद॥

वयःसन्धि में शैशव और यौवन की दुअमली रहती है, इसी से देखने वाले को अधिक पीड़ा होती है; यह तो रही शृंगार की बात। किन्तु व्यवहार में दो अधिकारियों के हाथ की बात सदा दुःखदायिनी होती है, एक काम के लिए एक ही उत्तरदायी होना चाहिए, अमावस के दिन सूर्य और चन्द्र के एक साथ राशि में आ जाने से अंधकार बढ़ जाता है।

शृंगार में वैद्यक-ज्ञान को भी लगाया है। ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। बिरह के विषमतम ताप से जलती हुई नायिका को बड़े ही सुन्दर श्लेष द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना की गई है—

यह बिनसत नग राखिकै, जगत बड़ो जस लेहु।
जरी विषम ज्वर ज्याइये, आय सुदर्शन देहु॥

कवि को सांख्य और वेदान्त शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था—

जगत बनायो जिहिं, सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यौं आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं॥

सांख्यशास्त्र (सांख्यतत्त्व कौमुदी) में बतलाया गया है कि अति सूक्ष्म चीज, अति निकट वाली चीज जैसे आँख की स्याही और अति दूर की चीज़ इत्यादि दिखाई नहीं पड़तीं। यहाँ पर उसी कारिका की झलक है। वेदान्त के कीटभृङ्गी आदि दृष्टान्तों को भी कवि ने अपनाया है। वेदान्त के सिद्धान्तों का नीचे के सोरठे में बहुत ही उत्तम वर्णन है—

मैं समझयो निरधार, यह जग काँचो काँच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' जो वेदान्त का सार है, उसका सार इस दोहे में आ गया है।

कवि अपने समय के विज्ञान से भी परिचित थे। नल के पानी की उपमा देते हुए दो स्थानों में उन्होंने बतलाया है कि पानी जितने ऊँचे से डाला जाता है उतना ही ऊपर चढ़ता है और फिर वह नीचे ही गिरता है। पानी अपनी सतह तक पहुँचता है (Water finds its own level) इस सिद्धान्त को वे जानते थे और इसका काव्यमय वर्णन भी उन्होंने अच्छा किया है।

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ॥

× × ×

कोटि जतन कोऊ करो, परे न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचे चढ़ै, अंत नीच को नीच॥

इसके अतिरिक्त किबलनुमा और गेंद के उछलने-गिरने आदि के वर्णन से कवि की वैज्ञानिक रुचि का परिचय मिलता है।

सब ही तन समुहात छन, चलत सबन दै पीठ।
वाही तन ठहराति यह, किबलनुमा लौं दीठ।
नीच हिए हुलसे रहे, गहे गेंद को पोत।
ज्यों ज्यों माथे मारिये, त्यों-त्यों ऊँचो होत॥

दो दर्पणों के बीच में जब कोई चीज रख दी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिंब दिखाई देते हैं. इस सिद्धान्त को बहुप्रतिबिंब (Multiple images) का सिद्धांत कहते हैं। इस सिद्धांत को ध्यान में रख कवि ने शरीर की द्युति-वर्णन करने में क्या कमाल हासिल किया है—

अंग अंग प्रतिबिंब परि, दरपन से सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात॥

कवि ने मानव-प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का भी बड़ा सूक्ष्म निरी-

क्षण किया है। यद्यपि शृंगार उनका प्रधान विषय है तथापि उन्होंने भक्ति और ज्ञान दोनों का अच्छा वर्णन किया है। कहीं-कहीं मधुर हास्य भी मिलता है।

चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

यद्यपि बिहारी शृंगारी कवि हैं, शृंगार-सम्बन्धी कोई प्रसंग—नख-शिख, नायिका-भेद, मान, प्रवास इत्यादि—उन्होंने शृंगार वर्णन अछूता नहीं छोड़ा, और इस वर्णन में स्थान-स्थान पर वे औचित्य की सीमा का उल्लंघन भी कर गये हैं, तथापि अन्य शृंगारी कवियों की भाँति उनका वर्णन उतने में ही संकुचित नहीं रहता। वे सौंदर्य का व्यापक रूप भी जानते थे। वे उसे नख शिख में न भुलाकर उनसे भिन्न एक विलक्षण पदार्थ मानते थे—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान॥

क्षण-क्षण नवीनता धारण करने के कारण यह अलौकिक सौंदर्य चित्र की सीमा में वेष्टित नहीं हो सकता, इसीलिए इसके अङ्कित करने में चतुर चितेरे भी कूर हो जाते हैं।

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

बिहारी के सौंदर्य वर्णन की यह विशेषता है कि उन्होंने अलङ्कारों को विशेष महत्त्व नहीं दिया। इस बात में वे देव आदि अन्य महाकवियों से भिन्न हैं। जहाँ कहीं उन्होंने आभूषणों का वर्णन किया है हाँ उनको शरीर की शोभा के आगे द्युतिहीन ठहराने के लिए। हीं तो उनको 'दरपन के से मोरचा' कह दिया है और कहीं 'दृगपग छन को किए भूषण पायंदाज।' अंगराग को भी उन्होंने शीशे के पर की भाप की भाँति उसकी आभा को कम करने वाला ही बतलाया

है। बिहारी ने सौन्दर्य के साथ द्रष्टा की रीझ को भी महत्त्व दिया है। जहाँ रूप रिझावनहार कहा है वहाँ 'ये नयना रिझवार' भी कहा है।

बिहारी का प्रेम-वर्णन रसखान और देव आदि के वर्णनों से टक्कर ले सकता है। बिहारी वासनामय प्रेम के लिए बदनाम हैं किन्तु उनके बहुत से प्रेम वर्णन ऐसे हैं जिन में ऐन्द्रियकता का लेश भी नहीं है। देखिए—

कीन्हे हूँ कोटिक जतन, अब कहिं गाढे कौन ?
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी में को लौन ॥

भाव-सुकुमारता में भी बिहारी अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। कैसा कोमल भाव है। हृदयस्थ नायक की शांति के भाव-सुकुमारता भंग होने के भय से नायिका मान सम्बन्धी सिखावन सुनना नहीं चाहती वह उसको शब्दों से नहीं मना करती, वरन् नेत्रों के संकेतों से काम लेती है।

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुवे कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल ॥

बिहारी ने संयोग-वर्णन के प्रायः सभी अङ्गों को लिया है। उनमें सामाजिक चित्रण भी अच्छा हुआ है। वियोग-वर्णन में उन्होंने कहीं-कहीं अत्युक्तियों से काम लिया है (जैसे औंधाई शीशी वाले दोहे में), किन्तु ऐसे उदाहरण जायसी आदि अनेक कवियों में भी मिलते हैं, फिर वे ही क्यों बदनाम किये जाय ?

बिहारी ने जैसा मानवीय प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन किया है वैसा ही उनका भाषा पर अधिकार है। मधुर रस के लिए भाषा और उन्होंने माधुर्यमयी ब्रज-भाषा का प्रयोग कर मणि-अलंकार योजना कांचन-संयोग उपस्थित कर दिया है। शब्दों के चित्र से खिंच जाते हैं और हम शब्दों के बहाव में बहने लगते हैं। देखिए—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।

मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥

यह भाविक अलङ्कार का अच्छा उदाहरण है यद्यपि बिहारी ने 'अज्यों तरयोना ही रह्यौ', 'हरिनी के नयनान तें हरिनीके ये नैन' आदि दोहों में श्लेष और यमक द्वारा शाब्दिक चमत्कार अच्छा दिखाया है; ऐसे शब्द-जालों का अब महत्त्व नहीं रहा है। किंतु बिहारी की उपमाएँ एक सुखद नवीनता लिये हुए रहती हैं और उनके सूक्ष्म निरीक्षण की परिचायक हैं।

दोहा सा प्रचलित छोटा छंद चुनकर उन्होंने लाघव का गुण खूब निभाया है, फिजूल भर्ती नहीं भरी। अन्य ब्रजभाषा-कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा नहीं हैं। जहाँ तक हुआ शुद्ध रूप रक्खे हैं। यद्यपि गाथासप्तशती, आर्या-सप्तशती, शृंगार सतसई आदि कई प्राकृत और हिन्दी की सतसइयाँ हैं, तथापि पैनी दीठि, अनोखी सूझ, पद-लालित्य और शब्दों की बहु-व्यंजकता के कारण बिहारी-सतसई अद्वितीय है। यह सतसई शृंगार-रस का भी शृंगार है। अन्य सतसइयों के होते हुए भी सतसई कहने से इसी सतसई का बोध होता है। इसी के लिए कहा गया है—

सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

---

३४. महाकवि भूषण की काव्य-संबंधी विशेषताएँ

भूषण के पूर्व की स्थिति

रीतिकाल में शृंगारी कविता का प्राधान्य था। उस समय कोई विरला वीर ही 'सायर सिंह सपूत' की भाँति पीटी हुई लीक से हट कर वीर-काव्य लिखने का साहस कर सकता था। हिन्दू राजाओं की शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण वीर-काव्य का चलन उठ गया था किन्तु हिन्दू-शक्ति के उत्थान के साथ वीर-काव्य लिखने का समय आ गया

था। हिन्दू जाति के सूर्य छत्रपति शिवाजी का उदय हो रहा था। वीर-गाथा काल की पारस्परिक मारकाट में सफलता को वे वीरता का माप-दंड नहीं मानते थे। उनमें हिंदुत्व का अभिमान था, किन्तु बदलते हुए समय की गति को पहचानना सहज कार्य न था। सच्चे कवि की भाँति भूषण विकासोन्मुख स्वतंत्रता के भावों से प्रभावित होने लगे और उन्होंने उन भावों को अपनी वीर-वाणी में मुखरित किया। वे स्वतंत्रता के पुजारी थे। इसीलिए उन्होंने उस वीर-केसरी शिवाजी, जिसने 'हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की' और 'देव राखे देवल स्वधर्म राख्यौ घर में' का आश्रय ग्रहण कर कविता में हिन्दू जाति का प्रतिनिधित्व किया।

भूषण की कविता की तीन मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—१. जातीयता की भावना, २. ऐतिहासिकता, ३ मौलिकता और सरल भावव्यंजना। उनकी इन विशेषताओं को सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिए हमें उस समय तक के हिन्दी साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

यद्यपि हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में वीर कवियों का भीम-गर्जन ही अधिकतर सुनाई दिया, तथापि उन वीर कवियों की कविता में जातीयता की भावना या किसी महान् उद्देश्य की प्रेरणा का सर्वथा अभाव था। वे राजाश्रित कवि अपने नायक के प्रेम, युद्ध और कीर्ति के वर्णन में ही, चाहे वह उसके अनुरूप हो अथवा न हो, अपनी प्रतिभा का उपयोग करते रहे।

हिन्दू शक्ति के ह्रास होने के पश्चात् जब देश मुसलमानों के शासन में आ गया, जब देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्म-समर्पण कर दिया, तब इन वीरगाथाओं की रचना में शिथिलता आ गई। जनता आतंकित और हताश होकर आत्म-विस्मृत-सी हो गई थी। उस हताश जनता को एक भगवान् का ही आश्रय था। जनता के हृदय को सँभालने और शांत रखने के लिए गतिमान भक्ति की चतुर्मुखी धारा

बहाने लगे। एक ओर कबीर आदि संत कवि एकतारा बजाकर उपदेश देने लगे —"रहना नहिं देस बिराना है" और जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवि इस लोक में काल्पनिक प्रेम-आख्यानों द्वारा अव्यक्त ईश्वर के पाने का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए "राख उठाय लीन्ह एक मूठी. दीन्ह उड़ाय पिरथवी झूठी" की घोषणा करने में तत्पर हो गये। दूसरी ओर महात्मा सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवि कृष्ण-लीला के माधुर्य रस में बह कर तीनों लोकों के वैभव को भगवान की एक-एक मुस्कान पर वारने लगे। इसी प्रकार रामभक्त तुलसी विष्णु भगवान् के अवतार अयोध्यापति रामचन्द्र की लोक संग्रह-कारी कथा को चित्रित कर इस जीवन से मुक्त होने की आशा करने लगे।

इस समय के कुछ बाद सांसारिक कवि कृष्णभक्तों की राधा और कृष्ण की लीलाओं में सांसारिक वासनामय प्रेम के हाव-भाव खोजने लगे। वे रति-रंग में डूबने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझने लगे। तत्कालीन विलासी राजाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिए पिष्ट-पेषित उक्तियों को नये नये रूप में रचा जाने लगा। सूर और तुलसी ने यद्यपि मानव जीवन के स्वस्थपक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया था तथापि उनके चरित्रनायक 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' दिव्य पुरुष थे। उनकी विजय से आशा का संचार होता था किन्तु मानव-गौरव नहीं बढ़ता था। इस प्रकार यद्यपि उस समय तक हिन्दी-काव्य अपनी उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच चुका था, पर उसमें युद्ध, भक्ति और प्रेम के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं दिखाई देता। किसी भी कवि को जातीय जीवन का आदर्श न सूझा, किसी की कविता में जातीयता का राग या जातीयता की भावना नहीं मिलती।

भूषण ही हिन्दी-साहित्य में पहले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने जातीय या राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। वे भी

जातीयता

राजाश्रित कवि थे, पर जिस तरह उनके नायक शिवाजी और छत्रसाल राष्ट्र के नायक थे, राष्ट्रीय या जातीय

चेतना की प्रतिमूर्ति थे, वैसे ही भूषण ने भी उनके राष्ट्रीय या जातीय यशःशरीर का ही चित्रण किया है; उनके वैयक्तिक जीवन या उनके प्रेम-व्यापार पर भूषण ने एक पद, एक पंक्ति भी नहीं लिखी उन्होंने अपने नायक की प्रशंसा केवल इसलिए की कि "हिंदुवान द्रुपदि की इज्जति बचैबे काज" ही उसने रण ठाना था, क्योंकि "राज मही सिवराज बली हिंदुवान बढ़ाइबे को उर ऊटे", क्योंकि "जहान हिंदुवान के उबारिबे" में ही वह वीर खौल उठता था।

अपने नायक की विजयों को भूषण उनकी वैयक्तिक विजय नहीं मानते अपितु हिन्दुओं की विजय मानते हैं—"संगर में सरजा सिवाजी अरि सैनन को, सार हरि लेत हिन्दुवान सिर सार दै।" भूषण ही ऐसे कवि थे, जिन्होंने सबसे पहले यह घोषणा की—"आपस की फूट ही तें सारे हिंदुवान टूटे"; जिन्हें उस समय के हिंदू-राजाओं की असदा-चावस्था चुभती थी, विशेषतः महाराणा प्रताप के वंशज उदयपुर के राणा की, अतएव वे कहते थे—'राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को बाना तजि भूषण भनत गन भरि के'; जिन्होंने शिवाजी के बाद छत्रसाल बुन्देला की केवल इसलिए प्रशंसा की थी कि उन्होंने 'रोप्यो रन ख्याल ह्वै के ढाल हिंदुवाने की।'

सारांश यह कि भूषण की कविता में जातीयता की भावना सर्वत्र व्याप्त है और वह तत्कालीन वातावरण तथा हिंदुओं की मानसिक अवस्था का सच्चा परिचायक है। भूषण की वाणी हिंदू जाति की वाणी है। हो सकता है भूषण की जातीयता में भारतीयता का भाव उतना न हो जितना हिंदूपन या हिंदू धर्म का था, पर उस समय हिंदूपन का संरक्षण ही एक प्रकार से जातीयता का संदेश था। उस समय मुसलमान ही विदेशी और अत्याचारी थे।

भूषण की कविता की दूसरी विशेषता उसकी ऐतिहासिकता है।
यद्यपि उनका ग्रंथ प्रबंध-काव्य नहीं है और उसमें ऐतिहासिकता तिथि और संवत् के अनुसार घटनाओं का क्रम

नहीं है, तथापि उसमें शिवाजी-सम्बन्धी प्रायः सब मुख्य राजनीतिक घटनाओं का—उनकी मुख्य-मुख्य विजयों का—उल्लेख है। ऐतिहासिक घटनाओं के संबंध में उनकी सत्य-प्रियता बहुत प्रशंसनीय है। किसी भी घटना में भूषण ने तोड़-मरोड़ नहीं की तथा अपनी ओर से कुछ जोड़ा नहीं। दान और आतंक के वर्णन को छोड़ कर कहीं अतिशयोक्ति या अत्युक्ति से काम नहीं लिया। अत्युक्ति और अतिशयोक्ति-अलंकारों के उदाहरणों में तो यह आवश्यक ही था। सब श्री जदुनाथ सरकार, किनकेड, पारसनीस तथा तेखुस्कर आदि आधुनिक महाराष्ट्र-ऐतिहासिकों की पुस्तकों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उन विद्वानों ने कई स्थानों पर भूषण के पद्यों का अनुवाद करके ही रख दिया हो ❀। इन ऐतिहासिकों ने शिवाजी के दान और आतंक के जो विवरण दिये हैं उन्हें देखकर भूषण के वर्णन को अत्युक्ति-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भूषण की कविता में से ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख युक्त पद्यों को छाँट-कर यदि तिथि क्रम से रख दिया जाय तो शिवाजी की अच्छी खासी जीवनी तैयार हो सकती है। भूषण के पहले किसी कवि ने ऐतिहासिकता का ऐसा पालन नहीं किया।

मौलिकता और सरलता

भूषण की कविता की तीसरी विशेषता है, उसकी मौलिकता और उसका सरल भाव-व्यंजना से युक्त होना। यद्यपि काल दोष से भूषण को रीतिबद्ध ग्रथ-रचना करनी पड़ी परन्तु उस रीतिबद्ध ग्रन्थ रचना में भी भूषण ने अपनी मौलिकता और सरल भाव व्यंजना का परित्याग नहीं किया। मौलिकता के कारण ही उन्होंने तत्कालीन शृंगार-प्रणाली को छोड़कर नये रस और नई प्रणाली को अपनाया। मौलिकता के कारण ही उनके वर्ण्य विषय और वर्णन-शैली, उनकी अलंकार-योजना तथा उनकी भाषा, सब में अनूठापन है।

❀ देखिए, हिन्दी भवन, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित भूषण-ग्रन्थावली की श्री देवचन्द्र नारंग द्वारा लिखी भूमिका।

भूषण के वर्ण्य-विषय वही पिष्टपेषित विषय नायिका के नख शिख आदि नहीं थे, अपितु उनके वर्ण्य विषय थे—शिवाजी के युद्ध, शिवाजी का यश, शिवाजी का दान तथा शिवाजी का आतंक। उनकी सारी कविता में ये ही चार विषय पाये जाते हैं। युद्ध-वर्णन में कुछ स्थानों पर भूषण ने वीरगाथा-काल के कवियों की तरह अमृतध्वनि छंद तथा अपभ्रंश शब्दों की बहुलता रक्खी है, पर साधारणतया उन्होंने सवैया और मनहरण कवित्त आदि छन्दों का बड़ी सफलता से प्रयोग किया है।

दिल्ली-दल दले सलहेरि के समर सिवा,
भूषण तमासे आय देव दमकत हैं।
किलकति कालिका कलेजे को कलल करि,
करिकै अलल भूत भैरों तमकत हैं॥
कहूँ रुंड मुंड कहूँ कुंड भरे स्रोनित के,
कहूँ बखतर करी झुंड झमकत हैं।
खुलै खग्ग कंध धरि ताल गति बंध पर,
धाय धाय धरनि कबंध धमकत हैं॥

नायक के यश वर्णन के उद्देश्य से ही भूषण ने ग्रंथ-रचना प्रारंभ की थी। सौभाग्य से महाकवि भूषण को शिवाजी जैसा नायक तथा प्रतापी मुगल सम्राट् औरंगजेब जैसा प्रतिनायक भी मिल गया था। भूषण यह भी समझते थे कि यदि नायक का प्रतिपक्षी महान् हो, अमित पराक्रमी हो तो उस पर विजय कर नायक भी अमित यश का भागी हो सकता है। अतः उन्होंने औरंगजेब के पराक्रम और प्रताप के वर्णन में कमी नहीं की। वे प्रायः पहली पंक्तियों में औरंगजेब के प्रताप का वर्णन कर अंतिम पंक्तियों में उस पर विजय पाने वाले अपने नायक शिवाजी का उत्कर्ष दिखाते हैं। भूषण जहाँ शिवाजी को 'सरजा' की उपाधि से भूषित करते हैं वहाँ औरंगजेब को 'मदगल गजराज' की संज्ञा देते हैं। जहाँ 'औरंगजेब को मारिबे को तेरो अवत[illegible] है' कह कर शिवाजी की प्रशंसा करते हैं वहाँ वे औरंगजेब को 'कु[illegible]

कन्न असुर औतारी" कहते हैं।

औरंगजेब के अतिरिक्त शिवाजी को अकेले ही अन्य अनेक मुसलमान बादशाहों और उनकी छत्र-छाया में बसने वाले राजपूतों तथा पश्चिमी तट पर बसी हुई अन्य विदेशी जातियों से लड़ना पड़ता था; उन सब का परिगणन कर अंतिम पंक्ति में "फिर एक ओर सिवराज नृप एक ओर सारी खलक" कह कर भूषण ने शिवाजी के अनन्त साहस का सुन्दर चित्र खींचा है।

शिवाजी के दान का वर्णन भी भूषण ने अनूठा किया है और शिवाजी के आतंक का वर्णन तो बहुत ही ओजस्वी, प्रभावोत्पादक और सजीव है। सहसा आक्रमण कर अपने आतंक से ही शत्रुओं को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देना शिवाजी की युद्धनीति थी; अतः शिवाजी के आतंक का वर्णन भूषण ने केवल वाणी विलास अथवा अर्थप्राप्ति के हेतु नहीं किया, अपितु नायक की नीति को सफल करने के निमित्त, शिवाजी की धाक चारों ओर फैलाने के लिए, फलतः विपक्षियों को विचलित करने के लिए किया है। भूषण इसमें इतने सफल हुए हैं कि कई समालोचकों का मत हो गया है कि भूषण वीररस से अधिक भयानक रस में विशेषता रखते थे।

नीचे दिया गया पद शिवाजी के आतंक और भूषण की वर्णन-शैली को अच्छा व्यक्त करता है।

> चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार-बार
>
> दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
>
> बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति,
>
> फिरति फिरंगिनि की नारी फरकति है॥
>
> थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा,
>
> हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
>
> राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
>
> केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

उनकी अलंकार-योजना में भी यही विशेषता है कि उसमें नायक-नायिका के नख शिख के सौंदर्य को व्यक्त करने वाली अलंकृत उक्तियों का पिष्ट-पेषण नहीं, न केवल शब्दों का इंद्रजाल है, अपितु सीधे सरल शब्दों में शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों को अलकारों द्वारा पाठक के मन में अंकित करने का सफल प्रयत्न है।

औरङ्गजेब ने और सब हिन्दू-राजाओ को वश में कर लिया था, पर केवल शिवाजी ऐसे थे, जिनसे वह कर न वसूल कर सका। इस ऐतिहासिक तथ्य को कवि ने भ्रमर और चंपा के कैसे अच्छे उपमा-मिश्रित रूपक द्वारा प्रकट किया है।

> कूरम कमल कमधुज है कदम फूल,
> गौर है गुलाब राना केतकी बिराज है।
> पाँडर पँवार जूही सोहत है चंदावत,
> सरस बुँदेला सो चमेली साज बाज है॥
> 'भूषन' भनत मुचकुन्द बड़गूजर है,
> बघेले बसंत सब कुसुम-समाज है।
> लेइ रस एतेन को बैठ न सकत अहै,
> अलि नवरङ्गजेब चंपा सिवराज है॥

भ्रमर सभी पुष्पों का रस लेता है, पर चंपा पर उसकी तीव्र गंध के कारण नहीं बैठ सकता। इस पद्य में औरङ्गजेब को भ्रमर और शिवाजी को—जिनका औरङ्गजेब कभी रस न ले सका—चंपा बनाना कैसा उपयुक्त है। चंपा के पास भ्रमर का न आना एक दोष माना जाता है किन्तु भूषण के पारस स्पर्श से दूषण भी भूषण बन गया है। जयपुर महाराज को कदम्ब और राणा को केतकी बनाना भी कम [illegible] नहीं है। [illegible] कि राजपूत राजाओं में से सबसे अधिक रस था [illegible] मुग़ल-सम्राट् को जयपुर-नरेश रूपी कमल से ही मिला था। [illegible] शिवाजी के रस लेने में औरङ्गजेब-रूपी भ्रमर को [illegible] उठाना पड़ा था।

शिवाजी को रात दिन बीजापुर के सुलतान ऐदिलशाह, गोलकुंडा के सुलतान कुतुबशाह तथा मुगल-सम्राट् औरङ्गजेब से लोहा लेना पड़ता था। इनमें पहले दो तो विवश होकर शिवाजी को कर देने लग गये थे, तीसरे को भी शिवाजी ने खूब नीचा दिखाया था। इस ऐतिहासिक तथ्य की पौराणिक कथा से समता प्रकट कर कवि ने व्यतिरेक का क्या ही अच्छा उदाहरण दिया है—

> एदिल कुतुबशाह औरंग के मारिबे को,
> भूषण भनत को है सरजा खुमान सों।
> तीनपुर त्रिपुर को मारे सिव तीन बान,
> तीन पातसाही हनीं एक किरवान सों।

सूरत जैसे प्रसिद्ध व्यापारिक शहर को लूट कर और जलाकर शिवाजी ने मुगल सल्तनत को खूब नीचा दिखाया था। सूरत के लुटने और जलाये जाने का हाल सुन कर औरङ्गजेब क्रोध से जल भुन गया था। यहाँ कवि ने कैसा असगति अलकार का चमत्कार दिखाया है—

> सूरत जराई कियो दाह पातसाह उर,
> स्याही जाय सब पातसाह मुख झलकी।

इस तरह हम देखते हैं कि भूषण की अलंकार-योजना में पिष्टपेषण नहीं, क्लिष्ट कल्पना नहीं, पर है सरलता तथा मौलिकता।

भाषा

वर्ण्य विषय और अलंकार-योजना के अतिरिक्त भूषण की भाषा में भी मौलिकता है वीर-गाथा-काल से काव्य-भाषा—पिंगल—का आधार ब्रज-भाषा ही थी। उसमें वीर-रसोपयोगी वर्णन के लिए अपभ्रंश-मिश्रित राजस्थानी का पर्याप्त प्रयोग किया जाता था। पर उसके पीछे कृष्णभक्त तथा रीति-काल के कवियों के समय ब्रजभाषा पर्याप्त मधुर और शुद्ध हो गई। शृंगारी वर्णनों के लिए ब्रजभाषा को और भी अधिक सरस बनाने का प्रयत्न किया गया; उसकी कर्कशता को सप्रयास दूर

किया गया, उसके स्थान पर कोमलकांत-पदावली प्रयुक्त होने लगी, जो कि वीर-रस के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। इस कारण भूषण को अपनी भाषा अपने आप तैयार करनी पड़ी।

सुदूर महाराष्ट्र देश में अपनी कविता का प्रचार करने के लिए उन्हें अपनी कविता की भाषा को खिचड़ी बनाना आवश्यक हो गया। पर उस खिचड़ी में भी ओज की कमी नहीं है। उनकी भाषा का सौंदर्य तो केवल इसी में है कि उसे पढ़कर या सुनकर पाठकों और श्रोताओं के हृदय में वीरों का आतंक, युद्ध का लोमहर्षण दृश्य, रणचंडी-नृत्य इत्यादि के चित्र खिंच जाते हैं। रस के अनुकूल शब्दों में भेरी-रव की विकट ध्वनि लक्षित होती है। भूषण ने अपनी भाषा को सर्व-सुलभ बनाने के लिए शुद्ध संस्कृत शब्दों के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों को मिलाने में भी संकोच नहीं किया। "ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक में" तथा "जिनकी गरज सुन दिग्गज बेआब होत मद ही के आब गरकाब होत गिरि हैं" आदि पद्यांशों में संस्कृत, देशज तथा विदेशी शब्दों का जोड़ देखने लायक है। इसी अनुप्रास-योजना के लिए भूषण ने '[illegible] बाजी गाजी' का भी प्रयोग किया है, यद्यपि 'गाजी' शब्द मुसलमानों द्वारा काफिरों पर विजय प्राप्त करने वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त तीनों विशेषताओं—जातीयता [illegible] भावना, ऐतिहासिकता और मौलिकता तथा [illegible] भाव-व्यंजना—[illegible] के अतिरिक्त महाकवि भूषण में एक और विशेषता है। [illegible] यह है कि धन के लोभ से भूषण ने अपनी कविता को, [illegible] में, [illegible] नहीं किया। [illegible] से अनेक हिन्दी [illegible] और [illegible] में तो प्रायः सभी प्रमुख कवि, अपने विलासी [illegible] की मनस्तुष्टि के लिए कलुषित प्रेम की शत-सहस्र [illegible] भंडार भरने के स्थान पर उसे [illegible] ने अनेक

वर्ष पहले कहा था—

कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिता ।

इसी बात को अनेक वर्षों के बाद भूषण ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार दुहराया—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी ।
राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी ॥
भूषण यों कलि के कविराजन राजन के गुण गाय नसानी ।
पुन्य-चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥

इस प्रकार भूषण ने अपने समकालीन कवियों के समान देवी भारती का तिरस्कार नहीं किया, अपितु शिवाजी और छत्रसाल जैसे राष्ट्र-नायकों के यश को गाकर उसे पुनः पवित्र कर दिया। इसी कारण तो स्वयं वीर-केसरी छत्रसाल ने उनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया था; इसी कारण तो हिन्दी-साहित्य में भूषण का नाम सदा के लिए अजर अमर है ।

---

३५. श्री मैथिलीशरण गुप्त

काल गणना में संक्रांतियों का विशेष महत्त्व रहता है । वह समय पुण्यकाल माना गया है। गुप्तजी वर्तमान हिन्दी-साहित्य के इतिहास में संक्रान्तियुग के कवि हैं। उनमें दोनों युगों की छाप है । उनमें द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और वर्तमान-युग की भावाभिव्यक्ति, दोनों, का अपूर्व सम्मिश्रण है । गुप्तजी ने द्विवेदी युग की शिक्षा से पूर्ण लाभ उठाया तुलसीदास जी की भाँति उनकी प्रतिभा भी महावीर जी के प्रसाद से ही प्रस्फुटित हुई । वह समय भी उपदेशात्मकता का था। देश में राष्ट्रीय भावना जागरित हो चुकी थी और जनता में राष्ट्रीय गीत सुनने की चाहकत उत्पन्न हो गई थी। सच्चे कवि की भाँति गुप्त जी ने तत्कालीन भावों को अपनी ओज-प्रसाद-माधुर्यात्मक त्रिगुण-विभूषित

वाणी द्वारा, विशेष गति देकर उनमें व्यापकता उत्पन्न कर दी। उनकी 'भारत भारती' जन-समाज के गले का हार बन गई और लोग पूर्वजों का गौरव-गरिमा गान सुन कर एक नई भावुकता के प्रवाह में बहने लगे। 'जयद्रथ-वध' में राष्ट्रीयता का उपदेश कथा-प्रवाह के साथ दिखाई दिया। 'अनघ' में वर्तमान युग की वीरता के, जो मारने में नहीं वरन् आत्मबलिदान में और जो शत्रुओं को दुख देने में नहीं वरन् कष्ट-सहिष्णुता में अपनी सफलता की चरम सीमा समझती है, दर्शन मिलते हैं। 'अनघ' में महात्मा गाँधी की प्रति-छाया है। कथा-वस्तु को बुद्ध भगवान के पूर्व जन्म से सम्बद्ध कर कुशल कवि ने उस ग्रन्थ को वर्तमान की संकुचित सीमाओं से ऊँचा उठा दिया है। इस प्रकार के 'वक-संहार', 'वन-वैभव', 'सैरन्ध्री' आदि और भी कथात्मक ग्रन्थ हैं, किन्तु उनका वर्णन देना लेख के कलेवर को अनावश्यक रूप से बढ़ा देगा। गुप्तजी ने 'चन्द्रहास' नाम का एक नाटक भी लिखा है।

उपदेशात्मकता एक आवश्यक गुण है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है। मनुष्य के हृदय का भी कुछ मूल्य है और कवि के लिए तो उसका महत्त्व सर्वोपरि है। 'पंचवटी', 'साकेत', और यशोधरा में हृदय की उन चिरन्तन भाविनी अवस्थाओं का उल्लेख है जिनका कि वर्णन कर कवि लोग महाकवि के पद से विभूषित होते हैं। 'पंचवटी' में बाह्य प्रकृति और मानवी प्रकृति के सुन्दर वर्णन पढ़ने को मिलते हैं। इसमें लक्ष्मण-ऊर्मिला की कथा भी बड़ी मनोहर है। राम, सीता और लक्ष्मण के कर्मभूमि में स्वच्छन्द पारिवारिक जीवन तथा आर्य-सभ्यता की परिपुष्ट-मर्यादा की सुन्दर झाँकी इस छोटी सी पुस्तक में मिलती है। [illegible] सुन्दर [illegible] उदात्तता के निकट सबद्ध है तथापि 'पंचवटी' में लक्ष्मण को [illegible] किया गया है जिसके कारण शूर्पणखा उनके ऊपर [illegible] हो जाती है और जब उनसे [illegible] अपने रूप [illegible] लिया, 'सीता [illegible] पलट कर [illegible] [illegible] हो कर एक कराह की हाड़ी

से'; तब उसका अंग-भंग करना किसी अंश में क्षम्य हो जाता है।

गुप्त जी की काव्य प्रतिभा का पूर्ण विकास हम उनकी 'साकेत' और 'यशोधरा' नाम की काव्य-पुस्तकों में देखते हैं। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का वर्णन कर गुप्त जी ने कवि-समाज के कलंक को दूर किया है। उर्मिला का त्याग अनुपम है। 'साकेत' का प्रारम्भिक प्रेम-प्रमोदमय दृश्य यद्यपि कहीं-कहीं अश्लीलता के तट को स्पर्श कर गया है तथापि वह उस नव-दम्पती के त्याग को और भी महत्ता दे देता है। प्रेम-पयोनिधि में अवगाहन करने वाले उर्मिला और लक्ष्मण का त्याग सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्तियों का-सा महत्त्व-पूर्ण त्याग बन जाता है। जिस दाम्पत्य-प्रेम के लिए लोग साम्राज्य भी त्याग देते हैं उसका सुख उन्होंने भ्रातृ-प्रेम और सेवाकार्य पर न्यौछावर कर दिया।

'साकेत' में कवि ने अपनी कल्पना के सहारे परम्परागत कथा-वस्तु में कई वांछनीय परिवर्तन किये हैं। हनुमान जी द्वारा लक्ष्मण जी के शक्ति लगने का हाल सुनकर अयोध्यावासियों का चुप रह जाना एक खटकने वाली बात है। गीतावली में गोस्वामी तुलसीदास जी को भी यह बात खटकी है। गुप्तजी ने अयोध्या में एक विशाल फौज तैयार करा दी है। इसमें केवल कल्पना की मौलिकता ही नहीं है वरन् वर्णन की सजीवता भी है। 'साकेत' के कवि ने कैकेयी के चरित्र को भी उसमें आत्मग्लानि उत्पन्न करके पीछे से बहुत सुधार दिया है—'युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी, रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।' उनकी मन्थरा यद्यपि तुलसीदास जी की छाया है तथापि उसका चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक है। वह बड़ी मार्मिक चोट करती है—"भरत से सुत पर भी संदेह"; यही बात कैकेयी के हृदय में बैठ जाती है। उर्मिला का विरह यद्यपि कहीं-कहीं परंपरा-भुक्त हो गया है और उसका बढ़ा हुआ आकार काव्य की प्रबन्धात्मकता में भी बाधा डालता है, तथापि बड़ा मार्मिक है। उसमें दुःख की व्यापक सहानुभूति है और वह ऐन्द्रियक न रहकर मानसिक हो

जाता है; "पहले, आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।"

यशोधरा भी भारतीय रमणियों में रत्न-सदृशा है और उर्मिला की भाँति वह भी उपेक्षिता रही। उसका काव्य-मय वर्णन कर गुप्त जी ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इस अमूल्य ग्रन्थ में गुप्त जी ने नारी-गौरव और स्वाभिमान का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उसको इस बात का दुःख नहीं है कि बुद्धदेव उसको छोड़ गये वरन् यह कि उन्होंने उसको पथ-बाधा समझ कर विश्वास करने योग्य न समझा और बिना कहे चले गये। देखिए कैसे मर्म-भेदी वाक्य हैं—

सखि वे मुझसे कह कर जाते
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?
स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में
प्रियतम को, प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में
क्षात्र धर्म के नाते।

नारी के त्यागमय जीवन का नीचे की पंक्तियों में बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है—

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

गुप्तजी ने केवल बौद्ध धर्म का ही वर्णन नहीं किया है, वरन् गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं का भी यश-गान किया है। हाल ही में गुप्त जी ने 'काबा और कर्बला' शीर्षक छोटी सी काव्य-पुस्तक लिख कर हिन्दुओं को मुसलिम-संस्कृति का परिचय कराया है। यह दोनों जातियों में मेल कराने का एक सत्य प्रयत्न है। 'द्वापर' में उन्होंने कृष्ण चरित्र का भी गान किया है, किन्तु तुलसीदास जी की भाँति अपनी अनन्यता रक्खी है—

धनुर्बाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग॥

'द्वापर' की कविता मुक्तक में ही है। कृष्ण-चरित्र प्रायः इसी रूप में पल्लवित हुआ है।

गुप्तजी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखे हैं, किन्तु प्राचीनों की भाँति उनकी चित्तवृत्ति प्रबन्ध-काव्य में अधिक रमी है। वर्तमान युग में जब प्रबन्ध-काव्य का ह्रास-सा दिखलाई पड़ता था, गुप्तजी ने इस ओर झुक कर वर्तमान काव्य की एक कमी को पूरा किया। प्रबन्ध काव्य के भीतर आये हुए 'मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया' आदि गीत इस युग के मुक्तक की ओर झुकाव के द्योतक हैं।

वर्तमान युग में प्रबन्ध काव्य के ह्रास के कई कारण हैं। उनमें एक प्राचीनों और नवीनों की मनोवृत्ति का भेद भी है। प्राचीन लोग अपने उपास्य में अपने व्यक्तित्व को मिला देना अपनी महत्वाकाँक्षा का चरम लक्ष्य समझते थे। वे जो कुछ कहना चाहते थे, स्वयं न कह कर कथा नायक से कहलाते थे। वर्तमान युग के लोग सब कुछ स्वयं कहना चाहते हैं। उनमें व्यक्तित्व-भावना का प्राधान्य रहता है। गुप्त जी ने अपने प्रबन्धात्मक काव्यों में कवि के सभी वर्ण्य-विषय लिये हैं और उनमें एक सुखद नवीनता उत्पन्न की है।

प्रकृति-वर्णन उनका यद्यपि परम्परागत है तथापि उसमें संश्लिष्ट योजना है और कहीं-कहीं मानवीकरण भी है। बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति का भी सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अंबर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों क नोकों से
मानो झूम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से॥

× × × ×

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति-पटी का रंग।
किरण कंटकों से श्यामांबर फटा, दिवा के दमके अंग।

कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोल कर, खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी।

'किरण कटकों से श्यामांबर फटा' कैसा कल्पना-पूर्ण-चित्र है। उषा-स्वरूपा सीता को रंगमंच पर लाने के लिए बड़ी सुन्दर पृष्ठ-भूमि तैयार की गई है।

गुप्त जी ने प्रबन्ध-काव्य में ही राजनीतिक और सामाजिक विचारों का समावेश किया है। प्रबन्ध काव्य में विचार अनर्गल नहीं रहा है। उनके लिए आधार-भूमि मिल जाती है और कल्पना पर भी विशेष बल नहीं देना पड़ता। देखिए—

राजा प्रजा का पात्र है।
वह लोक-प्रतिनिधि'मात्र है॥ (बक-संहार)

श्रीरामचन्द्र जी के श्रीमुख से निस्सरित स्वदेश-प्रेम से पूर्ण निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, चढ़ूँ बरसूँ कहीं।

'साकेत' में स्थान-स्थान पर गांधीवाद के सरल जीवन की छाप है। 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' वाला गीत इसी भावन से प्रेरित है।

गुप्तजी के 'भारत-भारती' आदि मुक्तक काव्यों में तो स्वदेश-प्रेम ही ओत-प्रोत है। उनकी 'झंकार' नाम की छोटी सी पुस्तक में हम वर्तमान रहस्यवादी कवियों की अनुरूपता पाते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

अब भी एक प्रश्न था कोऽहं
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं
तन्मयता कह उठी सोऽहं

कितना सुन्दर द्वैत और अद्वैतवाद का समन्वय है। तन्मयता ही द्वैत में अद्वैत-भावना उत्पन्न कर देती है।

खड़ी बोली की कविता में गुप्त जी का विशेष स्थान है। वे उसके

सफल प्रचारकों में से हैं। संस्कृत तत्समता के पक्षपाती होते हुए भी उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृत-बहुला नहीं बनाया है। उसके देशी रूप की ही प्रतिष्ठा रखी है। कहीं-कहीं साधारण शब्दों के व्यवहार से कुछ शैथिल्य भी आ गया है, वह प्रायः तुक मिलाने के उद्योग में; जैसे चक्खी के साथ मक्खी; भरती, करती के साथ धरती, मरती। किंतु वे अधिकतर बोल-चाल के प्रचलित शब्दों से बाहर नहीं जाते, उनमें संस्कृत का भी पुट रहता है। गुप्त जी का शब्द चयन भावानुरूप है। उनके शब्दों की ध्वनि कहीं-कहीं बिना अर्थ-बोध के ही भाव प्रकट कर देती है। गुप्त जी ने लोकोक्तियों का भी व्यवहार किया है किन्तु कम, उसमें वे अधिक सफल भी नहीं हुए हैं। लोकोक्ति का अनुवाद करने से उसका रस जाता रहता है। गुप्तजी ने प्रायः हिन्दी के छन्दों में ही अपनी कविता लिखी है, कुछ अतुकांत भी है। उनके कथोपकथन बड़े सजीव होते हैं और वे पात्रों की वाक्पटुता का परिचय देते हैं। उनके चित्र भी बड़े सुन्दर उतरते हैं और उनमें बहुत से सिनेमा के गत्यात्मक चित्र हैं—"पैरों पर पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं गुप्त जी के काव्य के कारण खड़ी बोली का मान बढ़ा है। उनके काव्य में केवल कलात्मकता ही नहीं है, वरन् वह लोक-हित और मंगल-कामना को लेकर चला है, जो पूर्णतया भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। वे प्राचीन आर्य-संस्कृति के संदेश-वाहक हैं। उन्होंने अपने काव्य द्वारा मानव-जाति के नैसर्गिक देवत्व का उद्घाटन कर मानव-गौरव को बढ़ाया है। उन्होंने नर में नारायण के और पृथ्वी में स्वर्ग के दर्शन कराये हैं। उनके राम का भी तो संसार में आने का यही उद्देश्य था—'नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।'

गुप्त जी ने प्राचीनकाल की ईश्वर को प्राधान्य देने वाली भावना का वर्तमान-कालीन मनुष्य को प्रमुखता देने वाली प्रवृत्ति के साथ समन्वय किया है। गुप्त जी की 'नहुष' नाम की पुस्तक में भी मानव-

गौरव का शुभ सन्देश है। जिस प्रकार वे प्राचीन सभ्यता के वैतालिक हैं उसी प्रकार नवीन सभ्यता के अग्रदूत हैं। वे प्राचीनता और नवीनता के सेतु हैं।

---

३६. हिंदी-साहित्य को मुंशी प्रेमचन्द जी की देन

काव्य जीवन की आलोचना है। हिन्दी साहित्य में उपन्यासों के संबंध में इस परिभाषा को चरितार्थ करने वालों में मुंशी प्रेमचन्द का नाम सबसे पहले लिया जाता है। मुंशी जी के हिन्दी साहित्य में अवतरित होने से पूर्व जो उपन्यास थे उनके लिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनका जीवन से कुछ संपर्क न था। किन्तु उनमें जीवन का क्षेत्र बड़ा संकुचित था। उनके पात्र जन-साधारण की दृष्टि से परे तिलिस्म और ऐयारी के कौतूहल पूर्ण लोक में विचरते थे। दूसरे प्रकार के उपन्यासों में भी जो मौलिक कहे जा सकते थे अधिकतर राजाओं, नवाबों और धन-कुबेरों की विलासमयी प्रेमलीला का वर्णन रहता था। वे सब उपन्यास मनोरंजन या कौतूहल-तृप्ति के लिए लिखे जाते थे। हिन्दी में कुछ उच्चकोटि के भी उपन्यास थे किन्तु वे अधिकांश में अनुवादित थे। उन पर हिन्दी को क्या गर्व हो सकता था और कब तक वे जनता की तुष्टि करते—'कहु कबीर कब लौं जिएँ जूठी पातर चाट'।

मुंशी प्रेमचन्द जी के उपन्यास-क्षेत्र में प्रवेश करते ही उसमें समुन्नति के चिह्न दिखलाई देने लगे। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनुष्य की अन्तःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता उनके उपन्यासों में मिली वह पहले और किसी के उपन्यासों में नहीं पाई गई थी। उनके उपन्यासों के पात्र जीवित और परिचित संसार के पात्र थे। चित्र देखने से हमको प्रसन्नता होती है, किन्तु यदि वह चित्र जान पहचान के किसी मनुष्य का हो तो प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों

में यही बात है। उनके उपन्यास का संसार किसी कल्पनालोक का संसार नहीं है। यह वही संसार है जिसमें हम चलते-फिरते और कार्य करते हैं। मुंशी जी ने हम को दिखलाया कि उपन्यास-साहित्य का विषय कितना विस्तृत है। मानव जीवन की समस्याएँ एक प्रेमिका से प्रेम करने और मार्ग में आई हुई बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर विवाह सम्बन्ध द्वारा प्रणय के शुचि-सूत्र को दृढ़ कर लेने अथवा असफल होने पर संन्यास ग्रहण करने या विष पान कर लेने तक सीमित नहीं हैं; अपितु जीवनक्षेत्र सागर की भाँति लंबा, चौड़ा और गम्भीर है। उसमें व्यक्ति और समाज का, किसान और जमींदार का, मजदूर और पूँजीपति का, शासित और शासक का, अवर्ण और सवर्ण का, नवीन और प्राचीन का संघर्ष है। वह सघर्ष हमारे विचार और संवेदना का विषय है।

मुशीजी के उपन्यासों में हमको मानव-जीवन की भलाइयों और बुराइयों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार दर्पण में हम अपना मलिन मुख देख उसको उज्ज्वल और परिष्कृत करने का प्रयत्न करते हैं वैसे ही हम अपनी बुराइयों को दूर करने का उद्योग करते हैं। उनके चित्र केवल बाह्य प्रकृति के ही चित्र नहीं हैं वरन् वे मानव-हृदय के चित्र हैं। उन चित्रों में हम मनुष्यों की अन्तरात्मा के भी दर्शन पाते हैं जो कभी मलीन दिखाई पड़ती है किन्तु जरा सी काई के हट जाने पर वह निर्मलता का स्रोत प्रतीत होने लगती है।

मुंशीजी ने जीवन के विस्तृत क्षेत्र में दलितों, पीड़ितों और उपेक्षितों का पक्ष लिया है। वे लोग आकर्षण-केन्द्र बने और उनके सहारे उच्च-श्रेणी के लोगों का भी वर्णन आ गया है।

राजनीतिक आन्दोलनों की उन पर गहरी छाप थी। वे प्लेटफार्म पर नहीं आये किन्तु उन्होंने पीड़ितों, विशेषकर ग्रामीणों की दयनीय दशा का सच्चा चित्रण किया। उन्होंने ग्रामीणों और साधारण लोगों में उच्च मानवता के दर्शन कराकर और उनकी वीरोचित कष्ट-सहिष्णुता

का परिचय देकर उनके प्रति हमारी श्रद्धा-भावना को जाग्रत किया; उनके हृदय की मूक-वेदना को मुखरित कर उस शब्द को आकाश-वाणी यंत्र(Radio) की भाँति झोंपड़ियों से महलों तक पहुँचाया और महलों में सोने वालों को झोपड़ियों के स्वप्न दिखलाकर उनकी सहानुभूति को उद्बोधित किया।

प्रेमचन्द जी मानवता के कवि थे। मानवता उनके लिए किसी जाति-विशेष या श्रेणी-विशेष में सीमित न थी। उन्होंने किसी व्यक्ति को हिन्दू होने के कारण अच्छा और मुसलमान होने के कारण बुरा नहीं दिखलाया। कबीर की भाँति दोनों में जहाँ उनकी बुराई देखी बुराई की और भलाई देखी तो बड़ाई की। सच तो यह है कि मुंशी जी का ध्यान बुराइयों की अपेक्षा भलाइयों की ओर अधिक गया।

मुंशी प्रेमचंद जी महान कलाकार थे। वे कला को कला के लिए मानने वालों में न थे। उनकी कला लोक-हित और जनता की मंगल-कामना को लक्ष्य बनाकर अवतरित हुई थी। उनके उपन्यासों में कोई-न-कोई लोक-संग्रहात्मक उद्देश्य रहता था। इसलिए उनके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वे कहीं-कहीं उपन्यासकार न रहकर उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं, यह बात कहीं-कहीं तो किसी अंश में सत्य है, किन्तु सत्काव्य की भाँति उनके उपन्यासों में भी उपदेश की व्यञ्जना ही रहती है। उनके उपन्यास ऐसे नहीं हैं जो मन को कोरा छोड़ दें। वे विचारोत्तेजक हैं। वे हम को समाज की किसी समस्या की ओर ले जाते हैं। 'सेवासदन' में सामाजिक अत्याचार द्वारा स्त्रियों के पतन तथा वेश्याओं के सुधार की समस्या है। 'प्रेमाश्रम' में घरेलू कलह तथा जमींदार और काश्तकार के संबंध का प्रश्न है। 'रंगभूमि' में राष्ट्रीयता का रूप और अहिंसात्मक आंदोलन का औपन्यासिक चित्र दिखाया गया है। 'कायाकल्प' में मरणोत्तर जीवन का प्रश्न है। 'ग़बन' में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम से जो हानि होती है उसका अच्छा चित्रण है। सरकारी गवाह बनाने में पुलिस के हथकंडों का भी

अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। 'कर्मभूमि' में घर और बाहर का संघर्ष है जिसमें कार्य-क्षेत्र प्रबल सिद्ध होता है और पुत्र के कार्यक्षेत्र में पिता के भी सम्मिलित हो जाने से घर और बाहर का समझौता हो जाता है। 'गोदान' में किसानों के कर्ज की समस्या है और उनके ग्रामीण और शहरी जीवन की तुलना भी की गई है। मुंशी जी ने सुधार के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला है। मृतक-भोज, बेमेल विवाह, अछूतोद्धार, शराबबन्दी, दहेज आदि सभी समस्याओं पर प्रकाश डाला है। वे उन सुधारकों में नहीं थे जो भूसी के साथ गेहूँ भी फटक देते हों। हिन्दू समाज की बुराइयों के उद्घाटन के साथ उसकी भलाइयों की ओर भी उनका ध्यान गया है। सम्मिलित कुटुम्ब के वे पक्ष में थे। एक कहानी में वे लिखते हैं कि जब दोनों भाई शामिल थे वे किसान थे, जब अलग अलग हो गये वे मज़दूर बन गये।

इन उपन्यासों की समस्याएँ यद्यपि सामयिक हैं तथापि उन में हम एक शाश्वत पुकार का परिचय पाते हैं जिस के कारण ये कृतियाँ अमर रहेंगी। मानव-समाज की समस्याओं का रूप बदलता रहता है किन्तु मूल में वे एक सी ही रहती हैं। प्रेमचन्द जी वर्तमान के सहारे मानवता और न्याय के चिरन्तन सत्य की ओर झुके हैं। सब समस्याओं का हल मानवता में है। मुंशी जी ने उसी मानवता की प्रतिष्ठा करनी चाही है।

उनकी कहानियों में भी हम वर्णन के सौन्दर्य के अतिरिक्त मानव-हृदय की विशालता का परिचय पाते हैं। बड़े घर की बेटी, पंच-परमेश्वर, मुक्तिमार्ग, आत्माराम, इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बहुत-सी कहानियाँ जीवन की झाँकी-मात्र हैं। जैसे—शतरंज के खिलाड़ी। खेल का वर्णन बड़ा सजीव और चित्रोपम है। खिलाड़ियों की तन्मयता एक उल्लेखनीय वस्तु है। कुछ लोगों का कथन है कि मुंशी प्रेमचन्द जी ने कहानी के क्षेत्र में उपन्यासों की अपेक्षा

अधिक सफलता प्राप्त की है। यह कथन निर्विवाद नहीं है। इस धारणा का एक कारण यह है कि उपन्यास के विस्तार की स्वतंत्रता पाकर वे अपने का संयम में नहीं रख सके हैं। वे आन्दोलनों के प्रवाह में स्वयं बह से गये हैं; वहीं उनके उपन्यासों में शैथिल्य आ गया है। वे अन्विति (Unity) का भी निर्वाह नहीं कर सके हैं। कथा प्रवाह की कई धाराएँ फूट पड़ती हैं जिनकी आधिकारिक कथा से संगति नहीं हो पाई है। भाषा में भी शैथिल्य आ गया है और व्यंग्यात्मक शैली को छोड़ कर वे प्लेटफार्म की उपदेशात्मक शैली का अनुसरण करने लगे हैं। कहानी के छोटे आकार ने उनको संयम की सीमा के भीतर ही रक्खा है। वे उन मनुष्यों की भाँति हैं जो नियम और सीमा के बंधन में बँधकर तो अपने को संयत रख सकते हैं और उन्मुक्त वातावरण में पहुँच कर दौड़ लगाने लग जाते हैं। कहानी में उसके छोटे आकार के कारण वे अन्विति और एकतथ्यता को अच्छी तरह निभा सके हैं। कहानी में उनकी कला कविता के अधिक निकट आजाती है और उसके द्वारा उन्होंने बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया है और वे कहानी के छोटे मुँह से बड़ी-बड़ी बातें कह सके हैं। उनकी कहानियों में भाषा भी अधिक चुस्त बनी रह सकी है। जो लोग कहानी या उपन्यास में संगठन की परवाह नहीं करते उनके लिए मुंशी प्रेमचन्द उपन्यासकारों के ही रूप में अधिक सफल हुए हैं। सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों का जैसा सुन्दर चित्रण उन्होंने किया है वैसा बहुत कम उपन्यासकारों ने किया है। जो लोग सामाजिक या राजनीतिक चेतना जाग्रत करने को ही अधिक महत्त्व देते हैं उनके लिए मुंशी जी के उपन्यासों का बहुत अधिक मूल्य है। मुंशी जी की कहानियाँ बिहारी के दोहों की भाँति देखने में छोटी होती हुई गम्भीर घाव करती हैं और उनके उपन्यासों का प्रभाव कबीर के पदों का सा है। वे कला में इतने पूर्ण नहीं हैं, किन्तु अपने प्रभाव में अधिक व्यापक हैं। कला के पारखियों के लिए मुंशी जी कहानियों

में अधिक सफल हुए हैं। राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व देने वालों की दृष्टि से मुंशी जी अपने उपन्यासों में अधिक उत्कृष्टता प्राप्त कर सके। यह बात नहीं है कि मुंशी जी अधिक सुगठित उपन्यास नहीं लिख सकते थे। 'निर्मला' इसका अच्छा उदाहरण है। किन्तु नैतिकता और प्रभावोत्पादन के प्रवाह में वे अपने को मुश्किल से ही संयत रख सकते थे। इसीलिए कुछ लोग उनको उपन्यासों में असफल बतलाते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने उपन्यासों में केवल जैसा का तैसा वर्णन नहीं किया है; उन्होंने सच्चे कलाकार की चुनाव शक्ति से काम लिया है। इसी के कारण वे यथार्थवाद और आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय कर सके हैं। सच्चा कलाकार बीभत्स में से भी सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है। संसार गुण-दोष, पाप-पुण्य, पतझड़ और वसन्त, करुणा-क्रन्दन और हास-विलास का छायालोकमय मिश्रण है। प्रेमचन्द जी ने संसार के कालिमामय दृश्यों की उपेक्षा नहीं की किन्तु उनका चित्रण इतना गहरा नहीं किया जिससे कि उनके अन्तस्तल में स्थित उज्ज्वल प्रकाश के कण छिप जाँय। उन्होंने मानव-जीवन के प्रकाशमय कणों को कालिमा में विलीन नहीं किया वरन् उनको ऊपर लाकर थोड़ा चमका दिया है। उन्होंने दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज की है। उनको मानव-हृदय की श्रेष्ठता में अटल विश्वास था; किन्तु जहाँ पर अत्याचारियों के अत्याचार का प्रश्न था, वहाँ वे उनके उद्घाटन में वास्तविकता की बीभत्सता से नहीं घबराये। पुलिस वालों के अत्याचार, घूसखोरी, जिमींदारों की धौंस, बेगार और डाँट-डपट के विरुद्ध वे सदा लिखते आये हैं। यही उनका यथार्थवाद समन्वित आदर्शवाद है।

मुंशी जी केवल यथार्थ का ही नहीं वर्णन करते किन्तु शक्य और सम्भव के घेरे में वे थोड़े बहुत सामाजिक प्रयोग कर उनका शुभाशुभ फल दिखला देते हैं और सुधारक के कार्य-क्रम की ओर संकेत कर देते हैं। 'प्रेमाश्रम' के मायाशंकर जी अपने किसानों को ही ज़मीन का मालिक बना देते हैं, "मैं अपनी प्रजा को अपने

अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ, वह न मेरे आसामी हैं न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज वे अपनी जोत के स्वयं जिमींदार हैं।" 'सेवासदन' में भी एक प्रकार का सामाजिक प्रयोग है। इसमें वे आदर्शवाद की ओर कुछ ज्यादा झुके हुए मालूम होते हैं। 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्मभूमि' में अछूतोद्धार और मन्दिर-प्रवेश की समस्या को भी लाये हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में उनकी लगन और हृदय की सचाई का पूरा परिचय मिलता है। इसलिए वे हमारे हृदय के अधिक निकट आते हैं।

मुंशी जी का जीवन के प्रति एक उदार दृष्टिकोण था। वे जीवन को उसकी प्राकृतिक छटा में देखना चाहते थे। वे 'गोदान' के एक प्रमुख पात्र मिस्टर मेहता से कहलाते हैं "मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ। जो रोने को कमज़ोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं उनसे मेरा मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है।" जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण उनके मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक है।

मुशी जी के उपन्यास बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक अध्ययन हैं। उनको मानव-हृदय के अन्तस्तल की दुर्बलताओं का पता था और वे ऊँचे और नीचे उद्देश्यों को भली भाँति समझते थे। हृदय के कपाट खोलक उसकी झाँकी करा देने में वे बड़े कुशल थे; मानसिक शिथिलता औ दृढ़ता के अवसरों को वे पहचानते थे। 'गोदान' और 'गबन' में ऐ मानसिक शैथिल्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी जिस प्रकार अपनी सूक्ष्मदृष्टि और हृदय क सचाई के कारण सफल उपन्यासकार बने वैसे ही उनका भाषा पर अधि कार उनकी सफलता में सहायक हुआ। उनकी भाषा का सबसे बड़ा गु उसकी अकृत्रिमता है; वह आडम्बर-शून्य है, किन्तु गौरव से भरी है जिस प्रकार उनके भावों में हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की शुभाकां रहती है वैसे ही उनकी भाषा में हिन्दी उर्दू का सुखद सम्मिश्र

है । उर्दू की मुहावरेदानी का उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया और वे हिन्दी में भी उर्दू का सा लोच और चलतापन उत्पन्न कर उसकी शुद्धता स्थिर रखने में सफल हुए हैं। जिस हिन्दुस्तानी के लिए लोग गरमागरम प्रस्ताव पास करते हैं उसका उन्होंने क्रियात्मक प्रयोग करके दिखला दिया। जहाँ पर मुसलमान पात्रों से कुछ कहलाया है, उनकी हिंदी ने उर्दू का रूप ले लिया है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने मुहावरों के बड़े सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने शहर के मुहावरों का ही प्रयोग नहीं किया है वरन् गाँव के मुहावरों को भी साहित्यिक प्रतिष्ठा दी है। 'घर में घी आँख आँजने तक को नहीं है', 'उसका रोआँ-रोआँ प्रसन्न हो गया' इत्यादि में भावों की कितनी सुन्दर एवं शक्ति-पूर्ण अभिव्यञ्जना है।

प्रेमचन्द जी की भाषा की यह विशेषता है कि वह पात्रानुकूल बदलती गई है। इसीलिए वे अपने उपन्यासों में नाटकीय ढंग लाने में बड़े सफल हुए हैं। उनके कथोपकथन बड़े ही सजीव हैं। उनके पात्रों की भाषा उनकी भाषा से भी कुछ अधिक चलती हुई है। यद्यपि कहीं-कहीं, जहाँ उन्होंने मुसलमानों से और विशेषकर पुलिस अफसरों से वार्तालाप कराया है वहाँ, उनकी भाषा अधिक उर्दूमय बन गई है। यहाँ तक कि वह केवल हिन्दी जानने वालों के लिए दुरूह भी हो गई है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का आक्षेप है कि यदि कोई चीनी पात्र हो तो क्या वे चीनी भाषा में वार्तालाप कराएँगे। यह बात को बढ़ा कर कहना है। हिन्दी और उर्दू में इतना अन्तर नहीं है जितना कि हिन्दी और चीनी में। उर्दू हिन्दी की ही विभाषा है। चीनी तो आर्यभाषा भी नहीं है।

मुंशी प्रेमचन्द जी बड़ी गूढ़ से गूढ़ बात को सरल भाषा में कह सकते थे। उनमें आडंबर और पांडित्य-प्रदर्शन का अभाव था। देखिए निष्काम कर्म का कैसे सरल और सुन्दर शब्दों में उपदेश देते हैं—

"भैया कोई काम सवाब समझ कर नहीं करना चाहिए। दिल

को ऐसा बना लो कि काम में वही मजा आवे जो गाने या खेलने में। कोई काम इसलिए करना कि उससे नजात मिलेगी, रोजगार है।"

गाँवों की हीन और संपन्न अवस्थाओं के भी उन्होंने बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। ऐसे चित्र 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में प्रचुरता से मिलते हैं। गाँवों का प्रकृति-वर्णन भी बड़ा ही सुन्दर किया है।

"फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगंध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्तदान कर रही थी।"

मुंशी जी ने कहीं-कहीं भाषा को ऐसा समस्त और सुगठित बनाया है कि उनके कथन सूक्तियाँ बन गए हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी नवीन और फबती हुई होती थीं जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती हैं; 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं न कहीं से टूट जाती है।' उनकी भाषा में मधुर हास्य और व्यंग्य के भी अच्छे छींटे रहते थे। सारांश यह कि उपन्यास की भाषा के लिए जो जो गुण चाहिएँ वे उनकी भाषा में थे। इसके साथ उनमें सच्चे कलाकार का सहृदयतापूर्ण दृष्टिकोण था। इसी कारण वे जनता के गले का हार बन गये हैं। मुंशी जी हिंदी-साहित्य की अमर विभूतियों में से हैं। उन पर हिंदी भाषा-भाषियों को गर्व है।

---

३७. हिन्दी-नाट्य-साहित्य को प्रसाद जी की देन

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का इतिहास यथार्थतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही आरंभ हुआ है। उनसे पूर्व कुछ नाटक लिखे तो गये, पर वे नाम के नाटक थे। हरिश्चन्द्र से पूर्व के नाटकों में देव का 'देव माया-प्रपंच', ब्रजवासीदास तथा महाराजा जसवंतसिंह के 'प्रबन्ध चन्द्रोदय' के

अनुवाद, तथा बनारसीदास जैन का 'नाटक समय सार' छन्दोबद्ध आध्यात्मिक कविताएँ मात्र हैं। ठीक हरिश्चन्द्र युग में आगरा के राजा लक्ष्मणसिंह और अलीगढ़ के तोताराम ने क्रमशः 'शकुन्तला' तथा 'केटोकृतान्त' के अनुवाद करके हिन्दी को दिये थे। बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटककार अपने पिता को मानते थे, जिन्होंने 'नहुष' नाटक लिखा था। यह नाटक ब्रजभाषा में लिखा गया था। भारतेन्दु जी ने नाटकों को प्रबल प्रेरणा दी; उनके समय में कितने ही नाटककार हुए। इस काल के नाटकों में प्राचीन और अर्वाचीन नाटक-पद्धतियों की सन्धि मिलती है। इस समय चरित्र के निरूपण की ओर दृष्टि तो गई पर वे उतने मनोवैज्ञानिक नहीं हो सके, साँचे में ढले हुए आदर्श की भाँति ही उनको उपस्थित किया गया। हाँ इस काल में कुछ रूपक ऐसे लिखे गये जिनमें तत्कालीन अवस्था का चित्रण किया गया। यह चित्रण यथार्थ को वास्तव रूप में नहीं रख सका। सामग्री की दृष्टि से तो यह यथार्थ रहा, पर निरूपण और शैली में वह आदर्श टाइप का हो गया। चित्रण और अभिव्यक्ति का धरातल उथला था। विचार की गहनता से अधिक भावावेशों का प्राधान्य था, भावावेशों का मूल भी जीवन के आधार स्रोत से नहीं था, अपितु क्षणिक उत्तेजनों से उत्पन्न बुद्बुदों के समान था। टेकनीक में भी भ्रम पर्याप्त मिलता है, एक अनिश्चितता है।

दूसरा युग हरिश्चन्द्र और प्रसाद काल के बीच का सन्धि-युग है। इस युग में द्विजेन्द्रलाल राय और जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों की धूम रही। इनमें नाटक रंगमंच की ओर पहले से कुछ विशेष आकर्षित हुए। इसका प्रधान-गुण पात्रों में वैज्ञानिक रूप-रेखा का आधार था। नाटककार पात्रों को चरित्र के रूप में देखने-समझने लगे थे, पर इन चरित्रों का प्रेरणा-केन्द्र फिर भावुकता रही। पहले काल का भावावेश कुछ गंभीर और स्तब्ध (Crytalize) होकर सुगठित हो गया था, और उसका उद्रेक केवल बाह्य

स्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं रह गया था, प्रत्येक अभिव्यक्ति और आचरण का मूल चरित्र के व्यापक निजी तत्त्व में आबद्ध हो गया था। इस प्रकार अब नाटकों में कथानक के विकास के साथ सुसम्बद्ध पात्र-विकास भी हो उठा था; पात्र जीवन के अनुकूल हो उठे थे, वे आदर्शोन्मुख रहते हुए भी यथार्थ की ओर अग्रसर हो रहे थे। नाटकीय शैली में पाश्चात्य-प्रभाव से हुआ संशोधन स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था। बंगाल और फ्रांस के प्रभाव से हिंदी का कलाकार क्षुब्ध हो रहा था। इस समय बाबू जयशंकर प्रसाद जी हिंदी-साहित्य में आये।

'प्रसाद' अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी कला के प्रखर प्रकाश से द्विजेन्द्र तथा अन्य बंगाली नाटककारों के प्रभाव को एक दम मन्द कर दिया। द्विजेन्द्र में नाटककार की ही प्रतिभा थी, जो ऐतिहासिक वृत्ति से बद्धमूल थी। उनकी ऐतिहासिक वृत्ति उतनी शोधोन्मुख नहीं थी, जितनी विशदीकरण की ओर थी। उसमें चित्रण तो था, व्याख्या नहीं थी। 'प्रसाद' में नाटककार तो था ही, पर कवि उससे भी प्रबल था। उसके साथ ही पुरातत्त्वज्ञ की सी आकुलवृत्ति भी थी, और व्याख्या वृत्ति का भी उदय उनमें दिखाई देता है। उनके पुरातत्त्वज्ञान ने उन्हें द्विजेन्द्र से अधिक भारतीय मौलिक अवस्था और व्यवस्था को समझने की क्षमता प्रदान की। द्विजेन्द्र जहाँ बंकिमचन्द्र के औपन्यासिक युग के नाटककार बने, भारतीय संस्कृति की सतह के संघर्ष को खोलकर उपस्थित करने वाले; वहाँ प्रसाद ने रवीन्द्र-युग की प्रेरणाओं को हिंदी में नाटक के रूप में प्रस्तुत कर दिया, जिसमें उन्होंने रवीन्द्र से भी अधिक ऐतिहासिक विशेषता प्रस्तुत कर दी। प्रसाद की देश-भक्ति ने सांस्कृतिक चेतना का रूप लिया था। उनके नाटकों में द्विजेन्द्र के पात्र-चित्रण का, जिसमें भावुकता विद्यमान है, रवीन्द्र के दार्शनिक विचारों का, जिनमें चाहे उनकी सी सात्त्विकता और सुसंबद्धता नहीं; और राखाल बंद्योपाध्याय की अनूठी ऐतिहासिक चित्रकारिता का, जो अच्छे से अच्छे पुरातत्त्व-विशारद की सी ऐतिहा-

सिकता के समकक्ष ठहर सकती है; अभूत-पूर्व सम्मिश्रण है। राखाल बाबू के उपन्यासों से अपने नाटकीय कथा-वस्तु के लिए प्रेरणा लेकर अपनी खोज और कल्पना से प्रसाद ने उसे कुछ और ही रूप प्रदान कर दिया। अपनी विलक्षण प्रतिभा और कला से उन्होंने अपने नाटकों में सामयिक अभिव्यंजनावाद के साथ-साथ रहस्यवाद की गहनशीलता का विचित्र चमत्कार दिखाया है।

प्रसाद ने कितने ही नाटक लिखे, जिनमें 'अजातशत्रु' 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' प्रधान हैं। 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'विशाख' और 'राज्यश्री' उनकी रचनाओं में दूसरा स्थान पाते हैं। कुछ छोटे नाटक और हैं। 'कामना' उनका बड़ा नाटक है पर काल्पनिक है। 'एकघूँट' एकांकी है। प्रायः उनके नाटकों की वस्तु बौद्धकालीन इतिहास से सम्बन्ध रखती है। उनमें बौद्धकाल के उदय, मध्य और अंत तक के चित्र आगये हैं। किन गुणों से बौद्धधर्म उदय हुआ और चमका वह 'अजातशत्रु' में है। उसके ह्रास-कालीन वृत्ति के चित्र 'स्कंदगुप्त', 'विशाख' और 'राज्यश्री' में मिलते हैं। इन नाटकों के द्वारा भारतीय राजनीति और राज्य-व्यवस्था का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप भी उन्होंने प्रस्तुत किया। इसका उत्कर्ष 'चंद्रगुप्त' में सर्वाधिक है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भारतीय इतिहास के जातीय द्वन्द्व और संघर्ष का चित्र है। उसका अभी समीचीन रूप से अध्ययन नहीं हुआ। उसमें प्रसाद की जातीय-संघर्ष की व्याख्या और व्यवस्था है, जो आज भी राज-नीतिज्ञों को कुछ सहायक हो सकती है। यथार्थ में प्रसाद के नाटक पात्र-चित्रण या पुनर्निर्माण के चित्र नहीं, वे आज की उन समस्याओं के लिए हल और सुझाव भी देते हैं। किन्तु इतने घोर बौद्धिक-युग में भी उन पर बुद्धिमता-पूर्वक विचार नहीं हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' में स्त्री की समस्या पर प्राचीन इतिहास की क्रांतिकारिणी साक्षी दी गई है। 'एकघूँट' में स्वतंत्र प्रेम पर व्यंग्य है। 'कामना' में कवि ने घोर पदार्थवाद के रूप और उसकी देन की कटु आलोचना की है। इस

प्रकार इस नाटककार ने युग के साथ युग-युग को उपस्थित कर दि
है। अतः जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, यही नाटकका
जिसने हिंदी-नाटक-साहित्य को अभिनव-योजना और ऐतिह
ठोस आधार पर खड़ा किया !

चरित्रों की सृष्टि में भी प्रसाद जी बड़े सिद्ध दिखाई देते
उन्होंने देवसेना, कल्याणी, अलका जैसे मानवता के गौरव स्वरूप
वप और काव्यमय पात्रों की कल्पना की है, तो साथ ही प्रपंचबु
भट्टारक आदि क्रूर षड्यंत्री पात्रों की, जो मानवता के अभिशाप
जा सकते हैं, भी रचना की है। सब अपने अपने व्यक्तित्व में पूर्ण हैं
'सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीचु'। सिकन्दर और चंद्र
जैसे महत्त्वाकांक्षी और दांड्यायन जैसे सांसारिक वैभव को उपेक्षा क
वाले पात्र भी उनके ही नाटकों में मौजूद हैं।

यही पहला नाटककार है जिसने नाटकों का साहित्यिक धरा
अनायास ही ऊँचा कर दिया, और उसमें अध्ययन की सामग्री
प्रचुरता कर दी, भाषा और भाव दोनों का रूप निखार दिया। भ
में रंगीनी, दार्शनिकता और ओज के साथ अभिव्यञ्जनावादी शैली
सौंदर्यमय चमत्कार प्रसाद के संवादों में ही मिलेगा। उन्होंने भाषा
भी उसी के योग्य शक्ति प्रदान कर दी। यही कारण है कि कई आलो
कहते हैं कि प्रसाद जी की भाषा रंगमंच के योग्य नहीं है। साधा
जन उसे नहीं समझ सकेगा। वास्तव में भाषा की उतनी दुरूह
नहीं है, जितनी भावों की उच्चता है, और उस भाव के धरातल
प्रस्तुत करने में युग की रहस्यवादी टेकनीक को प्रसाद जी ने नाट
में भी उतार लिया है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि
सहृदयों को उनके नाटक इतने प्रिय और इतने आकर्षक लगते
उनमें कोई रंगमंच सम्बन्धी त्रुटि भी दृष्टिगोचर नहीं होती,
उनके नाटक में कमी नहीं, रंगमंच ही उसके योग्य नहीं बन सका
यथार्थ में हिंदी में अपना रंगमंच है ही नहीं। तभी हिंदी में साहित्यि

नाटकों की प्रधानता हो गई।

प्रसाद जी ने नाटकीय टेकनीक का एक मार्ग सुनिश्चित कर दिया। हिंदी के नाटककारों ने बाद में उन्हीं का अनुसरण किया है। अतः ऊँची कक्षा के नाटकों का प्रवर्त्तन करने और उसमें मनोवैज्ञानिक चित्रण को प्रधानता देने का श्रेय प्रसाद जी को है। जो कार्य उपन्यासों में प्रेमचन्द ने किया वही प्रसाद ने नाटकों में किया। 'एकघूँट' के द्वारा उन्होंने 'एकांकी' नाटकों का भी विधिवत् सूत्रपात हिंदी में कर दिया।

इनके बाद के नाटककारों में बौद्धिकता तो विशेष आगई, पर वह गरिमा और सौंदर्य नहीं आ सका। फलतः नाट्य-साहित्य में प्रसाद जी अब भी अद्वितीय ही हैं। वे बड़े नाटकों के लिए आज भी पथ-प्रदर्शक का कार्य कर रहे हैं।

---

३८. ब्रजभाषा और खड़ी बोली

हिन्दी की पाँच मुख्य उपभाषाएँ हैं; राजस्थानी, अवधी, ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी और खड़ी बोली। पाँचों ही उपभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रांतों में बोली जाती हैं। यद्यपि प्राचीन चारण तथा मीरा आदि कवियों की कविता में राजस्थानी का पर्याप्त पुट था, और प्रेममार्गी तथा रामभक्त कवियों ने अवधी को अपनाया, पर हिन्दी में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ब्रजभाषा का रहा और पीछे से खड़ी बोली का हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने से कुछ काल पूर्व तक तो ऐसा था कि खड़ी बोली गद्य की भाषा थी और ब्रजभाषा पद्य की। उसके पश्चात् बोलचाल और कविता की भाषा का विच्छेद दूर करने के लिए खड़ी बोली में भी कविता होने लगी। इन उपभाषाओं के संबंध में दो मुख्य प्रश्न हैं। पहला ऐतिहासिक, अर्थात् इन दोनों उपभाषाओं की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से हुई, अथवा एक दूसरी से। और दूसरा है सापेक्षित महत्त्व का, अर्थात् गद्य और पद्य के माध्यम होने के लिए किसको किस में विशेष क्षमता है?

ऐतिहासिक विवेचना के पूर्व इनके स्वरूप-भेद पर यदि थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा।

ऐतिहासिक

साधारण जनता की बोलचाल के संबंध से ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, एटा और अलीगढ़ के जिलों तथा धौलपुर और ग्वालियर राज्यों के कुछ भागों में बोली जाती है और खड़ी बोली देहली, मेरठ, बुलंदशहर के आसपास बोली जाती है। ब्रजभाषा का केन्द्र मथुरा है और खड़ी बोली का केन्द्र है मेरठ। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के रूप में भी अनेक भेद हैं। ब्रजभाषा में पुंल्लिग संज्ञाएं, विशेषण और संबंध-कारक-सर्वनाम ओकारान्त होते हैं, जैसे—घोड़ो, घेरो, छोटो, बड़ो, मेरो, तेरो, हमारो इत्यादि। खड़ी बोली में ये सब अकारान्त होते हैं; जैसे—घोड़ा, घेरा, छोटा, बड़ा, मेरा, तेरा इत्यादि। ब्रजभाषा का बहुवचन बनाने के लिए अंत में 'न' का प्रयोग होता है; जैसे—पंडितन, किताबन, दिनन इत्यादि। खड़ी बोली में बहुवचन सानुस्वार 'ओ' लगने से बनता है, जैसे—पंडितों, किताबों, दिनों। खड़ी बोली में साधारण क्रिया का एक ही रूप होता है; जैसे—आना, जाना, करना। ब्रजभाषा में साधारण क्रिया के तीन रूप होते हैं; एक 'नो' से अंत होने वाला, जैसे—आनो, जानो, करनो, धरनो, इत्यादि; दूसरा 'न' से अंत होने वाला, जैसे—आवन, जावन, लेन, देन और तीसरा 'बो' से अंत होने वाला जैसे—आइबो, जाइबो, करिबो इत्यादि।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के कारक-चिह्न भी कुछ भिन्न होते हैं। कर्म में ब्रजभाषा में 'को' 'कौं' दोनों होते हैं, खड़ी बोली में केवल 'को' होता है। करण में ब्रजभाषा में 'सों' और 'तें' का व्यवहार होता है, खड़ी बोली में केवल 'से' का प्रयोग होता है। खड़ी बोली में अपादान कारक में ब्रजभाषा के 'तें' और 'सों' के स्थान में 'से' होता है। सम्बन्ध कारक में ब्रजभाषा में केवल 'के' का व्यवहार होता है और खड़ी बोली में 'का', 'के', 'की' का प्रयोग होता है।

बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि खड़ी बोली का जन्म ब्रजभाषा से हुआ है। इन भाषाओं की उपर्युक्त भिन्नताएँ ही इस बात की द्योतक हैं कि इनका इतिहास भिन्न है। इन उपभाषाओं का विकास भी प्रायः एक ही काल में हुआ है। खड़ी बोली का सब से पहला रूप अमीर खुसरो (सं० १२६५-१३२१) की कविता में मिलता है। उदाहरणार्थ पतंग की पहेली लीजिए—

एक कहानी मैं कहूँ सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥

इन पर एक दूसरे का प्रभाव अवश्य पड़ा है। ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से तथा खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी तथा पंजाबी और पैशाची के गड़बड़ अपभ्रंश से कही जाती हैं। खड़ी बोली उर्दू से भी नहीं निकली, क्योंकि इसमें उर्दू से पूर्व कविता होना आरंभ हो गया था। यह बात अवश्य है कि भारत की राजधानी देहली के निकट की भाषा होने के कारण मुसलमानों ने इसको अपनाया और वे लोग इस को सारे भारतवर्ष में फ़ैलाने में सहायक हुए। उन्होंने ही अपने सुभीते के लिए इसमें फ़ारसी और अरबी के शब्दों का समावेश कर इसको उर्दू का रूप दिया। उर्दू में जमीन खड़ी बोली की रही और बेल-बूटे फ़ारसी और अरबी के निकाल दिये गए।

यद्यपि प्रारंभिक काल में खड़ी बोली में कविता बहुत कम हुई, तथापि उसका नितांत अभाव न रहा। अमीर खुसरो, रहीम खानखाना, जटमल और सीतल कवि ने खड़ी बोली में अच्छी कविता की है। मुंशी सदासुखराय, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र प्रारंभिक काल के गद्य-लेखकों में प्रधान हैं।

इतिहास ही वस्तु की उपयोगिता वा अनुपयोगिता को सिद्ध कर देता है। समय बड़ी कसौटी है। ब्रजभाषा में गद्य सापेक्षित महत्त्व लिखा गया किंतु उसकी बेल बढ़ी नहीं। थोड़ी ही बढ़कर, मुरझा गई। गोस्वामी गोकुलनाथ जी की

वैष्णव वार्त्ताओं और टीकाओं से अधिक उसका विस्तार न हुआ। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जब वैष्णव वार्ताएँ लिखी गईं तब गद्य का युग न था, तथापि जब गद्य का युग आया तब भी वह गद्य के लिए न अपनाई गई।

साधारण भावों के प्रचार के लिए ब्रजभाषा में प्रांतीयता थी। उसका कारोबार से सम्बन्ध नहीं रहा। उसमें व्यापार और व्यवहार के संस्कार नहीं बने। बोलचाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया था। यह सब होते हुए भी ब्रजभाषा-वल्लरी पर कविता की बेल खूब फली फूली। ब्रजभाषा में कविता की भाषा होने की योग्यता थी। उसके शब्दों में माधुर्य था, अनुप्रास था। 'माय री साँकरी गली में पग में काँकरी चुभति है' वाले पनघट की पनिहारी के वाक्यों ने फ़ारस के कवि को आश्चर्य-चकित कर दिया था। कृष्ण-काव्य के लिए तो वह विशेष रूप से उपयुक्त थी। शृंगार और वात्सल्य के लिए जितने माधुर्य की आवश्यकता है वह उसमें भरपूर है। इसमें जो लालित्य है वह खड़ी बोली के वर्णन में नहीं आ सकता।

विनय और दीनता के लिए भी ब्रजभाषा बड़ी उपयुक्त है। 'सूरदास द्वारे ठाड़ो आँधरो भिखारी' की सी दीनता और किसी भाषा में मुश्किल से मिलेगी। दैन्य तथा शृंगार और वात्सल्य के कोमल भावों के लिए अवधी के भक्त गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी दोनों गीतावलियों और विनयपत्रिका में ब्रजभाषा को ही अपनाया था। सूफी कवियों ने भी अपनी आध्यात्मिक कविता में लालित्य लाने के लिए ब्रजभाषा के 'पिया' 'दरस' आदि शब्दों को अपनाया। खड़ी बोली वास्तव में खड़ी है. उसमें एक प्रकार की उद्दण्डता, दृढ़ता, विजयता और कठोरता के व्यावहारिक गुण हैं इसलिए उसका व्यवहार की भाषा होना निर्विवाद है। गद्य की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली ही है। इसी रूप में इसने राष्ट्र-भाषा-पद पाया है। अब प्रश्न यह है

वता की भाषा बन सकती है या नहीं ? खड़ी बोली

कविता की भाषा होनी चाहिए इस बात में बहुत कम मतभेद है; जहाँ तक हो सके गद्य और पद्य एक ही भाषा में होना उपयुक्त है। परन्तु खड़ी बोली कविता की भाषा हो सकती है इसमें मतभेद के लिए काफ़ी स्थान है। एक दल तो इसको बिलकुल नीरस मानता है और एक दल का मत है कि जो होना चाहिए वह हो सकता है। जो उचित है, करणीय है, वह शक्य भी है। यह बात अवश्य है कि ब्रजभाषा में जो लोच और लचक है वह खड़ी बोली में नहीं। ब्रज-भाषा के कवि को शब्दों की तोड़-मरोड़ और रूपान्तर करने की अधिक क्षमता रहती है, खड़ी बोली में ऐसा करना खटकता है, किंतु खड़ी बोली नितान्त लालित्य रहित नहीं है।

रहीम ने मालिनी छन्द में बड़ी लालित्यमयी रचना की है और वे खड़ी बोली में संस्कृत छन्दों के प्रयोग के एक प्रकार से पथप्रदर्शक बने हैं। इसको मान लेने का यह अर्थ नहीं है कि खड़ी बोली में सभी प्रकार की कविता हो सकती है। कविता के लिए कुछ गौरव-शालिनी भाषा की आवश्यकता है। भावों की जाग्रति के लिए कुछ ऐसे मँजे हुए शब्दों की आवश्यकता है जिनके पीछे इतिहास लगा हो। ब्रज भाषा को गौरवशालिनी बनाने के लिए लोग प्रायः संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करते हैं। कोई कोई क्रियाएँ खड़ी बोली की और शब्द ब्रजभाषा के रखते हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्द जब तक उचित मात्रा में रहते हैं तब तक तो माधुर्य के वर्धक होते हैं; किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का नियम यहाँ पर भी लागू होता है। उस उचित मात्रा को निर्धारित करने में ही कवि का कौशल है। इस प्रकार खड़ी बोली जनता की व्यापक भाषा होने के कारण कविता की भाषा बनने का अधिकार रखती है और यदि शब्दों का चुनाव अच्छा किया जाय तो वह अधिकार भली प्रकार निभाया जा सकता है, और आज कल अधिकांश कवियों ने निभाया भी है। श्री सुमित्रा-नन्दन पंत की निम्नलिखित कविता ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ मधुर

विता की भाषा होनी चाहिए इस बात में बहुत कम मतभेद है;
हाँ तक हो सके गद्य और पद्य एक ही भाषा में होना उपयुक्त है।
रन्तु खड़ी बोली कविता की भाषा हो सकती है इसमें मतभेद के
लिए काफ़ी स्थान है। एक दल तो इसको बिलकुल नीरस मानता है
और एक दल का मत है कि जो होना चाहिए वह हो सकता है। जो
उचित है, करणीय है, वह शक्य भी है। यह बात अवश्य है कि
ब्रजभाषा में जो लोच और लचक है वह खड़ी बोली में नहीं। ब्रज-
भाषा के कवि को शब्दों की तोड़-मरोड़ और रूपान्तर करने की
अधिक क्षमता रहती है, खड़ी बोली में ऐसा करना खटकता है, किंतु
खड़ी बोली नितान्त लालित्य रहित नहीं है।

रहीम ने मालिनी छन्द में बड़ी लालित्यमयी रचना की है और
। खड़ी बोली में संस्कृत छन्दों के प्रयोग के एक प्रकार से पथप्रदर्शक
ने हैं। इसको मान लेने का यह अर्थ नहीं है कि खड़ी बोली में
सभी प्रकार की कविता हो सकती है। कविता के लिए कुछ गौरव-
शालिनी भाषा की आवश्यकता है। भावों की जाग्रति के लिए कुछ
ऐसे मँजे हुए शब्दों की आवश्यकता है जिनके पीछे इतिहास लगा
हो। अब भाषा को गौरवशालिनी बनाने के लिए लोग प्रायः संस्कृत
के शब्दों का प्रयोग करते हैं। कोई कोई क्रियाएँ खड़ी बोली की और
शब्द ब्रजभाषा के रखते हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्द जब तक
उचित मात्रा में रहते हैं तब तक तो माधुर्य के वर्धक होते हैं; किन्तु
'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का नियम यहाँ पर भी लागू होता है। उस
उचित मात्रा को निर्धारित करने में ही कवि का कौशल है। इस
प्रकार खड़ी बोली जनता की व्यापक भाषा होने के कारण कविता की
भाषा बनने का अधिकार रखती है और यदि शब्दों का चुनाव
अच्छा किया जाय तो वह अधिकार भली प्रकार निभाया जा सकता है
और आज कल अधिकांश कवियों ने निभाया भी है। श्री सुमित्रा
नन्दन पंत की निम्नलिखित कविता ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ मधु

के शब्दों के बाहुल्य के कारण उसके बेल-बूटे कुछ भिन्न हो गये हैं। उच्च हिंदी में से संस्कृत शब्दों का बाहुल्य कम कर दिया जाय और इसी प्रकार उच्च उर्दू में फ़ारसी और अरबी शब्दों की बहुतायत न हो तो हिंदुओं और मुसलमानों की भाषाओं में और भी समानता दिखाई देगी। दोनों भाषाएँ एक ही हिंदुस्तानी भाषा हो जायँगी। अब भी वे एक दूसरे की भाषाओं को भली प्रकार समझ लेते हैं।

एक प्रकार से तो मुसलमान लोग हिंदी भाषा को व्यापक बनाने में सहायक हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधिकांश मुसलमान प्रान्तीय भाषा के साथ उर्दू भाषा को जानते हैं और वे हिंदी समझ सकते हैं। उनके लिए नागरी लिपि का प्रश्न रह जाता है। एक-जातीयता के विचार से उनके लिए नागरी लिपि सीखना कठिन नहीं है। देशी राज्यों में मुसलमान लोग नागरी लिपि का बड़ी आसानी से व्यवहार करने लग जाते हैं। मुसलमान शासन के समय में मुसलमानों ने हिंदी भाषा को अच्छी तरह से अपनाया था। मुसलमानों ने जो हिंदी भाषा की सेवाएँ की हैं उनको कौन हिंदू भूल सकता है! जायसी, रसखान, रहीम आदि कवियों का नाम प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के मुख से आदर और प्रशंसा के साथ निकलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो एक-एक मुसलमान कवि पर सौ सौ हिंदू वार डालने के लिए तैयार थे। आजकल भी कई मुसलमान महाशय हिंदी के अच्छे लेखक हैं। दोनों ओर से थोड़ी उदारता की आवश्यकता है। हिंदी और नागरी लिपि मुसलमानों में भी अधिक व्यापक हो सकती है। इस सब विवेचना का सार यह है कि इस समय हिंदी सब प्रान्तीय भाषाओं से अधिक व्यापक है और भविष्य में उसकी व्यापकता अधिक होने की सम्भावना है।

सरलता—सरलता का प्रश्न व्यापकता के साथ लगा हुआ है। व्यापकता उसकी सरलता के प्रमाणों में से एक है। हिन्दी भाषा को विदेशी लोग भी सहज में सीख लेते हैं। यदि हिन्दी भाषा में कुछ कठिनाई है तो लिंग-भेद की। वह उर्दू में भी एक-सी है। यह कठिनाई

हिन्दी भाषा प्रायः उन्हीं प्रान्तों में नहीं समझी जाती जिन प्रान्तों की भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई। ४० करोड़ में प्रायः २८ करोड़ भारतवासी उन भाषाओं को बोलते हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। शेष १२ करोड़ में सात करोड़ द्राविड़ भाषाएँ बोलते हैं और पाँच करोड़ विदेशी भाषाएँ बोलते हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं की १७ शाखाएँ हैं। उनमें से हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, बँगला और उड़िया ये सात मुख्य हैं। संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली भाषाओं में बहुत से तत्सम शब्द एक समान ही हैं। यद्यपि विभिन्न प्रान्तों में उनका उच्चारण कुछ भिन्न हो जाता है, तथापि उनके लिखने में एक ही से वर्णों का व्यवहार किया जाता है। यदि ये सब प्रांतीय भाषाएं देवनागरी अक्षरों का व्यवहार करें तो ये शब्द कम से कम हिन्दुओं के घरों में सहज में समझे जा सकते हैं।

संस्कृत से निकले हुए तद्भव शब्दों में भेद होते हुए भी एक पारिवारिक समानता सी होती है, जो सहज ही में प्रकट हो जाती है। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं में गिनती, आना-जाना आदि बहुत सी क्रियाओं के परिवर्तित रूप और बहुत सी संज्ञाएं प्रायः समान हैं। इन सब प्रांतीय भाषाओं में हिन्दी ही सब से अधिक व्यापक होने के कारण राष्ट्र-भाषा होने की क्षमता रखती है। नागरी लिपि भी संस्कृत भाषा की प्रामाणिक लिपि होने के कारण हिंदुओं में बहुत शीघ्र व्यापक हो सकती है। शायद सिंधी को छोड़ कर, जो अरबी लिपि में लिखी जाती है, संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की वर्णमाला एक-सी है; केवल अक्षरों के आकार में भेद है। नागरी अक्षरों का आकार सब से सुगम है। इस हिसाब से कम से कम हिंदुओं में नागरी लिपि और हिंदी भाषा की व्यापकता बढ़ना बहुत आसान है।

अब रहा मुसलमानों का प्रश्न। उनकी भाषा तो हिंदी से मिलती है। उर्दू भाषा की ज़मीन तो हिंदी की ही है, उस में फ़ारसी अरबी

के शब्दों के बाहुल्य के कारण उसके बेल-बूटे कुछ भिन्न हो गये हैं। उच्च हिंदी में से संस्कृत शब्दों का बाहुल्य कम कर दिया जाय और इसी प्रकार उच्च उर्दू में फ़ारसी और अरबी शब्दों की बहुतायत न हो तो हिंदुओं और मुसलमानों की भाषाओं में और भी समानता दिखाई देगी। दोनों भाषाएँ एक ही हिंदुस्तानी भाषा हो जायँगी। अब भी वे एक दूसरे की भाषाओं को भली प्रकार समझ लेते हैं।

एक प्रकार से तो मुसलमान लोग हिंदी भाषा को व्यापक बनाने में सहायक हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधिकांश मुसलमान प्रान्तीय भाषा के साथ उर्दू भाषा को जानते हैं और वे हिंदी समझ सकते हैं। उनके लिए नागरी लिपि का प्रश्न रह जाता है। एक-जातीयता के विचार से उनके लिए नागरी लिपि सीखना कठिन नहीं है। देशी राज्यों में मुसलमान लोग नागरी लिपि का बड़ी आसानी से व्यवहार करने लग जाते हैं। मुसलमान शासन के समय में मुसलमानों ने हिंदी भाषा को अच्छी तरह से अपनाया था। मुसलमानों ने जो हिंदी भाषा की सेवाएँ की हैं उनको कौन हिंदू भूल सकता है! जायसी, रसखान, रहीम आदि कवियों का नाम प्रत्येक हिंदी-प्रेमी के मुख से आदर और प्रशंसा के साथ निकलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो एक-एक मुसलमान कवि पर सौ सौ हिंदू वार डालने के लिए तैयार थे। आजकल भी कई मुसलमान महाशय हिंदी के अच्छे लेखक हैं। दोनों ओर से थोड़ी उदारता की आवश्यकता है। हिंदी और नागरी लिपि मुसलमानों में भी अधिक व्यापक हो सकती है। इस सब विवेचना का सार यह है कि इस समय हिंदी सब प्रान्तीय भाषाओं से अधिक व्यापक है और भविष्य में उसकी व्यापकता अधिक होने की सम्भावना है।

सरलता—सरलता का प्रश्न व्यापकता के साथ लगा हुआ है। व्यापकता उसकी सरलता के प्रमाणों में से एक है। हिन्दी भाषा को विदेशी लोग भी सहज में सीख लेते हैं। यदि हिन्दी भाषा में कुछ कठिनाई है तो लिंग-भेद की। वह उर्दू में भी एक-सी है। यह कठिनाई

दुरूह नहीं। पहले तो साधारण व्यवहार के लिए लिंग-भेद इतना आवश्यक नहीं और व्यवहार के साथ लिंग-भेद का सहज में ही अभ्यास हो जाता है। नागरी की वर्णमाला और लिपि भी सबसे सरल है। यद्यपि उसमें वर्णों का बाहुल्य है, तथापि वह नियमानुकूल होने के कारण सुगम है। (देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता पर एक स्वतन्त्र लेख आगे दिया गया है।)

व्यावहारिकता—धर्म, समाज, दर्शन, विज्ञान, राजनीति सभी क्षेत्रों में हिन्दी की व्यावहारिक योग्यता प्रमाणित हो चुकी है। देश में जाग्रति उत्पन्न करने में अंगरेजी भाषा के पश्चात् हिन्दी का ही नम्बर आता है। एक और दृष्टि से हिंदी का स्थान ऊँचा है, क्योंकि साधारण जनता में हिंदी भाषा द्वारा ही सामाजिक और राजनीतिक भावों का प्रचार हुआ है। देशी राज्यों में हिन्दी द्वारा अदालती काम-काज भी होते हैं। अभी कुछ शब्दों की कमी अवश्य है, किन्तु वह कमी क्रमशः दूर होती जा रही है। कुछ राज्यों में तो अदालती काम-काज में भी हिन्दी शब्दों का प्रयोग होता है। मुद्दई और मुद्दाला आदि उर्दू के प्रचलित शब्दों का हिन्दी में व्यवहार होना हानिकारक नहीं, क्योंकि जो लोग हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के पक्ष में हैं वे उसको संस्कृत के शब्दों ही से नहीं बाँधना चाहते। हाँ लिपि का प्रश्न अवश्य प्रधानता रखता है और नागरी लिपि इस प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त है। नागरी के टाइपराइटर ही नहीं वरन् लीनोटाइप भी बन गये हैं, जिनके प्रचार से दैनिक अखबारों को बड़ी सहायता मिलेगी। हिन्दी में संक्षिप्त लिपि (Shorthand) का प्रचलन भी हो रहा है।

प्राचीनता—हिन्दी जिस प्रकार देश में व्यापक है उसी प्रकार काल की प्राचीनता में भी आगे बढ़ी हुई है। हिन्दी का जन्म सन् ७०० के करीब का है। यही समय अंगरेजी के जन्म का है। इसमें साहित्य का खूब विस्तार हो चुका है, और होता जा रहा है। इसके साहित्य में मुसलमान, ईसाई सभी ने योग दिया है। यह भाषा इसी

प्रकार इस देश से नहीं उठ सकती जिस प्रकार इंगलिस्तान से अंग्रेजी। इसमें प्रायः सभी आवश्यक परिवर्तन हो चुके हैं। शब्दों की जैसी तोड़-मरोड़ होनी थी सो हो चुकी। शब्द समय के प्रवाह में घुट-मँज गये हैं। उनमें विशेष-शक्ति का समावेश हो गया है, और उनका इतिहास से संबंध भी स्थापित हो चुका है। उनकी भित्ति दृढ़ है और उसके आधार पर व्यापक राष्ट्र-भाषा का ऐसा भवन बनाया जा सकता है जो चिरस्थायी होगा।

धर्म और संस्कृति से अनुकूलता—हम ऊपर दिखा चुके हैं कि प्रान्तीय भाषाओं में सब से अधिक प्रचलन हिंदी का है। अतः प्रांतीय भाषाओं में से एकमात्र हिंदी ही राष्ट्र-भाषा होने की क्षमता रखती है, यह तो निश्चित ही है; परन्तु कई सज्जन आजकल की राज-भाषा अंगरेजी को, अथवा कट्टर मुसलमान उर्दू को भारत की राष्ट्र-भाषा और रोमन अथवा अरबी-लिपि को भारत की राष्ट्र-लिपि बनाना चाहते हैं। उनको ध्यान रखना चाहिए कि अंगरेजी और उर्दू, ऐसे ही रोमन तथा अरबी लिपि भारतीय संस्कृति और भारतीय सभ्यता की परिचायक नहीं हो सकतीं। वे अपनी दंतकथाएँ तथा भावपूर्ण साहित्य एवं प्राकृतिक दृश्य विदेशों से लेती हैं। भारतीय पौराणिक कथाओं और भारतीय संस्कृति से, जिसमें भारतीय पैदा होते और साँस लेते हैं, इन भाषाओं और लिपियों को कोई सरोकार नहीं, अतः ये राष्ट्र-भाषा या राष्ट्र-लिपि होने की क्षमता नहीं रखतीं।

राष्ट्र-भाषा होने के लिए हिंदी भाषा की योग्यता सभी प्रान्तीय नेताओं ने स्वीकार की है। दक्षिण में भी हिंदी के प्रचार का काम जोरों पर चल रहा है। यह भाषा उच्च-शिक्षा का माध्यम बन रही है। इसके द्वारा शिक्षा प्राप्त कर लोग हिंदी में राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक गवेषणा का काम कर सकेंगे। हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने से देश की प्राचीन संस्कृति की रक्षा होते हुए प्रान्तों में विचारों और भावों का आदान-प्रदान बढ़ जायगा और सब राष्ट्र-भाषा के एक सूत्र में बँधकर देश की उन्नति में सहायक होंगे।

४१. हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी

आजकल राष्ट्र-भाषा की समस्या बड़ी जटिल हो रही है; कई हिंदी पक्ष में हैं तो कई उर्दू के हिमायती हैं और कई हिंदुस्तानी का राग गाते हैं। किन्तु हिंदी, उर्दू तथा हिंदुस्तानी तीनों ही भाषाओं का आधार एक ही है, अथवा यह कहा जा सकता है कि तीनों भाषाएँ एक मूल भाषा के विभिन्न रूप हैं। ऐसा होते हुए भी गत सौ-सवा-सौ वर्षों हिंदी और उर्दू का विरोध बढ़ता ही जाता है। इन भाषाओं के साथ सांप्रदायिकता का भाव जोड़ा जा रहा है। हिंदी हिंदुओं की भाषा कहलाने लगी है और उर्दू मुसलमानों की। भारत सरकार और राष्ट्रीय कांग्रेस के लोग जो सांप्रदायिकता के चक्कर से अपने को दूर रखना चाहते हैं, हिंदुस्तानी के पैरोकार बन रहे हैं। तीनों भाषाओं में क्या अंतर है, यह अंतर कैसे प्रारम्भ हुआ, क्या इनके पारस्परिक विरोध में कुछ तथ्य है अथवा यह काल्पनिक है, यह विरोध दूर हो सकता है या नहीं, हो सकता है तो किस तरह और इन तीनों में से कौन सी भाषा भारत की राष्ट्र-भाषा हो सकेगी इन प्रश्नों की हमें यहाँ विवेचना करनी है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है। किन्तु आजकल इसका व्यवहार मुख्यतया नागरी लिपि में लिखी जाने वाली उत्तर भारत के मध्यभाग के हिंदुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में तथा व्यापक रूप से इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में होता है।

उर्दू शब्द का मूल अर्थ है लश्कर या छावनी का बाज़ार। अरबी-फ़ारसी मिश्रित बाज़ार में बोली जाने वाली खड़ीबोली के जिस रूप का

प्रयोग उर्दू-ए-मुअल्ला 'शाही-फ़ौजी बाज़ारों' में होता था, उसे उर्दू-हिंदी कहा जाता था। धीरे-धीरे उसे केवल उर्दू ही कहा जाने लगा और उस में पर्याप्त साहित्य निर्मित हुआ। आजकल उर्दू से तात्पर्य आधुनिक साहित्यिक हिंदी के उस रूप का लिया जाता है, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द अधिक होते हैं और जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है।

आधुनिक साहित्यिक हिंदी या उर्दू का बोलचाल का वह रूप हिंदुस्तानी कहलाता है जिसमें न संस्कृत शब्दों का आधिक्य हो और न अरबी-फ़ारसी शब्दों की भरमार।

इस प्रकार हम देखते है कि हिंदुस्तानी तो हिंदी और उर्दू भाषाओं का मध्य मार्ग है। उर्दू तथा हिंदी दोनों साहित्यिक भाषाओं का यद्यपि एक ही मूलाधार है, दोनों में जाना, खाना, रोना, गाना, सोना आदि एक ही क्रियाएँ हैं, कारक और विभक्तियाँ भी एक ही हैं, तथापि दोनों के साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह तथा लिपि में आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दी अपनी सब बातों के लिए भारत की प्राचीन संस्कृति तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती हैं. नये शब्दों के लिए अपनी नानी संस्कृत के अक्षय भंडार को छानती है. पर उर्दू भारत में उत्पन्न होने और पनपने पर भी फ़ारस और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है और नये शब्दों के लिए फ़ारसी और लुग़ात की ओर ताकती है। इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और दो भिन्न-भिन्न संप्रदायों ने अपना-अपना रंग चढ़ाकर एक ही खड़ी बोली के दो अलग-अलग रूप गढ़ दिये। विशुद्धतावादी. संस्कृत तत्सम शब्दों के पक्षपाती पंडितों तथा उर्दू-ए-मुअल्ला के हामी मुल्लाओं और मौलवियों की कलम ने इस खाई को यहाँ तक चौड़ा कर दिया है कि नीचे लिखे हिन्दी और उर्दू के पद्यों में सिवाय 'से', 'है'. 'की', आदि के और कुछ मेल ही नहीं दिखाई देता। अब ज़रा संस्कृत-गर्भित हिन्दी तथा फ़ारसी अरबी की खिचड़ी

उर्दू के कुछ नमूने देखिए—

"असित-पुष्प-अलंकृत-कारिणी
सुछवि नील-सरोरुह-वर्द्धिनी
नवल-सुन्दर श्याम-शरीर की
सजल-नीरद सी कल-कान्ति थी।"

× × ×

"मेरे दूदे (धुआँ) आह से याँ तक ज़माना है सियाह,
आफ़ताबे-आसमाँ जंगी (काले हब्शी) के मुँह का खाल (तिल) है।"

× × ×

अब कुछ गद्य के उदाहरण लीजिए—

"वहाँ जिस समय सुकवि सुपंडितों के मस्तिष्क सुमेरु के सोते के अदृश्य प्रवाह सम प्रगल्भ-प्रतिभास्रोत से समुत्पन्न शब्द-कल्पना-कलित अभिनवभाव-माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतःस्वती उस एंगनादिनी हिन्दी सरस्वती की कवि की सुवर्ण-विन्यास-समुत्सुक-रस-रसनारूपी सुचमत्कारी उत्स से कलरव-कल-कलित अति सुललित प्रबल प्रवाह सा उमड़ा चला आता।"

"इब्तदाए-सिने सबा (बचपन) से तो अवायले-रिआँ (शुरू जवानी) और अवायले-रिआँ से इलल-आन (अब तक) इश्तियाके माला-युताक़ (ताक़त से बाहर) तक़बील (चुम्बन) उतबए-आलिया (आपकी वहाँ चौखट) न बदह (इस हद पर न था) कि सिलके (लड़ी) नाःसंगेतक़रीर में मुन्तज़िम हो सके, लिहाज़ा बेवास्ता और नर्वाना हाज़िर हुआ हूँ।"

उनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का पर्याप्त मिश्रण था, पर उन्होंने उसका दूसरा नाम देने की आवश्यकता न समझी। मद्रास प्रान्त के एलोर निवासी बाक़िर आगाह (जन्म ११५७ हिजरी, लगभग १७४८ ई०) ने अपने उर्दू दीवान का नाम "दीवाने हिंद" रखा था। इस मिश्रित भाषा को पहले-पहल दक्खिन वालों ने रेख्ता कहना प्रारम्भ किया। पर रेख्ता असल में पद्य में प्रयुक्त होने वाली मिश्रित भाषा का नाम था। इस भाषा को उर्दू नाम तो बहुत पीछे दिया गया।

उर्दू नाम पड़ने के बाद ही इस भाषा पर सांप्रदायिकता का रंग चढ़ने लगा। उर्दू में न केवल अरबी, फारसी के कठिन शब्द ही भरे जाने लगे, अपितु उसका कथा-साहित्य एवं उसका साहित्यिक आधार, यहाँ तक कि रीति-रिवाज और दृश्य तथा ऋतु-वर्णन भी फारसी से लिया जाने लगा। शीरीं-फरहाद और लैला-मजनू आदर्श प्रेमी बने। धन्वतरि का स्थान लुकमान तथा भीम का स्थान रुस्तम ने लिया। कारूँ ने कुवेर का रूप धारण किया। हातिम शिवि और दधीचि के पर्याय बने। पक्षियों में बुलबुल, फूलों में लाला, सौसन और नरगिस, नदियों में दजला और फरात और पहाड़ों में तूर की गणना होने लगी। कोयल, कमल, गंगा, यमुना, हिमालय का उर्दू-साहित्य में कोई स्थान न था। उर्दू का व्याकरण बनाने वालों ने उसका व्याकरण बिलकुल अरबी ढंग पर बना दिया। 'उर्दू' पत्र के सुयोग्य संपादक मौलाना अब्दुल हक के कथनानुसार वे यह बात भूल गये कि उर्दू खालिस हिन्दी जबान है, और इसका सीधा सम्बन्ध आर्य-भाषाओं से है; इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक सेमेटिक (सामी) अनार्य भाषाओं के परिवार से है। इसलिए उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी जबान का अनुकरण किसी तरह जायज़ न था। व्याकरण के अतिरिक्त उर्दू का छन्दःशास्त्र भी विदेशी नियमों पर चलने लगा। फाइलातुन फाइलातुन फाइलातुन फाइलात का

वज़न खोजा जाने लगा।

उर्दू और हिन्दी के लिपि-भेद ने तो इस भेद की आग को प्रदीप्त करने में घी का काम किया। यद्यपि बँगला, गुजराती और विशेषतः मराठी में तो अत्यधिक अरबी और फारसी के शब्द हैं, तथापि वहाँ इस तरह का वैमनस्य नहीं बढ़ा क्योंकि वहाँ लिपि का प्रश्न न था। यदि यह लिपि-भेद का झगड़ा हिन्दी-उर्दू में भी न आता तो भाषा में और उसके कारण हिन्दू मुसलमान जातियों में भी इतना भयंकर और अनिष्टकारी भेद-भाव कभी न उत्पन्न होता। हिन्दी उर्दू एक थीं, एक ही रहतीं। इस प्रकार विदेशी शब्दों की भरमार कर विदेशी कथा-साहित्य, विदेशी दृश्य-वर्णन, विदेशी व्याकरण, पिंगल और लिपि तथा सांप्रदायिकता का चोला पहना कर उर्दू को फारसी अरबी की तरह सर्वथा विदेशी तथा मुसलमानी भाषा का रूप देना प्रारम्भ किया गया और हिन्दी संस्कृत शब्दों की गणना मतरूकात (त्याज्य) में की जाने लगी। लखनऊ वाले देहली वालों से बाज़ी ले जाने के लिए उर्दू को फारसी और अरबी जामा पहनाने में चार कदम आगे बढ़ गये।

उर्दू के इन मुस्लिम शायरों की बात तो जाने दीजिए, युक्तप्रांत के काश्मीरी ब्राह्मण और कायस्थ भी ज़बान को उर्दू-ए-मुअल्ला बनाने की धुन में इसी मार्ग का अनुकरण करने लगे। जिस प्रकार हिन्दी-

करने को बाधित कर दिया। धर्म की तरह भाषा का भी बटवारा हो-गया। इस भाषा-भेद को देखकर प्रसिद्ध विद्वान् 'गार्सां' द तासी' ने अपने पाँचवें व्याख्यान (सन् १८५४ ई०) में घोषित किया था—"हिंदुस्तान की यह जबान जिसे खास तौर पर हिंदुस्तान की जबान कहा जाता है हिंदी और उर्दू बोलियों में तक़सीम हो गई जिसकी बिना (नींव) मजहब पर है। क्योंकि आमतौर पर यों भी कहा जाता है कि हिंदी हिंदुओं की जबान है और उर्दू मुसलमानों की। यह वाक्या इस कदर सही है कि जिन हिंदुओं ने उर्दू में इंशापरदाजी की है उन्होंने न सिर्फ मुसलमानों के तर्जे तहरीर की नकल की है, बल्कि इस्लामी खयालात को भी यहाँ तक जज्ब किया है कि उनके अशआर पढ़ते वक्त बमुश्किल इस अमर का यकीन होता है कि यह किसी हिंदू के लिखे हुए हैं।"

इसी भाषा-विभिन्नता की घोषणा राजा लक्ष्मणसिंह ने आज से अनेक वर्ष पूर्व इन शब्दों में की थी—"हमारे मत में हिंदी उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है।" उर्दू वालों ने संस्कृत और हिंदी के शब्दों को गँवारू कहकर मतरूकात (त्याज्य) की श्रेणी में शामिल किया था तो हिंदी वालों ने अरबी फारसी के उन शब्दों को भी म्लेच्छ कह कर बहिष्कार करना प्रारम्भ किया जो सदियों से इस भाषा में प्रचलित रहकर इस भाषा के अंग बन चुके थे। यहाँ तक कि हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के स्थान पर आर्य-भाषा, आर्य और आर्यावर्त शब्दों का कइयों ने प्रयोग प्रारम्भ किया क्योंकि हिंदी, हिंदू और हिन्दुस्तानी शब्द मुसलमानों की देन समझे जाते थे।

इस प्रकार पंडितों और मौलवियों का विरोध चलता रहा। अंग्रेजी राज्य में बढ़ती सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक द्वेष इस विरो-धाग्नि को भड़काने में सहायता देते रहे। पंडितों ने यह भूलकर कि

हिंदी संस्कृत की दौहित्री होते हुए भी अपनी निजी सत्ता रखती है, हिन्दी को संस्कृतमय बना दिया, और मौलवियों ने यह भूलकर कि उर्दू हिन्दुस्तानी जबान है, उसमें फारसी और अरबी के शब्द भरकर उसे विदेशी जामा पहना दिया। पर नब्बे फीसदी साधारण जनता को इस झगड़े से कोई सरोकार नहीं।

गाँव के कादिर मियाँ और बिसेसर साहू 'काबिल ज़रायत' या 'कृषि-योग्य' न कहकर 'जुताऊ' ही कहते हैं, 'इन्तिकाम' और 'प्रत्युपकार' दोनों ही शब्दों से वे अपरिचित हैं, वे तो ठेठ हिंदी शब्द 'बदला' का ही प्रयोग करते हैं। गालिब और मीर, मतिराम और पद्माकर की कविता का एक हर्फ भी समझना उनके लिए कठिन है, वे तो कबीर, तुलसी और गिरधर या मियाँ नजीर की सीधी सादी कविता पर ही लट्टू हैं। 'सब ठाट पड़ा रह जायगा जब लाद चलेगा बनजारा' मियाँ नजीर के इस वाक्य को हिंदू और मुसलमान दोनों ही जातियों ने अपनाया है। जिस तरह 'हिन्दू धर्म खतरे में' या 'मुस्लिम धर्म खतरे में' की आवाजें कुछ स्वार्थी लोगों में केन्द्रित हैं, उसी तरह यह भाषा-भेद भी पण्डितों और मौलवियों तक ही सीमित है। वे अपनी ख्याति-प्रसार या पांडित्य-प्रदर्शन के लिए ही भेद पैदा करते हैं, पर सर्व-साधारण जनता की बोली तो एक ही है, चाहे उसे हिंदी

थी, उस समय उसने भारत पर आक्रमण करने वाली हूण, कुशन और यूची आदि अनेक जातियों को अपने में विलीन कर लिया था। वर्तमान अंग्रेजी कितनी भाषाओं का सम्मिश्रण है ? आज हिन्दी भी एक जीवित भाषा है। उसने अनेक विदेशी शब्दों को हजम कर लिया है। वे शब्द बरसों से उसके अंग बन चुके हैं। बाग, बाकी, अखबार, अदालत, अमीर, गरीब, अर्जी, इमारत, इम्तिहान, कर्ज, कुर्सी, खराब, बाजार, अंगूर, अनार, सन्तरा, कबूतर, कमर, कमीना, किनारा, खरगोश, खानसामा, गन्दा, गर्दन, गरम, गवाही, चरखा, चालाक, मैदा, कलम, कलई, जल्दी, तमाशा, तंदूर, तख्त, जोश, गज, जवाब, जहाज, अचार, चपरासी, चश्मा, चमचा, मुफ्त, मुनीम, मुरब्बा बटन, गोदाम, लालटेन, स्कूल, इंजन आदि अनेक अरबी फारसी तथा अंग्रेजी शब्द ऐसे हैं कि जब तक कोश उठा कर उनका उद्गम न देखा जाय, तब तक यह पता नहीं लग सकता कि वे शब्द विदेशी हैं या हिंदी की निजी संपत्ति हैं। ग्रामीण और शहरी सब उनका प्रयोग करते हैं। उन शब्दों को निकाल बाहर करना अपनी भाषा की आत्म-हत्या करना है। साधारण बोल-चाल में अनार के स्थान पर दाड़िम, कुर्सी के स्थान पर मञ्चिका और बाजार के स्थान पर आपण, उस्तरा के स्थान पर क्षुर आदि शब्दों के प्रयोग करने वालों की भाषा को समझने वाले विरले ही होंगे। अचार, मुरब्बा, मैदा आदि के स्थान में संस्कृत कोश से ढूँढकर नये शब्द निकालना या तद्धित और कृदन्त प्रत्यय जोड़कर नये शब्दों को गढ़ना व्यर्थ समय बरबाद करना है। यदि उनको विशुद्धता का इतना पक्षपात है, तो साइकल, रेल, मोटर, टेलीफोन आदि नये आने वाले अंग्रेजी शब्दों के लिए 'नो एडमिशन' का साइनबोर्ड लगाना पड़ेगा, और यदि ऐसा नहीं करेंगे तो इन पदार्थों के लिए नये शब्द गढ़ना अनिवार्य हो जायगा अथवा इन पदार्थों का ही बहिष्कार करना होगा।

कई सांप्रदायिक मनोवृत्ति के लोग उपर्युक्त अंग्रेज़ी शब्दों को

अपनाने को तैयार हो जाते हैं, पर सैकड़ों बरसों से बसे हुए और भारती जीवन में रमे हुए मुसलमान भाइयों द्वारा दिये गये शब्दों के विरुद्ध जिहाद करना अपना धर्म समझते हैं, उनकी यह मनोवृत्ति क्या उनकी गुलाम मनोवृत्ति का इज़हार नहीं करती ? उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि जनता और उसके प्रतिनिधि कवि और लेखक उनके फतवे की सदा ही अवहेलना करते रहे हैं। हिंदू जनता के प्रतिनिधि कवि सूर, तुलसी, मीरा और बिहारी ने मसाहत, मुहकम, जियान, गरीबनिवाज, उमरदराज़, पाइमाल, तहस-नहस, बाँदी, कौस, खालाज़ाद, पायंदाज, इज़ाफा आदि अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। महाकवि भूषण जैसे जातीय कवि ने तो विदेशी शब्दों को अपनाने में हद ही कर दी है। भूषण समझते थे कि तत्कालीन कोमलकांत ब्रजभाषा उनके ओजयुक्त उग्र भावों को वहन करने में समर्थ न थी, अतः उन्होंने भाषा में ओज, सजीवता और व्यापकता लाने के लिए विशुद्धता के झीने परदे को दूर कर कैसी विचित्र ओजपूर्ण चाशनी तैयार की, जिसमें संस्कृत, देशज और विदेशी शब्दों का अनूठा मेल है—"ता दिन अखिल खलभलैं खल-खलक में जा दिन शिवाजी गाजी नेक करखत हैं" या "जिनकी गरज सुनि दिग्गज बेआब होत, मद ही के आब गरकाब होत गिरि हैं।" आधुनिक काल के गद्य-लेखकों में से भी जनता ने मुंशी प्रेमचन्द आदि ऐसे लेखकों की शैली को ही अधिक सराहा है जिन्होंने विशुद्धतावाद की उपेक्षा कर सर्वसाधारण की बोल-चाल की भाषा को अपनाया है।

ऐसे ही जो मौलवी हिन्दी के शब्दों को मतरूकात की श्रेणी में शुमार कर उर्दू को फ़ारसी और अरबी का रूप देते हैं, उन्हें "वजे इस्तलाहात" के विद्वान् लेखक सलीम साहब के नीचे लिखे उद्धरण पर ग़ौर करना चाहिए।

"हमारे नज़दीक यह खयाल सख्त ग़लती पर मबनी (अवलंबित) है। हिन्दी हमारी महबूब जबान (प्यारी भाषा) उर्दू के लिए, जिसको

हम दिन-रात घरों में, बाज़ारों में, महफ़िलों में, मदरसों और कारखानों में और हर मुकाम में और हर हालत में बोलते हैं, और इसी को हमेशा लिखते और पढ़ते हैं, बमिस्ले-ज़मीन के है (आधार-भूमि के समान है)। इसी ज़मीन पर फ़ारसी और अरबी के पौदे लगाये गये हैं। इसी तख्ते पर ग़ैर ज़बानों ने आकर गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन (यानी हिंदी) निकाल दी जाय तो फिर उर्दू ज़बान का नामोनिशान भी बाकी न रहेगा। हिंदी को हम अपनी ज़बान के लिए उम्मुल्लिसान (भाषा की जननी) और हयूलाये अव्वल (मूल तत्त्व) कह सकते हैं। इस के बग़ैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं। इसकी मदद के बग़ैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिंदी से मुहब्बत नहीं रखते वह उर्दू ज़बान के हामी नहीं. फ़ारसी अरबी या किसी दूसरी ज़बान के हामी हों तो हों। क्या वह हिंदी अस्मा ओ अफ़आल (संज्ञा और क्रिया-पद) जिनको हम रात दिन चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, और सोते-जागते इस्तेमाल करते हैं, मुब्तज़ल (गिरे हुए) और बाज़ारी हो सकते हैं।"

ये मौलाना लोग अपनी ज़बान को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' बनाने की धुन में जितने अधिक विदेशी शब्द भरते हैं, उतना ही उनकी ज़बान जनता से दूर होती जाती है। यदि ये कारीगर को 'अहले हरफ', ईंट को 'खिश्त', कुटी-छनी को 'कोफ्तः-बेख्तः', खेती को 'ज़रायत' और घरवाली को 'अहलिया' कहेंगे, तो शायद सर्व साधारण मुसलमान तक के लिए उनकी ज़बान को समझना कठिन हो जायगा। रेडियो वालों का सीधे-सादे गेहूँ शब्द के लिए 'गन्दम' कहना कुछ बेतुका सा लगता है।

इसी प्रकार उर्दू को अरबी व्याकरण के अनुसार चलाकर उसे अधिक दुर्बोध बनाना भी बहुत हानिकारक है। औरत का बहुवचन 'औरतें' तो समझ में आता है, पर उसके अरबी पर्याय 'मस्तूरात' को कोई कोई समझेगा और शायद ही खातून को। किताब का बहुवचन

किताबें, अमीर का अमीर, वज़ीर का वज़ीर, तथा दवा का दवाएं तो हो सकता है, पर कुतुब, उमरा, वुज़रा और अदवियात का अर्थ समझना ज़रा टेढ़ी खीर हो जायगा। इम्तिहान और अदब तो लोग समझ लेंगे, पर मुम्तहन, मुम्तिहिन; मुअद्दब और मुअद्दिब का भेद कितने जानते हैं ? सारांश यह कि उर्दू हिन्दी जबान है, उसमें हिन्दी के शब्दों की अधिकता है; बाहरी शब्द तो हिन्दी शब्दों का पाँचवाँ हिस्सा कठिनता से होंगे, फिर उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार होना चाहिए।

कुछ दिन पूर्व उर्दू-दिवस मनाते हुए पंजाब के भूतपूर्व प्रधान मंत्री सर सिकंदरहयात खाँ तथा प्रसिद्ध विद्वान् और उर्दू-भक्त सर तेज बहादुर सप्रू ने फरमाया था कि उर्दू ही भारत की राष्ट्र-भाषा है, इसी को हम पिछले कई सौ सालों से बोलते आये हैं। पर साथ ही उन्होंने उर्दू वालों को यह नसीहत दी थी कि व्यर्थ विदेशी शब्दों की भरमार न की जाय। पर सर सिकंदर और सर सप्रू यह भूल जाते हैं कि जहाँ तक मौखिक या व्यावहारिक बोली का प्रश्न है यदि उर्दू में विदेशी शब्द न भरे जाँय तो उसमें और हिन्दी में कोई भेद नहीं रह जाता, वे एक ही जबान हैं, फिर तो केवल नाम का झगड़ा मात्र है। जिसे वे उर्दू कहते हैं उसे ही देशपूज्य महात्मा गांधी के सभापतित्व में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने निम्नलिखित प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्रभाषा हिन्दी करार दिया था—"इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्र-भाषा के स्वरूप के संबंध में हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रांतों में कुछ ग़लतफहमी फैली हुई है, और लोग उसके लिए अलग अलग राय रखते हैं। इसलिए यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिंदी का वह स्वरूप मान्य समझा जाय जो हिन्दू मुसलमान आदि सब वर्णों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ़ सर्व-सुलभ अरबी, फ़ारसी, अंगरेजी शब्दों या मुहावरों का बहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती हो।"

इस प्रकार व्यावहारिक बोलचाल में उर्दू और हिन्दी का कोई अंतर नहीं रहता। पर लिखित और साहित्यिक भाषा में कुछ अंतर अवश्य रहेगा। जिस भेद का मिटना अभी कठिन है। इनमें सबसे बड़ा प्रश्न लिपि का है। आर्य और द्राविड़ सब भारतीय भाषाओं की वर्णमाला प्रायः एक ही है, लिपि चाहे दूसरी हो; किन्तु उर्दू की उनसे सर्वथा भिन्न है। उसका उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं और उर्दू लिपि बहुत अपूर्ण है। आर्य भाषाओं के या अन्य भाषाओं के शब्दों की जो दुर्गति उस लिपि में होती है उसका तो कहना ही क्या। 'उर्दू लिपि की झंझट और भ्रामकता से तंग आकर 'उर्दू' मासिक पत्र के सुयोग्य संपादक मौलाना अब्दुलहक ने अपने पत्र के जुलाई सन् १६३८ के अंक में फरमाया था—"मुझे अक्सर उर्दू किताबों के मुताले (अध्ययन) का इत्तिफाक होता है। पुराने अलफाज के सही पढ़ने और सही तलफ्फुज के दरयाफ्त करने में बड़ी दिक्कत होती है। अगर लातीनी (लैटिन) या नागरी हरूफ में यह तहरीरें होतीं तो इतनी दिक्कत न होती।" इस झंझट के कारण स्वतंत्र टर्की ने इस लिपि का बहिष्कार कर दिया है; परन्तु सांप्रदायिकता की जंजीरों में जकड़े हुए भारत में फिलहाल यह कठिन जान पड़ता है। टर्की यूरोप में है इसलिए वहाँ रोमन लिपि अपनाई गई। किन्तु भारतवर्ष में सार्वजनिक हित के लिए नागरी लिपि को ही अपनाना श्रेयस्कर होगा।

जब गुजरात और बंगाल के मुसलमान गुजराती और बँगला लिपि को अपनाते हैं तो राष्ट्रीयता के नाते उर्दू या हिंदी-भाषी मुसलमानों को देवनागरी लिपि के अपनाने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए। वे धार्मिक कार्यों में अरबी लिपि का भले ही व्यवहार करें किन्तु सार्वजनिक कार्यों में यदि देवनागरी लिपि का प्रयोग किया करें, तो काम में आसानी होगी और देश में एकता बढ़ेगी।

गंभीर साहित्य की भाषाओं में स्वभावतः कुछ भेद हो जाता है। साधारण मनोरंजन साहित्य में बोलचाल की भाषा का अधिकतर प्रयोग

होता है। पर गंभीर वैज्ञानिक साहित्य में यह होना कुछ कठिन है। उसमें उर्दू और हिन्दी का भेद स्पष्ट बना रहेगा। पर इससे घबराना नहीं चाहिए क्योंकि साहित्यिक भाषा और बोलचाल की व्यावहारिक भाषा में सदा ही अंतर रहा है।

हिन्दी उर्दू में पारिभाषिक शब्दों के कारण भी बड़ा भेद हो रहा है। हिन्दी तथा भारत की अन्य सब आर्य और द्राविड़ भाषाएँ अपना परिभाषा-साहित्य संस्कृत से लेती हैं। पर उर्दू अपनी इस्तलाहें (परिभाषा-साहित्य) अरबी फ़ारसी से लेती है। भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ उर्दू की घनिष्ठता स्थापित करने के लिए उर्दू को भी वही पारिभाषिक शब्द स्वीकार करने चाहिएँ जो बँगला मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में ग्रहण किये जाते हैं।

जो कुछ भी हो इन छोटे मोटे साहित्यिक भेदों को छोड़कर कम से कम निन्यानवे फीसदी हिन्दी भाषा-भाषियों की बोली एक ही है जिसे हिन्दी कहिए या हिन्दुस्तानी; और उसमें तथा उर्दू में कोई भेद नहीं

बंगाल और गुजरात के मुसलमान उन प्रान्तों की भाषा और लिपि को अपनाये हुए हैं, फिर युक्तप्रांत के मुसलमानों को नागरी लिपि अपनाने में क्या कठिनाई हो सकती है ! यदि सांप्रदायिक लोग अपनी अपनी टेक रखने पर जमे रहते हैं तो संप्रदाय का चाहे लाभ हो किंतु उससे बड़ी चीज यानी देश का नुकसान होगा।

४२. देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता और उसकी कुछ न्यूनताएँ

राष्ट्र में एकसूत्रता स्थापित करने के अर्थ जाति, संस्कृति और धर्म की एकता की अपेक्षा सामूहिक हित और भाषा की एकता अत्यन्त आवश्यक है। भारतवर्ष में हितों की एकता प्रायः है ही और किसी अंश में सांस्कृतिक एकता भी है; हिन्दुओं में तो सांस्कृतिक एकता है ही, किन्तु मुसलमानों की भी बहुत सी सांस्कृतिक बातें हिंदुओं से मिलती जुलती हैं, जैसे जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नमाज के पहले हाथ पैर धोना। किंतु भाषा का भेद अधिक है।

सांस्कृतिक भेद होते हुए भी एक राष्ट्र-भाषा का होना सुलभ है। जब भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा के द्वारा विचार-विनिमय कर सकते हैं, तब हिंदी जैसी व्यापक स्वदेशी भाषा द्वारा विचारों का परस्पर आदान-प्रदान कोई असम्भव बात नहीं। हिन्दी और उर्दू में भाषा का विशेष भेद नहीं; सरल हिंदी और सरल उर्दू करीब-करीब एक रूप हो जाती हैं, भेद केवल लिपि का रह जाता है। गुजराती, बँगला, मराठी, पंजाबी आदि की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तो एक ही है और उनकी वर्णमाला भी प्रायः एक सी है, किंतु उनमें भी लिपि का भेद बहुत कुछ अन्तर डाले हुए है। यदि लिपि का भेद मिट जाय तो इन भाषाओं का करीब-करीब चालीस या पैंतालीस प्रतिशत और कहीं-कहीं उस से भी अधिकांश

समझ में आने लगे। उदाहरण के लिए शरद् बाबू के 'पल्ली समाज' से एक अवतरण उसके हिन्दी अनुवाद के साथ दिया जाता है। अनुवाद के बिना भी देवनागरी अक्षरों में लिखे हुए बँगला के वाक्य बहुत कुछ समझ में आ जाते हैं।

'एई कुँयापुरेर 'विषयटा अर्ज्जित हइआर सम्बन्धे एकटू इतिहास आछे, ताहा एखाने बोला आवश्यक। प्रायः शत वर्ष पूर्वे महाकुलीन बलराम मुखुय्ये (मुखुज्जे), ताँहार मित्र बलराम घोषालके सङ्गे करिया विक्रमपुर हइते एदेशे आशेन। मुखुय्ये शुधू कुलीन छिलेन ना, बुद्धिमान ओ छिलेन।'

'इस कुआँपुर गाँव की जायदाद (विषय शब्द संस्कृत में जायदाद के अर्थ में आता है की कमाई के (अर्जित हइआर, अर्जित भी संस्कृत शब्द है) सम्बन्ध में एक इतिहास है जो यहाँ देना आवश्यक है। प्रायः सौ वर्ष पहले महाकुलीन बलराम मुखर्जी अपने मित्र बलराम घोषाल को साथ लेकर सङ्गे, इसको हिन्दी वाले सहज में समझ सकते हैं) विक्रमपुर से यहाँ (एदेशे) आये थे। मुखर्जी केवल (शुधू) कुलीन ही नहीं थे वरन् बुद्धिमान भी थे।' गुजराती, पंजाबी और मराठी से भी ऐसे ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लिपि का प्रश्न कितने महत्त्व का है।

राष्ट्रलिपि के सम्बन्ध में हिन्दी उर्दू का झगड़ा मिटाने के लिए कुछ लोग रोमन लिपि की शरण लेना चाहते हैं। इस प्रकार देवनागरी लिपि के मुकाबले में फ़ारसी लिपि जिसको उर्दू ने अपनाया है और रोमन लिपि जिसको अंग्रेज़ी ने अपनाया है, प्रतिद्वन्द्विता में आती हैं। यहाँ पर दो प्रश्न हैं, एक वर्णमाला का और दूसरा लिपि का।

संस्कृत से निकली हुई सभी प्रांतीय भाषाओं की वर्णमाला एक सी है। रोमन और फ़ारसी लिपि की अपेक्षा वे लोग देवनागरी लिपि को सुगमता के साथ अपना सकते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनियों का सम्बन्ध भाषा से है। देश के लोगों के मुखावयवों की बनावट और उच्चारण-

शक्ति के ही अनुकूल वर्णमाला का विकास होता है। फ़ारसी और रोमन लिपियों का जन्म इस देश की भाषाओं की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त वे देवनागरी की वर्णमाला की अपेक्षा विकास-क्रम में कहीं पीछे हैं और वे इतनी वैज्ञानिकभी नहीं हैं।

वर्णमाला वही विकसित समझी जायगी जिसमें ध्वनियाँ विश्लिष्ट हों, अर्थात् जिस में एक ध्वनि के साथ और ध्वनियाँ न मिली हों, एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण हो और एक वर्ण एक ही ध्वनि का द्योतक हो। शब्दों से ही वर्ण निकले हैं। कमल, ककड़ी, कटहल, कठपुतली, कबूतर आदि शब्दों में से, 'क' की ध्वनि, जो सबमें शामिल है, अलग हुई होगी। संस्कृत वर्णमाला ही ऐसी है जिसमें ध्वनियाँ बिलकुल अलग हो गई हैं। फ़ारसी तथा रोमन लिपियों में एक ध्वनि के साथ कई ध्वनियाँ मिली रहती हैं और उनमें यह भी नहीं पता चलता कि पहली ध्वनि प्रधान है या दूसरी। फ़ारसी लिपि में 'अ' को 'अलिफ़' से लिखते हैं। 'अलिफ' में आखिरी 'अ' के अतिरिक्त चार ध्वनियाँ हैं, अ + ल्+इ+फ्। 'ज' को 'जीम' से लिखा जाता है, 'च' को 'चे' और 'ल' को 'लाम' से। इन तीनों व्यंजनों में भिन्न-भिन्न स्वरों और व्यञ्जनों का सहारा लिया गया है, 'जीम' में 'ई' और 'म' का, 'चे' में 'ए' का और 'लाम' में 'आ' और 'म' का। 'स्वाद', 'ज्वाद', 'ते' आदि सब की अलग-अलग बनावट है। इस प्रकार फारसी लिपि, और रोमन लिपि भी उस प्रारम्भिक अवस्था में ही है जिसमें ध्वनियों का पूरा विश्लेषण नहीं हुआ।

हम संस्कृत की वर्णमाला की सी एकसूत्रता इनमें नहीं देखते। संस्कृत के व्यञ्जनों के उच्चारण में स्वर का सहारा लिया जाता है, लेकिन वह सिर्फ़ 'अ' है जो वर्णमाला का पहला अक्षर है। फारसी लिपि में एक ध्वनि के लिए कई वर्णों का प्रयोग होता है। 'त' के लिए 'ते' और 'तोये', 'स' के लिए 'सीन', 'स्वाद' और 'से' का प्रयोग होता है।

इसके अतिरिक्त जहाँ 'स' और 'त' के लिए इतनी भरमार है

वहाँ य, ए और ई के लिए केवल 'इए' है और 'ओ' तथा 'औ' के लिए 'अलिफ' और 'वाव' से काम लिया जाता है जो 'अव' की भी ध्वनि देता है। 'अवध' को ओध, औध और अवध तीनों ही पढ़ सकते हैं।

रोमन वर्णमाला के संगठन में भी सिद्धान्त की एकता नहीं है। P (पी), Q (क्यू), R (आर), S (एस), T (टी), W (डबल्यू) आदि सभी का संगठन भिन्न है। P में 'प' के लिए 'ई' की सहायता ली गई है, R में 'आ' की और S में 'ए' की। रोमन वर्णमाला में तो और भी गड़बड़ी है। H, R, S, L, M, N में आखिरी ध्वनि की प्रधानता है और P, K, G, B, D आदि में पहली ध्वनि को मुख्यता दी गई।

रोमन वर्णमाला में भी एक ही ध्वनि के लिए कई वर्णों का प्रयोग होता है। क के लिए K और C दोनों का प्रयोग होता है; ज के लिए G और J दोनों ही काम में आते हैं। C स की भी ध्वनि देता है और क की भी। इसी प्रकार G ज की भी और ग की भी। इसके अतिरिक्त C और G की ध्वनियों का क और ग की ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। रोमन लिपि के स्वर भी एक सी ध्वनि नहीं देते हैं। A की ध्वनि जो Man (मैन) में है वह Car (कार) में नहीं। E की ध्वनि Net (नैट) में तो Men (मैन की सी है किन्तु Jerk (जर्क) और Clerk (क्लर्क) में अ की सी है। U की ध्वनि Put (पुट) में तो उ की है और But (बट) में अ की। सारांश यह कि रोमन लिपि में ध्वनियों की निश्चितता नहीं है।

रोमन और फारसी लिपियों में कोई क्रम भी नहीं है। इतना भी नहीं कि स्वर एक जगह हों और व्यञ्जन एक जगह। इसके विपरीत संस्कृत वर्णमाला में स्वर और व्यञ्जनोंको ही अलग नहीं किया गया वरन् वर्णों को उच्चारण-स्थान के स्वाभाविक क्रम के अनुकूल वर्गों में विभाजित किया गया है। पहले कंठ, तालु, मूर्धा, दाँत और ओष्ठों

के स्वाभाविक क्रम से कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग पाँच वर्ग किये गये हैं। इन वर्गों में भी एक सा ही क्रम है; दूसरा और चौथा महाप्राण है, अर्थात् उसमें 'ह' का योग रहता है, जैसे ख, घ, छ, झ। पाँचवाँ वर्ण सभी का अनुनासिक होता है। ऐसा सुन्दर वैज्ञानिक क्रम और किसी वर्णमाला में नहीं मिलेगा। इस वर्णमाला में एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण है और एक वर्ण एक ही ध्वनि का द्योतक है।

संस्कृत वर्णमाला में जो लिखा जायगा वही पढ़ा जायगा। अगर हमारा उच्चारण ठीक हो तो लिखने में भूल हो ही नहीं सकती। इस में स्वरों में लिए अलग-अलग मात्राएँ स्पष्ट और निश्चित हैं। रोमन लिपि में Hare हेअर को हारे और हरे दोनों ही पढ़ सकते हैं। Danka के डाँका और डंका दोनों ही उच्चारण हो सकते हैं। Prasad को प्रसाद पढ़िए चाहे प्रासाद। Hat को हट, हाट और हैट तीनों ही रूप में देख सकते हैं।

इन विषयों द्वारा संयुक्ताक्षरों का भी ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। उर्दू वाले प्रकाश चन्द्र को प्रायः परकाश चन्दर ही कहते हैं। हिंदी में ऐसी बात नहीं है। हिंदी में कुरानशरीफ तक की आयतें ज्यों की त्यों उतारी जा सकती हैं। एक बार महामना पंडित मदन-मोहन मालवीय ने देवनागरी लिपि में लिखी हुई अरबी की आयतों का परिशुद्ध उच्चारण करके सुनने वालों में यह भ्रम पैदा कर दिया था कि वे अरबी जानते हैं। लेकिन फ़ारसी अक्षरों में आलू बुखारे को उल्लू बुखारे पढ़ना असम्भव नहीं और फिर अदालती कागज़ात की शिकस्त लिखावट में अपने लिखे को आप न बाँच सकने की लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है। फ़ारसी और रोमन लिपि की ध्वनियों में निश्चितता लाने के लिए जो चिह्न बनाये गये हैं उनका छापे में चाहे प्रयोग हो सके किंतु लिखावट में तो उनका प्रयोग अपवाद स्वरूप ही होता है।

रोमन लिपि के पक्ष-समर्थकों का कथन है कि प्रामाणिक रोमन

(Standard Roman ; लिपि में ये कठिनाइयाँ नहीं हैं। उसमें एक अक्षर एक ही ध्वनि का द्योतक होता है और प्रायः सभी ध्वनियाँ प्रकाशित की जा सकती हैं यहाँ तक कि संस्कृत भी बड़ी सुगमता के साथ लिखी जा सकती है। प्रामाणिक रोमन लिपि को स्वीकार करने में तीन कठिनाइयाँ हैं। पहली तो यह कि चाहे प्रामाणिक रोमन लिपि में एक अक्षर की एक ही ध्वनि हो तथापि हम यह नहीं भूल सकते कि उसी रूप और नाम के अंग्रेज़ी वर्णमाला के अक्षर की दो ध्वनियाँ हैं। और इस में भ्रम हो जाने की सम्भावना है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत या हिंदी लिखने के लिए प्रामाणिक रोमन लिपि में जितने संकेतों की आवश्यकता पड़ेगी उनको देखते हुए रोमन लिपि का यह दावा गलत हो जायगा कि उसमें छब्बीस अक्षरों से ही काम चल जाता है। यहाँ पर रोमन लिपि को इस बात का श्रेय दिया जाय कि उसमें वर्णमाला के अक्षरों की संख्या कम है वहाँ उसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ देवनागरी के एक अक्षर 'ख' से काम चल सकता है वहाँ रोमन के तीन अक्षर (KHA) लगेंगे। 'खबर' लिखने में देवनागरी में तीन अक्षरों से काम चल सकता है, रोमन में (KHABAR) ६ अक्षर लगते हैं। इस तरह से स्थान और कागज अधिक लगेगा। एक उदाहरण और लीलिए—

मे	रा	घो	ड़ा	भा	ग	ग	या	
M	E	R	A	C	H	O	R	A
B	H	A	G		G	A	Y	A

रोमन लिपि के पक्ष में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि उसमें लिखने से योरोप वाले भी हमारी पुस्तकों को समझ सकेंगे, किन्तु

योरोप वालों की भाषा हमारी भाषा से इतनी भिन्न है कि उनको उससे कोई लाभ नहीं । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि योरोप वाले नहीं तो मुसलमान और अन्य प्रांत के लोग समझ सकेंगे । किन्तु जब हमारे देश में एक वैज्ञानिक लिपि है जो अन्य प्रान्तों की लिपियों से मिलती है तो हम उसे छोड़ कर दूसरे देश की लिपि को अपना कर केवल हठधर्मी का परिचय देंगे ।

देवनागरी वर्णमाला की वैज्ञानिकता को सभी भाषा विज्ञान-वेत्ता स्वीकार करते हैं । अब प्रश्न यह होता है कि संस्कृत वर्णमाला का प्रयोग तो गुजराती, बँगला और गुरुमुखी में भी होता है फिर देवनागरी को ही क्यों मुख्यता दी जाय ? इसका एक मुख्य कारण तो यह है कि प्रायः सभी प्रांतों में संस्कृत के ग्रन्थों में अधिकतर देवनागरी अक्षरों का ही प्रयोग होता है । यह एक प्रकार से संस्कृत की निजी लिपि बन गई है । मराठी में तो देवनागरी लिपि का ही प्रयोग होता है । इसके अतिरिक्त सौन्दर्य, सरलता और त्वरालेखन की दृष्टि से भी देवनागरी लिपि और लिपियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर है । इसमें अन्य लिपियों से मिलने वाले वर्णों का आधिक्य है । जैसे बँगला के अ, उ, और क, घ, ठ, थ, द, ध, न, फ, म, य, ल, स, व्यञ्जन बहुत कुछ मिलते हैं । इसी प्रकार गुरुमुखी के अ, उ, क, ग, च, छ, ज, ट, ठ, ड, म, र, ल में बहुत समानता है । गुजराती और देवनागरी अक्षरों में अधिकतर शिरोरेखा का ही भेद है : अ, इ, ए, स्वर तथा ख, च, ज, झ, ठ, ब, ल व्यञ्जनों को छोड़ और वर्णों में थोड़ा ही अन्तर है ।

हिन्दी की शिरोरेखाएँ त्वरालेखन में चाहे थोड़ी बाधा डालें किन्तु सौन्दर्य को बहुत कुछ बढ़ा देती हैं और शब्द भी अलग-अलग स्पष्ट दिखाई देते हैं । बँगला में शिरोरेखा है किन्तु ग, प आदि कुछ अक्षरों में नहीं है । नागरी लिपि में बँगला लिपि की अपेक्षा संयुक्ताक्षर कम विकृत होते हैं और वे अपने मूल रूप की पहचान लिये हुए हैं । देवनागरी अक्षरों का लिखना अधिक सरल है और

स्वरालेखन में भी देवनागरी लिपि किसी से पीछे नहीं रहती। उसके टाइपराइटर भी बन गए हैं और हाथ से लिखने में भी उसमें बहु कलम नहीं उठानी पड़ती। रोमन की भाँति इसकी लिखने औ पढ़ने की लिपियाँ अलग नहीं हैं। देवनागरी लिपि के प्रचार से भा की विविधता की कठिनाई बहुत अंश में दूर हो जायगी।

नागरी लिपि में जहाँ सब प्रकार की वैज्ञानिकता है वहाँ कु न्यूनताएँ भी हैं जो सहज में दूर हो सकती हैं। ख में प्रायः र औ व का भ्रम हो जाता है, पर ख का दूसरा चिह्न बन सकता है। ऋ ध्वनि और रि में बहुत भेद नहीं है। लृ की तरह ऋ भी उड़ सक है लेकिन ऋण आदि शब्द जो पहले से प्रचलित हैं उनके सम्बन्ध कुछ कठिनाई पड़ेगी। विदेशी नये शब्द सब औरि से लिखे ही ज हैं। हिन्दी में अनुस्वार से भी काम लिया जाता है और संस्कृत कायदे से पञ्चम अक्षर से भी। संस्कृत का कायदा वैज्ञानिक अवश्य किन्तु सरलता के लिए वह छोड़ा जा सकता है। क्ष, त्र, ज्ञ में म अक्षर पहचाने नहीं जाते किंतु क्ष और ज्ञ की ध्वनि भी अलग है। को ऐसे रूप में भी लिखा जा सकता है जिसमें मूल वर्ण विकृत हों। क्त को हम क्त के रूप में लिख सकते हैं। व और ब के लिखने प्रायः गड़बड़ी हो जाती है, व के लिए दूसरा चिह्न बन सकता है।

नागरी वर्णमाला में कुछ ध्वनियों की कमी भी है। फ़ारसी की काफ़, ग़ैन आदि की ध्वनियाँ नहीं हैं। उनकी पूर्ति फ, क, ग नीचे बिन्दी लगाने से हो सकती है। देवनागरी लिपि में ए और ऐ बीच की ध्वनि जो Man, can में है, नहीं है। इसी प्रकार और औ के बीच की ध्वनि का, जो College में है, अभाव पर इन के लिए चिह्न बन गए हैं। ओ और औ के बीच की ध के लिए ॅ का प्रयोग होने लगा है। College को कॉलेज लिखें ए और ऐ की बीच की ध्वनि के लिए भी मात्रा को कुछ बल दे गया है।

टाइप राइटर और प्रेस की सुविधा के लिए कुछ और भी सुधार सुझाये गये हैं लेकिन वे अनावश्यक से हैं। यह ठीक है कि हिन्दी टाइप-राइटर में ए, ओ, ई की मात्राएँ लगाने में अड़चन पड़ती है और प्रेस में देवनागरी के लिए बहुत से 'केसों' को काम में लाना पड़ता है, किंतु जब काम चल रहा है तब अनावश्यक परिवर्तन करना वाञ्छनीय नहीं। महाप्राण वर्ण जिन में ह की ध्वनि रहती है उड़ाये जा सकते हैं और अल्प प्राणों पर कोई चिह्न लगा कर व्यक्त किये जा सकते हैं जैसे ख को ऽ घ को गऽ करके लिखना सम्भव है संस्कृत में अ के लोप का चिह्न क आदि के आगे ऽ लगा कर लिखते हैं)। लेकिन यह सुधार उतना आवश्यक नहीं जितना कि बीच की ध्वनियों की पूर्ति।

इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के अक्षरों को उड़ाकर टाइप की बचत के लिए अ पर ही इनकी मात्राएँ लगाकर काम चलाने की सलाह दी जाती है। काका कालेलकर जी इसके बहुत पक्ष में हैं और महा-राष्ट्र में इसका प्रयोग भी होने लगा है। इस पद्धति से इ को अि और ई को अी लिखेंगे। सुधारकों का कहना है कि जब 'अ' पर ओ की मात्रा लगाई जा सकती है तो इ, ई, उ ऊ, ए, ऐ की क्यों न लगाई जाय? अपरिवर्तनवादी लोगों का कहना है कि ओ, औ संयुक्त स्वर हैं, इ, उ मूल स्वर हैं; इसके अतिरिक्त इ के स्थान पर अि लिखने में अधिक स्थान लगेगा; और कंपोज़ करने में भी हाथ दो बार उठाना पड़ेगा। अतः समय और स्थान अधिक लगेगा।

नागरी लिपि पहले से पूर्ण और वैज्ञानिक है। थोड़े से परिवर्तनों से उसकी कमियों को दूर करके वह सारे भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि बनाई जा सकती है। इतना ही नहीं उसमें विश्व-लिपि होने की क्षमता है। इस पूर्णतया वैज्ञानिक लिपि को छोड़ कर रोमन लिपि को अपनाना मूर्खता होगी। तुर्की ने यदि रोमन लिपि को अपनाया तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनकी लिपि इतनी वैज्ञानिक न थी और

तुर्की के योरोप में होने के कारण उसका चलन कुछ युक्ति-संगत भी हो सकता है। किन्तु भारत में तो रोमन लिपि को स्वीकार करना कञ्चन के स्थान में काँच और हाटक के स्थान फाटक (फटकन) लेना कहा जायगा।

---

४३. हिंदी-भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियाँ परस्पर संपर्क में आती हैं तब दोनों की भाषा, भावों, विचारों तथा रीति-नीति का विनिमय ऐसी विलक्षण रीति से होने लगता है कि उन जातियों की भाषा, सभ्यता तथा संस्कृति में बड़े-बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। कभी-कभी तो विजयी जातियाँ शक्ति-मती होती हुई भी अपनी अल्पसंख्या अथवा बर्बरता के कारण विजित जातियों की बहु-संख्या में विलीन हो जाती हैं, और अपना संपूर्ण अस्तित्व खोकर विजित जाति की सभ्यता आदि ग्रहण कर लेती हैं। भारत पर आक्रमण करने वाली हूण, कुशन और यूची आदि अनेक जातियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। पर साधारणतया विजयी जातियों को विजित जातियों के ऊपर अपनी सभ्यता लादने में अधिक सफलता मिलती है। जिसके हाथ में सत्ता है, जिसके पास धन-बल है, वही गुण-संपन्न समझा जाता है। विजेता प्रायः अपनी विजय को स्थायी बनाने के लिए भी विजित जातियों की संस्कृति और भाषा की हत्या किया करते हैं, तथा विजित जाति के कई लोग विजेताओं के कृपा पात्र होने के लिए हर एक वस्तु में उनका अनुकरण करना प्रारम्भ करते हैं। अतएव विजित जातियों की भाषा और संस्कृति पर विजेताओं की भाषा और संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति जब से हुई तब से दो प्रकार की विदेशी जातियाँ भारत में आईं—(१) उत्तर पश्चिम से आने वाली मुसल-मान जातियाँ (२) समुद्र-मार्ग से आने वाली यूरोपीय जातियाँ। अतएव

हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का जो प्रभाव पड़ा, उसे दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—मुसलमानी प्रभाव, तथा यूरोपीय प्रभाव। मुसलमान तथा अंगरेज दोनों के शासक होने के कारण प्रायः एक ही ढंग का शब्द समूह इनकी भाषाओं से हिन्दी में आया है। वह शब्द-समूह या तो विदेशी संस्थाओं, जैसे कचहरी, फौज, स्कूल, धर्म आदि से संबंध रखता है अथवा विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नाम हैं, जैसे नये पहनावे, खाने, यंत्र तथा खेल आदि के नाम।

हिन्दी भाषा पर मुसलमानी प्रभाव

ईसा की आठवीं शताब्दी से भारत पर पश्चिमी द्वार से मुसलमानो के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे और १००० ई० के लगभग जब अपभ्रंश भाषा से जुदा होकर हिन्दी अपनी अलग सत्ता बनाने लगी थी, उस समय पंजाब के बहुत से भाग पर फारसी बोलने वाले तुर्कों ने अपना कब्जा कर लिया था। तभी से मुसलमानों का सम्पर्क प्रारम्भ हुआ और हम देखते हैं कि थोड़े ही काल में अनेक विदेशी शब्द हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे। यहाँ तक कि हिंदी के सर्व प्रथम महाकाव्य कहाने वाले 'पृथ्वीराज रासो' में अनेक विदेशी शब्द मिलते हैं। ई० ११९३ से भारत का शासन-सूत्र मुसलमानों के हाथ में चला गया और उसके बाद लगभग ६०० वर्ष तक हिंदी-भाषा-भाषी जनता पर विशेषतया उस प्रान्त पर जो हिन्दी का उत्पत्ति-स्थान कहा जा सकता है, मुसलमानों के भिन्न-भिन्न राजवंशों का राज्य रहा। अतः इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द गाँवों की बोली तक में घुस आये। इन मुसलमान शासकों के राज्य की सीमा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों हिन्दी का प्रचार भी बढ़ता जाता था, पर उस हिंदी में विदेशी शब्दों का पर्याप्त समावेश होता गया। इसके अतिरिक्त खुसरो, कबीर, रहीम आदि अनेक मुसलमानों ने हिन्दी में कविता की। उनकी कविता में

हुआ; अतएव प्राचीन हिन्दी-पद्य में यूरोपीय शब्द शायद ढूँढने पर भी न मिलें। परन्तु १८०० ई० के लगभग भारत का भाग्य पलटने लगा। छः सौ वर्षों से भारत पर शासन करने वाली मुसलमान जातियों के हाथ से भारत का शासन-सूत्र फिसलने लगा, उसके स्थान पर भारत का मानचित्र लाल रंग से रँगा जाने लगा; और कुछ दिन बाद से अंगरेज़ी राज-भाषा ही नहीं हुई, अपितु हमारी शिक्षा-दीक्षा की भाषा भी हो गई। कई स्थानों पर छोटे-छोटे अबोध बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ तक अंगरेज़ी में होने लगा। अंगरेज़ी पढ़ा लिखा व्यक्ति ही शिक्षित समझा जाने लगा और जो जितनी अच्छी अंगरेज़ी बोल लेता वह उतना ही अधिक शिक्षित माना जाने लगा। फलतः गत सवा सौ वर्षों में हिन्दी के सब्द समूह पर अंगरेज़ी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

पढ़े-लिखों की भाषा का तो कहा ही क्या जाय, वह तो आधी तीतर आधी बटेर हो गई है; कितने ही अंगरेज़ी-पढ़े व्यक्ति तो इस प्रकार की भाषा बोलते हुए मिलते हैं—मैं इस प्वायंट (point) पर यील्ड (yield) नहीं कर सकता, मेरा तो फ़र्म (firm) कन्विक्शन (conviction) है कि मेरी स्टेटमेंट (statement) ट्रुथ (truth) पर बेस्ड (based) है; पर अनपढ़ लोगों और सुदूर देहात की भाषा में भी अनेक अंगरेज़ी शब्द आज घर कर चुके हैं। वे हमारी भाषा के ही अंग बन गये हैं। अस्पताल, अफ़सर, अप्रैल, अगस्त, आफ़िस, आर्डर, इंच, इनकम-टैक्स, एजेंट, इन्स्पैक्टर, कलक्टर, कमिश्नर, कम्पनी, कमेटी, कापी, कंट्रोल, कांग्रेस, कालिज, कोलतार, कोइला, कोट, कौंसिल, गज़ट, गार्ड, गिलास, चाक, चेअरमैन, जज जंपर, जेल, ट्रंक, टिकिट, टेलीफोन, डबल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ड्रिल, थर्ड, थर्मामीटर, दर्जन, दराज, नैकटाई, नोट, नंबर, निकर, नोटिस, पल्टन, पस्तर, पुलटिस, पुलिस, प्रेस, प्लेटफार्म, पैंश, प्रेसीडेंट, फ़र्मा, फ़र्स्ट, फ़िटन, फ़रलांग, फ़ार्म, फ़ीस, फ़ुटबाल, फ़ोटो, बैंक; बनियाइन, बुरुश,

बूट, बैरंग, बोर्डिंग, मशीन, मैजिस्ट्रेट, मास्टर, मैनेजर, मेंबर, मानीटर, मिनट, मिल, रजिस्टर, रेट रेल, लैंप, लाइसैंस, लेक्चर, वारंट, वालंटियर, वोट, वायसराय, समन, संतरी सरकस, सर्टिफ़िकेट, सूटकेस, सैकंड, सोडावाटर, सीमेंट, हारमोनियम, होटल, होल्डर, आदि अनेक अंगरेजी शब्द ऐसे हैं, जो आपको शहर और गाँव सब जगह एक से सुनाई देंगे। अंगरेज़ी के अलावा पुर्तगाली तथा फ़्रांसीसी भाषा से बस्तान, कमीज़, गोभी गोदाम, तौलिया, मेज़ बिस-कुट, बोतल, कारतूस कूपन, आदि अनेक शब्द हिन्दी में आ गये हैं।

यहाँ तक तो हुआ हिन्दी भाषा पर विदेशी प्रभाव, अथवा हिन्दी-भाषा में विदेशी शब्दों के प्रवेश का वर्णन। अब हमें यह देखना है कि हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव कहाँ तक और क्या पड़ा। इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही कहना पड़ता है कि हिन्दी-साहित्य पर मुसलमान काल में विदेशी प्रभाव 'न' के बराबर रहा। कारण यह कि भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के अनन्तर जब हिन्दू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिन्दू अपनी प्राचीन तथा उच्च सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसलमानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजय गर्व ने उन्हें हिन्दुओं में मिल जाने से रोके रक्खा। अतः इस क्षेत्र में दोनों जातियों का आदान-प्रदान बहुत कम हुआ। तब भी संत कवियों की निर्गुण उपासना में भारतीय अद्वैतवाद का आधार होते हुए भी मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद की छाया अवश्य दिखाई देती है। इसी प्रकार प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों का भावनाजन्य रहस्यवाद सूफ़ीमत की उपज कहा जा सकता है। खड़ी बोली के प्रारंभ काल में फ़ारसी छन्दशास्त्र पर अवलंबित उर्दू बहरों का भी अनुकरण किया गया था। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'बोलचाल' में इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता के दुःखवाद के संबंध में विदेशी प्रभाव 'न' के बराबर रहा। किन्तु फिर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि

उसमें उर्दू कवियों के रोने-पीटने का क्षीण प्रभाव परिलक्षित है, तथा आधुनिक काल की हिन्दी कविता में 'हालावाद' भी उमर खैयाम की रुबाइयात के अंगरेज़ी अनुवादों से प्रभावित है, पर ये सब प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अप्रत्यक्ष विदेशी प्रभाव कहे जा सकते हैं।

मुसलमानी शासन की अपेक्षा अंगरेज़ी शासन काल में मानसिक विकास का अच्छा अवसर मिला, अतएव अंगरेज़ी-साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर अत्यधिक क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार गत डेढ़ सौ वर्षों में भारतीय मनोवृत्ति, भारतीय दृष्टिकोण, रहन-सहन, भारतीय विचार-धारा में क्रान्ति हो गई है, उसी प्रकार समस्त भारतीय साहित्य में भी क्रान्ति हो गई है। फलतः हिन्दी साहित्य भी उस क्रान्ति से अछूता नहीं बचा। गद्य, आख्यायिका, उपन्यास, नाटक, समालोचना, निबंध, पत्र-लेखन, विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र और गद्य, सब में हिन्दी-साहित्य का रूप ही बदल गया है।

भारत में अंगरेज़ों के राज्यस्थापन के साथ पाश्चात्य सांसारिकता के भाव घर करने लगे। फलतः हिन्दी में सदियों से चली आती पद्यात्मक प्रवृत्ति का स्थान गद्यात्मक प्रवृत्ति ने ले लिया। जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी से पहले हिन्दी साहित्य में गद्य का कोई विशेष स्थान नहीं था और उसकी एक शैली तक निश्चित न थी, वहाँ एक ही शताब्दी में हिन्दी गद्य का रूप पर्याप्त परिष्कृत हो गया, शैली के परिमार्जन के अतिरिक्त भाव-प्रदर्शन की अनेक प्रौढ़ शैलियों का विकास भी हुआ और हिन्दी गद्य में प्रकट किये जाने वाले भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हुआ। देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, समाज-सुधार आदि विषयों पर हिन्दी गद्य में अधिक साहित्य लिखा जाने लगा। हिन्दी भाषा-भाषियों में पाश्चात्य विज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति आदि विषयों की भूख बढ़ी। अंगरेज़ी उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों में से कुछ व्यक्तियों ने नयी विषयों पर भी कलम उठाई। इन नये भावों तथा नये विषयों को प्रकट करने के लिए भाषा में नये शब्दों तथा नये

मुहावरों का प्रचलन हुआ। इस तरह हिन्दी गद्य पर पर्याप्त विदेशी प्रभाव पड़ा।

आधुनिक हिन्दी-व्याकरण में संस्कृत के व्याकरण के साथ अंगरेज़ी के व्याकरण की बातों का भी प्रवेश हो गया है। विशेषण और क्रिया-विशेषणों के प्रकार, पद व्याख्या, वाक्य-विश्लेषण आदि अंगरेज़ी व्याकरण की ही देन हैं।

कहानी जिसे आजकल गल्प नाम से पुकारा जाता है तथा आजकल के उपन्यास और एकांकी नाटक तो विदेशी प्रभाव की ही उपज हैं। यद्यपि एकांकी नाटकों का प्राचीन संस्कृत में अभाव न था तथापि वर्तमान काल में उनका प्रचार अगरेज़ी साहित्य से ही बढ़ा। विदेशी प्रभाव के कारण उपन्यासों और नाटकों में घटनाओं की अस्वाभाविकता का अभाव होने लगा, तथा चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिक प्रकृति पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। यद्यपि किन्हीं अंशों में हिन्दी इनके लिए बंगाल की ऋणी कही जाती है, पर बंगाल में भी ये विदेश से आये हैं, वहाँ इनका प्रचार पहले होने का एकमात्र कारण यह है कि बंगाल में अंगरेजों का शासन सबसे पहले स्थापित हुआ और बंगाली लोग ही पहले उनके संपर्क में आये।

नाटकों की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य बहुत उन्नत था, परन्तु हिन्दी में नाटक-रचना का प्रायः अभाव था। विदेशी प्रभाव के कारण नाटकों का पुनर्जन्म नवीन शैली पर हुआ, इस परिवर्तन में बँगला भाषा ने माध्यम का काम किया। आधुनिक हिन्दी-नाटकों में पद्यांश की कमी सूत्रधार आदि का अभाव, लबे-लबे रंगमंच के सकेत लिखा जाना तथा चरित्र-चित्रण पर अत्यधिक बल दिया जाना पाश्चात्य प्रभाव के ही कारण है। इन सब के अतिरिक्त सबसे बड़ा परिवर्तन 'मधुरेण समापयेत्' के सिद्धान्त का परित्याग कर नाटक या कहानी का दुःखान्त होना है। आज कल तो दुःखान्त नाटक ही

अधिक पसन्द किये जा रहे हैं। कम से कम नाटक को सुखान्त दिखाने के लिए वास्तविक कहानी को तोड़ा-मरोड़ा नहीं जाता।

अब प्रश्न यह है कि विदेश का इतना ऋण-भार हिन्दी के लिए कहाँ तक गौरव की वस्तु है। संसार में परस्पर आदान-प्रदान सजीवता का चिह्न है। जहाँ आदान-प्रदान का अभाव है वहाँ जीवन का भी अभाव है। ऋणी होना अर्थात् दूसरों से कुछ लेना लज्जा की बात नहीं; किन्तु विदेशी पूँजी को वैसा का वैसा ही रखना निर्जीवता है; निर्जीवता ही नहीं वरन् कृतघ्नता भी है। अब यह देखना चाहिए कि ग्रहण की हुई चीज़ को पचाने तथा उसको अपनी संस्कृति के अनुकूल बनाने की शक्ति हिन्दी में है या नहीं? अंधानुकरण वास्तव में निन्दनीय है। पश्चिम के वातावरण को चित्रित करने वाली कविता भी देशी वातावरण में ठीक नहीं बैठ सकती; उसको देशी रूप देना पड़ेगा।

मुहावरों का शब्दानुवाद भी कहीं-कहीं हास्यास्पद हो जाता है क्योंकि पूर्वी और पश्चिमी वातावरण में भेद है। ठंडे देशों में ठंड उदासीनता की द्योतक है और गर्मी प्रेम की। हिन्दी में छाती जुड़ाना प्रेम और शान्ति का चिह्न है। भारतवर्ष के मुहावरे हत्या पर निर्भर नहीं हैं। 'Killing two birds with one stone' के स्थान पर चाहे 'एक ढेले में दो पक्षी' कह लिया जाय, किन्तु जितना आनन्द 'एक पन्थ दो काज' में मिलता है उतना उसमें नहीं। 'Breaking the ice' के स्थान में यदि 'बरफ तोड़ना' कहा जाय तो अनभिज्ञता का परिचय देना होगा, इसके लिए 'मौन भंग करना' ही ठीक होगा। सब स्थानों में इतना भेद भी नहीं है; भाग लेना, नया अध्याय खोलना, शून्य दृष्टि, दृष्टिकोण आदि मुहावरे हमारी भाषा में खप भी गये हैं। मानव प्रकृति में बहुत कुछ साम्य भी है। कुछ भाव तो बिना अनुकरण के भी मिल जाते हैं। महात्मा सूरदास ने अंगरेजी के मुहावरे 'Crying in the wilderness' को बिना जाने ही गोपियों के मुख से 'कानन को रोइबौ' कहलाया है।

हमें विदेशी प्रकृतियों से प्रभावित होते हुए यह देखने की आवश्यकता रहती है कि कौन सी प्रकृति हमारे अनुकूल पड़ती है और कौन सी प्रतिकूल। इसका विचार न करना ही अन्धानुकरण कहलाता है। हमें इस बात का गर्व है कि हिन्दी-लेखकों ने अन्धानुकरण नहीं किया, उन्होंने विदेशी सामग्री को भली प्रकार पचाया है पर फिर भी इस सम्बन्ध में सचेत रहने की आवश्यकता है।

४४. हिंदी और पंजाब

यह संसार परिवर्तनशील है। अन्य सब बातों के साथ उसकी परिवर्तनशीलता भाषा में भी प्रकट होती है। देश-भेद, काल-भेद तथा अन्य सुगमता सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों से उच्चारण में भेद पड़ जाते हैं और इन भेदों के दृढ़ हो जाने पर एक नयी भाषा या उपभाषा उपस्थित हो जाती है।

देववाणी संस्कृत, जिसकी क्षीण परन्तु विमल-धारा अब भी सारे भारतवर्ष को पवित्र कर रही है, आर्यों की प्रचीन भाषा है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के उच्चारण-भेद से शौरसेनी, मागधी, अर्धमगधी, पैशाची आदि जन-समुदाय की कई प्राकृत भाषाएँ बन गईं और फिर उनसे अपभ्रंश भाषाओं का जन्म हुआ। भारतवर्ष में जितनी भी भाषाएँ बोली जाती हैं, उनमें से दो तिहाई से अधिक इन्हीं प्राकृतों और अपभ्रंशों द्वारा संस्कृत से आई हैं। स्थूल दृष्टि से इन भाषाओं में बहुत भेद मालूम होता है, किन्तु यदि हम क्रम से इन भाषाओं के इतिहास में प्रवेश करते हैं तो यह विभिन्नता क्रमशः कम होती जाती है और अन्त में हम मूल भाषा तक पहुँच जाते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी विशेष कर खड़ी बोली पंजाब की भाषा से अधिक दूर नहीं रहती। दोनों का संस्कृत की पैशाची प्राकृत से सम्बन्ध है। पंजाबी में उसका मूल रूप अधिक रहा। इधर खड़ी बोली में शौरसेनी प्राकृत का भी

प्रभाव पड़ा। पंजाबी में 'कर्म' और 'अग्नि' का प्राकृत से सम्बन्ध रखने वाला रूप 'कम्म' और 'अग्ग' बना रहा, हिन्दी में 'काम' और 'आग' हो गया। खड़ी बोली में जो घोड़ा आदि आकारान्त संज्ञा शब्द हैं वे भी पंजाबी की मूलभाषा पैशाची प्राकृत से ही आये हैं। प्रादेशिक समीपता के कारण ये दोनों भाषाएँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं। युक्त प्रान्त के मेरठ आदि पश्चिमी प्रदेशों में पंजाबी का प्रभाव है। मेरठ के गाँवों में जो लुट्टा, गुत्ता आदि द्वित्व प्रधान शब्द प्रयुक्त होते हैं उनमें—चाहे वे शब्द प्राकृत से न बने हों—पंजाबी की जननी पैशाची प्राकृत के उच्चारणों की झलक आ जाती है; इसी प्रकार पंजाब के पूर्व भाग में हिन्दी का प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

वास्तव में जितना देश पंजाब के नाम से प्रख्यात है उस सब में पंजाबी नहीं बोली जाती। भाषा के हिसाब से पंजाब के तीन भाग हैं। एक पश्चिमी जहाँ लहँदा बोली जाती है (लहँदे का अर्थ गिरते हुए, डूबते हुए अर्थात् पश्चिमी का है) इसका प्राचीन नाम मुलतानी है; दूसरा मध्य, यहाँ पर शुद्ध आदर्श पंजाबी बोली जाती है, इसको लाहौरी भी कहते हैं और तीसरा पूर्वी जिसमें रोहतक, करनाल, अंबाला, हिसार आदि ज़िले (पटियाला और जींद के कुछ ग्राम भी) आते हैं; इस भाषा को अंबालवी भी कहा गया है। इस प्रदेश में खड़ी बोली और बाँगरू (जाटों की बोली जो हिन्दी की ही एक बोली है) का अधिकार है। इस के अतिरिक्त मुसलमान लोग यद्यपि पंजाबी ही बोलते हैं तथापि अपनी निजी 'खतो-किताबत' (पत्र-व्यवहार) खड़ी बोली के फ़ारसी-अरबी मिश्रित रूप उर्दू में करते हैं और इसी प्रकार हिन्दू लोगों का भी पत्र-व्यवहार हिन्दी या उर्दू में ही होता है। देवनागर अक्षरों से हिन्दुओं का विशेष संबंध है और अब वे लोग इसका व्यवहार दिनों-दिन अधिक कर रहे हैं। इस प्रकार हिन्दी का पंजाब से पार्थक्य करने वाली रेखा और भी क्षीण हो जाती है। केवल हिन्दी जानने वालों को यहाँ बातचीत या व्यवहार में कोई

कठिनाई नहीं होती।

सिक्खों के धर्म-ग्रन्थों में अधिकांश में पुरानी हिन्दी के शब्द हैं, पंजाबी का पुटमात्र है। सिक्खों के आदि गुरु नानकदेव पर प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी को गर्व है। नवम गुरु श्री तेगबहादुर जी ने देहली-मेरठ की ही बोली को अपनाया था। अन्तिम गुरु श्री गोविन्दसिंह जी भी हिन्दी के कवियों में ऊँचा स्थान पाते हैं। उनके 'विचित्र-नाटक', 'शास्त्रनाम माला' आदि ग्रन्थों में बड़ा सुन्दर ब्रजभाषा का नमूना मिलता है।

सिक्खों के साथ केवल लिपि का सवाल रह जाता है। उनकी वर्णमाला (पैंतीसी) तो नागरी की ही वर्णमाला है, आकारमात्र का भेद है। आकार में कुछ अक्षर तो देवनागरी से मिलते हैं और कुछ उससे पूर्व की लिपियों से सादृश्य रखते हैं। यह भेद भी थोड़ी सहृदयता और उदारता के साथ मिट सकता है। जिस प्रकार वेश बदला हुआ मित्र छिपता नहीं है, उसी प्रकार नागरी और गुरुमुखी अक्षर एक दूसरे के लिए भिन्न नहीं हैं। वे लोग अपने धर्मग्रन्थों का पाठ चाहे गुरुमुखी लिपि में ही करें किन्तु उनकी लिपि का स्वाभाविक संबंध देवनागरी से है और इसलिए सामूहिक हित के लिए लिखी देवनागरी अक्षरों की पुस्तकें समझने में उनको विशेष कठिनाई न होगी। हाँ, उर्दू लिपि में ज़रा कठिन समस्या है। मुसलमान लोग पंजाबी को उर्दू लिपि में लिखना पसन्द करते हैं। लिपि-भेद मिटाने के लिए परस्पर आदान-प्रदान और सहृदयता की आवश्यकता है।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण में भी पंजाब का हाथ है। हिन्दी के वाल्मीकिस्वरूप आदि कवि चन्दबरदाई का जन्म लाहौर ही में हुआ था। योगीराज गोरखनाथ, जो हिन्दी-गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं, पंजाब के ही बतलाये जाते हैं। महात्मा नानक के नाम से तो सभी परिचित हैं। समस्त सिख गुरुओं, विशेषतः दशम गुरु की हिंदी की सेवा का भार तो हिंदी कभी उतार ही नहीं सकती। कविवर

रहीम का जन्म-स्थान लाहौर ही है। दार्शनिक कवियों में गुलाबसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी के ज्ञानमार्गी कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रेममार्गी कवियों में पटियाले के कवि मृगेन्द्र (सं० १६१२) का नाम आदर से लिया जाता है। उन्होंने 'प्रेम-पयोनिधि' नाम का उत्तम ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में राजा जगत-प्रभाकर और राजा सहपाल की कन्या की प्रेम-कथा है। रामोपासक कवियों में हृदयराम जी प्रख्यात हैं। हिंदी में भक्ति-सम्बन्धी नाटक (रामायण नाटक) पहले-पहल इन्होंने लिखा है। उनकी कविता का थोड़ा सा उदाहरण दिया जाता है—

ऐहो हनू! कह्यो श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही?
है प्रभु लंक कलंक बिना सु बसे तहाँ रावन बाग की छाँहीं॥
जीवित है? कहिवेई को नाथ, सु क्यों न मरी हम ते बिछुराही?
प्रान बसैं पद पंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं॥

गद्य-लेखकों में श्रद्धाराम का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। उन्होंने आत्म-चिकित्सा, धर्म रक्षा, शतोपदेश आदि कई अच्छे ग्रंथ लिखे हैं। उन्होंने अपना चरित्र और भाग्यवती नाम का एक उपन्यास भी लिखा था। लोगों का कथन है कि हिन्दी में यह पहले जीवन-चरित्रकार और उपन्यासकार हैं। संवत् १६२० में इन महाशय ने महाराजा कपूरथला के मन से पादरी गोरखनाथ के प्रभाव को हटाकर उनको ईसाई होने से रोका था। ये महाशय बड़े धार्मिक थे, पर इनके विचार स्वतन्त्र थे। इनके धार्मिक विचार इनके लिखे हुए 'सत्यामृतप्रवाह' में मिलते हैं। इनकी भाषा प्रौढ़ है।

न्यायदर्शन के अनुवादक कृपाराम शर्मा की भी हिन्दी की सेवाएँ

विद्यावाचस्पति, श्री इंद्रनाथ मदान, श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन, प० पृथ्वीनाथ शर्मा, श्री सत्यदेव विद्यालंकार डा० सूर्यकान्त, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, डा० आशानन्द आदि कितने ही पंजाबी लेखक हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। हिन्दी भवन, जालधर, की हिंदी-सेवा पंजाब में चिरस्मरणीय रहेगी।

वास्तव में पंजाब में हिन्दी के प्रचार का श्रेय आर्यसमाज को है। आर्यसमाज के सत्यार्थप्रकाश के द्वारा हिन्दुओं में हिन्दी का प्रचार अधिक हुआ। इसके अतिरिक्त डी० ए० वी० कालेज, गुरुकुल आदि जितनी आर्यसमाज की संस्थाएँ हैं, उन्होंने भी हिन्दी-शिक्षा को लोकप्रिय बनाने में योग दिया। हिन्दी के सम्बन्ध में आर्यसमाजी विद्वानों में महात्मा हंसराज, महामहोपाध्याय आर्यमुनि, स्वामी श्रद्धानन्द पंडित राजाराम और लाला लाजपतराय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है।

आर्यसमाज की भाँति ही सनातन धर्म की संस्थाओं द्वारा भी हिन्दी का प्रचार हो रहा है।

स्त्रियों में हिन्दी शिक्षा के प्रचार का श्रेय बाबू नवीनचन्द्रराय को है। इन्होंने संवत् १६२० और १६३० के बीच में बहुत सी शिक्षा उपयोगी पुस्तकें लिखीं और लिखवाईं। इन्होंने ब्रह्म समाज के प्रचार के लिए 'ज्ञान प्रदायिनी' पत्रिका निकाली थी। पंजाब यूनिवर्सिटी की रत्न, भूषण और प्रभाकर परीक्षाओं ने भी हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में बहुत कुछ योग दिया है। हर्ष की बात है कि पंजाब के स्त्री-समाज में इन परीक्षाओं का अच्छा प्रचार होता जा रहा है। पंजाब में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार भी क्रमशः बढ़ता जा रहा है। हिन्दी को पंजाब विश्वविद्यालय की अंगरेजी परीक्षाओं में स्थान तो मिला है, किन्तु गौणाश्रय से। आशा है कि प्रान्तीय सरकार इस ओर भी अपनी उदारता का परिचय देगी। अबोहर के हिन्दी पुस्तकालय द्वारा इस प्रदेश की जनता में हिन्दी का प्रचार अच्छा हो रहा है।

वहाँ अखिल भारतवर्षीय साहित्य-सम्मेलन भी बड़ी धूम-धाम के साथ हो चुके हैं।

पंजाब में हिन्दी-प्रचार के चारों ओर से शुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। हिन्दी के प्रचार से प्रान्तीय भाव दूर होने में बड़ी सहायता मिलेगी। पंजाब के साथ हिन्दी का स्वाभाविक ऐतिहासिक और भौगोलिक सम्बन्ध है। पंजाब और हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों की संस्कृति में भी विशेष अन्तर नहीं है।

हिन्दी का प्रचार प्रान्तीय भाषाओं का विरोधी नहीं है। हिन्दी का प्रचार देश में व्यापक भाषा स्थापित करने के लिए है न कि प्रान्त की विशेष संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली प्रांतीय भाषा के उन्मूलन करने के लिए। हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता उन्हीं भाषाओं से है जो राष्ट्रभाषा होने का दावा करती हैं, किन्तु वह उनको भी उनके उचित स्थान से हटाना नहीं चाहती। प्रान्तीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए एक भाषा द्वारा देश को राष्ट्र के सम्मिलित हित की एकसूत्रता में बाँधना सच्ची राष्ट्रीयता है। देश का बटवारा होने के पश्चात् पूर्वी पंजाब ने पंजाबी और हिन्दी को अपना कर राष्ट्रभाषा की समस्या को हल कर दिया है। आशा है कि राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार प्रांतीय भाव को दूर कर एक-राष्ट्रीयता के भाव को बढ़ाने में सहायक होगा।

---

४५. क्या विज्ञान का धर्म और कविता से पारस्परिक विरोध है ?

साधारण दृष्टि से विज्ञान का धर्म और कविता के साथ विरोध दिखाई देता है, और बात बहुत अंश में ठीक भी है। विज्ञान के दृष्टिकोण में भेद है। विज्ञान सत्य—केवल सत्य चाहता है। वह सत्य को रोचक और प्रिय बनाने का उद्योग नहीं करता। वैज्ञानिक केवल 'सत्यम्' का उपासक है। धार्मिक 'सत्यं' और 'शिवं' का और

कवि 'सत्यं' शिवं' के साथ 'सुन्दरम्' को भी खोजता है। कवि का ध्येय सत्य अवश्य है किन्तु वह वैज्ञानिक के ठोस वाह्य सत्य की अपेक्षा हृदय का सत्य चाहता है।

वैज्ञानिक आदर्श की ओर नहीं जाता, उसके लिए जैसा है वैसा ही कह देना सत्य है—'जैसा का तैसा', चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, प्रिय हो अथवा अप्रिय, इसकी वैज्ञानिक को चिन्ता नहीं। कवि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का पक्षपाती है।

वैज्ञानिक बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता को अपना ध्येय बनाता है। कवि हृदय की ग्राहकता को अपना लक्ष्य मानता है। वैज्ञानिक विश्ववैचित्र्य में अपनी बुद्धि द्वारा नियम और शृंखला खोजकर उनके मानसिक बोध बनाता है। कवि उसी चित्र-विचित्र संसार को अपने भावों और मनोवेगों के रंग में रँग कर उसे और भी चित्ताकर्षक बना देत है। एक का काम बुद्धि के बोध से है तो दूसरे का काम हृदय के भावो से है।

फिर क्या विज्ञान और कविता में नितान्त विरोध है ? नहीं। जो विरोध है वह इतना ही है जितना समान वस्तुओं में होता है। दोनों ही का वाङ्मय से सम्बन्ध है। दोनों ही मनुष्य के अनुभव की व्याख्या करते हैं। किन्तु दोनों की पद्धति में अंतर है। पद्धति का भेद होते हुए भी दोनों को कल्पना का सहरा लेना पड़ता है। दोनों ही में आश्चर्य, चमत्कार, नवीनता खोज बीन आनन्द और सलग्नता का कार्य रहता है। दोनों का ही अन्तिम लक्ष्य मनुष्य जाति का हित-साधन है। फिर विरोध कैसा ? जिस प्रकार कवि कल्पना के बिना नहीं चलता उसी प्रकार वैज्ञानिक भी कल्पना बिना पग नहीं रखता। बात-बात पर कल्पना का कार्य है। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देखा। उसने सोचा जिस प्रकार फल पृथ्वी की ओर आकर्षित हुआ उसी तरह सौर-मंडल के पिंड एक दूसरे की ओर गुरुत्व के परिमाण में आकर्षित होते हैं। वाट ने बटलोई की भाप के द्वारा ढक्कन के हश्य से अपनी कल्पना

के बल पर स्टीम ऐंजिन का निर्माण किया।

जब वैज्ञानिक किसी घटना से आश्चर्य-चकित होता है; तभी वह व्याख्या के लिए कल्पना को दौड़ाता है। जब वह किसी एक सिद्धान्त की कल्पना कर लेता है तभी वह निरीक्षण और प्रयोग द्वारा उसकी पुष्टि के अर्थ सामग्री खोजता है। कवियों की कल्पनाएँ भी वैज्ञानिकों के नये-नये आविष्कारों में सहायक होती हैं। जो बात कल कल्पनामात्र थी वह आज सत्य हो जाती है। उड़ने की इच्छा पहले कवियों के ही हृदय में जागरित हुई थी। उसको आज विज्ञान ने सफल कर दिया। यदि वे कल्पनाएँ न होतीं तो वायुयान भी न होते। कवि मेघदूत का निर्माण करता है तो वैज्ञानिक विद्युत्-दूत का।

कवि संसार की विचित्रता से चकित हो उसमें मानवी भावों का आरोप कर एक प्रकार का भाव-साम्य स्थापित करता है। वैज्ञानिक उस विचित्रता में व्यापक नियमों की खोज कर एक बौद्ध (बुद्धि सम्बन्धी) साम्य का परिचय देता है। दोनों ही प्रकृति देवी के उपासक हैं। यदि एक उसके सौंदर्य-निरीक्षण में मग्न है तो दूसरा उसकी सेवा द्वारा मेवा पाने में प्रयत्नशील रहकर प्राकृतिक नियमों को अपने लाभ का हेतु बनाता है। विज्ञान यद्यपि शुष्क है तथापि उसमें भी उतना ही आनन्द, उतनी ही संलग्नता आ जाती है जितनी कि काव्य में। गगन-मंडल के तारागणों की गति में वैज्ञानिक एक अनुपम लास्य देखता है, उसी लास्य का लघुतम रूप वह परमाणुओं के विद्युत अणुओं में पाता है। मनुष्य-कंकाल, जो वैराग्य का उद्दीपन माना जाता है, वैज्ञानिक के मन में विकासवाद के रहस्यों का, जो उसके उसके लिए मुगल-सम्राटों के रंगमहलों के रहस्य से भी अधिक रुचिकर होते हैं, उद्घाटन करता है। वह वीर विजेता की भाँति अंबर-चुंबित भाल हिमालय के उच्चतम शिखिर तक जाने में वीर रस के स्थायी उत्साह का पूर्ण परिचय देता है। जो सौन्दर्य कवि को फूलों में मिलता है उसी सौन्दर्य को वह फूलों को पत्तों में देखकर परमात्मा की बुद्धिमत्ता की सराहना करता है। यही

पर धर्म और विज्ञान का भी समन्वय हो जाता है। विज्ञान ने हमको परमात्मा के 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' रूप के दर्शन कराये हैं। गगन-मण्डल के विस्तार को देखकर कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। खगोल में दूरी की गणना मीलों मे नहीं होती वरन् प्रकाश की गति से, जो १८७०००मील प्रति सेकिंड है, होती है। बहुत से तारागणों के प्रकाश को यहाँ तक आने में सहस्रों वर्ष लग जाते हैं। विज्ञान हमको परमात्मा की महत्ता के साक्षात्कार करने में सहायक होता है। विज्ञान के भव्य भवन विश्व के नियम और शृंखला-बद्ध होने की आधार शिला पर खड़े हैं। धर्म के विना विश्व की नियम-बद्धता का विश्वास दृढ़ नहीं होता। विज्ञान यदि भौतिक बल देता है तो धर्म आध्यात्मिक बल देकर जीवन में आशा का संचार करता है। सच्चा धर्म वैज्ञानिक होगा और सच्चा विज्ञान धार्मिक होगा।

वैज्ञानिक और कवि दोनों ही आश्चर्य-चकित बालक की भाँति सृष्टि का रहस्य जानने की चेष्टा करते हैं। दोनों एक लक्ष्य की ओर जा रहे हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न मार्ग से। एक ने हृदय की तुष्टि की है तो दूसरे ने मस्तिष्क की। यदि एक ने प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य का हृदय प्रदान कर मानव का सहचर माना है तो दूसरे ने उन शक्तियों का बुद्धि-द्वारा नियन्त्रण कर उनको अपना अनुचर बनाया है। कविता, धर्म और विज्ञान के समन्वय में ही मानव जाति के कल्याण की आशा है। धर्म हमको मानवता का पाठ पढ़ायगा, कविता उसे ग्राह्य और रुचिकर बनायगी और विज्ञान उसे क्रियात्मक रूप देकर ऐसा वातावरण तैयार करेगा जिसमें सब लोग सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें।

---

४६. वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्त्व

अन्य शास्त्रों की भाँति विज्ञान का भी इतिहास बहुत प्राचीन है, किंतु वैज्ञानिक उन्नति की बाढ़ जैसी हम आजकल देखते हैं, वैसी

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्रारम्भ हुई है।

विज्ञान की कई शाखाएँ हैं। प्रत्येक में भिन्न-भिन्न आविष्कारों-द्वारा उन्नति हुई है। यद्यपि सभी विद्याएँ मनुष्य के लाभार्थ हैं, तथापि कुछ वैज्ञानिक आविष्कार ऐसे हैं जिनका मनुष्य जाति के हित से सीधा सम्बन्ध है और कुछ ऐसे हैं जिनकी क्रियात्मक उपयोगिता कम है, परन्तु जिन्होंने मनुष्य के ज्ञान में हलचल मचा दी है और जिनका मनुष्य की क्रियाओं पर बहुत कुछ प्रभाव है।

हम पहले प्रथम प्रकार के आविष्कारों का वर्णन करेंगे। वाष्प-सम्बन्धी कलें, बेतार का तार, वायुयान, विद्युत् का प्रकाश, दूरवीक्षण यन्त्र, ऐक्स-रे और रेडियम पहले प्रकार के आविष्कारों में हैं। इन आविष्कारों के सहारे मनुष्य ने देश और काल पर विजय पा ली है। महीनों और वर्षों का सफर घंटों और दिनों में तय हो जाता है, और बात की बात में संसार के इस छोर से उस छोर तक मनुष्य की पहुँच हो जाती है। ऐक्स-रे और रेडियम की किरणें स्थूल पदार्थों में भी प्रवेश कर जाती हैं और बक्स के भीतर की वस्तु हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। ऐक्स-रे और रेडियम (जिसकी प्राप्ति का श्रेय मैडम क्यूरी नाम्नी एक फ्रांसीसी महिला को है) द्वारा चिकित्साशास्त्र में बहुत वांछनीय परिवर्तन हो गया है। मनुष्य को अपने शरीर के भीतर की बात जानने के लिए अनुमान का सहारा नहीं लेना पड़ता, अब तो वह 'प्रत्यक्षे किं' प्रमाणं की बात हो गई है। शल्य-चिकित्सा (Operation) अब अन्धे की टटोल नहीं रही; वरन् माशा तोले पाव रत्ती की सी निश्चित बात हो गई है। रेडियम नासूरों की चिकित्सा में बहुत कुछ उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विद्युत् शक्ति ने तो एक प्रकार का कल्पवृक्ष स्वर्ग से लाकर मर्त्यलोक में उपस्थित कर दिया है। एक बटन दबाया नहीं कि सारा नगर विद्युत् की विशुद्ध निर्मल ज्योत्स्ना में निमग्न हो गया। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना कम से कम भौतिक रूप में तुरन्त ही स्वीकृत

हो जाती है। इतना ही नहीं विद्युत्-शक्ति आप की चाकरनी बनकर आप के घर को परिष्कृत करती है। बटन दबाते ही आज्ञा का पालन होने लगता है। जाड़े में गरम वायु और गरमियों में शीतल वायु का सेवन कर लीजिए। पवनदेव भी आप के इच्छानुवर्ती बन जाते हैं। आज विज्ञान की बदौलत पंख लगाकर उड़ने का चिरवांछित स्वप्न भी चरितार्थ हो गया है। मनुष्य के पर लग जाने से उसकी जल, थल और आकाश में समान गति हो गई है।

यह विद्युत् की शक्ति है जो आपकी बात को एक क्षण में दूर देश में पहुँचाकर 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं' वाली उक्ति को चरितार्थ कर देती है। बेतार के तार और वायुयान का आविष्कार प्रायः साथ ही साथ हुआ। हम गगन-विहारी होकर भी वायरलेस (Wireless) द्वारा भूतल से सम्बन्ध बनाये रखते हैं। घर के कमरे में बैठ कर लण्डन और पेरिस के गानों को सुन सकते हैं। केवल आमोद-प्रमोद ही नहीं वरन् राजनीतिक भाषण और विदेश के बाजार-भाव भी घर बैठे सुनने को मिल जाते हैं। अब तो दूर देशों के शब्द के अतिरिक्त दूरदेशस्थ वक्ताओं के चित्र भी साथ ही देख सकते हैं। दूर-दर्शन (Television) अब स्वप्न की बात नहीं रही।

रेडियो की शक्ति के युद्ध में अनेकों आश्चर्यजनक प्रयोग हुए हैं। राडर द्वारा आक्रमणकारी शत्रु-वायु-यानों का पता लगा लिया जाता है और वे स्वतः संचालित तोपों से नष्ट कर दिये जाते हैं।

विद्युत की अनन्त संभावनाएँ हैं। और धीरे-धीरे वे संभावनाएँ वास्तविक होती जा रही हैं। चल-चित्रों ने मनुष्य के आमोद-प्रमोद और सामाजिक जीवन में बहुत सहायता दी है। चित्रों में बोल डालने की कसर रह जाती थी, वह भी सवाक् चित्रों ने पूरी कर दी। चित्र-पट आमोद का ही साधन नहीं है, वरन् शिक्षा का भी साधन बन गया है। किन्तु खेद इतना ही है कि भारतवर्ष में इसका शिक्षा-सम्बन्धी उपयोग बहुत कम किया जाता है।

दूरवीक्षण और अणुवीक्षण यंत्रों ने मनुष्य के हित-संपादन में बहुत कुछ योग दिया है। दूरवीक्षण यंत्र समुद्र-यात्राओं में बड़ा सहायक होता है। अणुवीक्षण यन्त्र ने "अणोरणीयान्" को महतो महीयान्' करके बतला दिया है और नाना प्रकार के कीटाणुओं को आलोक में लाकर चिकित्साशास्त्र में हलचल मचा दी है। मलेरिया सम्बन्धी कीटाणुओं के ज्ञान से ज्वर का रोग बहुत कुछ शासन में आ गया है। इन कीटाणुओं द्वारा रोग के निदान में भी बहुत सुगमता हो गई है। अब प्रायः सभी रोगों के कीटाणु अपने मित्रों या शत्रुओं की भाँति पहचान लिये जाते हैं और उनसे रोग के निदान और उसकी चिकित्सा में बड़ी सहायता मिलती है।

वैज्ञानिक आविष्कारों-द्वारा केवल मनुष्य के सुख का सम्पादन नहीं हुआ है वरन् इन्होंने मनुष्य जाति के संगठन में भी बहुत कुछ योग दिया है। रेल और जहाज़ द्वारा देशीय और प्रान्तीय सीमाएं विलीन हो गई हैं। व्यापार के लिए अनन्त सुविधाएँ उपस्थित हो रही हैं और मनुष्यमात्र की एक जाति बनने के स्वप्न देखे जा रहे हैं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व-भारती संसार के विद्वानों की ज्ञान-सम्बन्धी सहकारिता का उद्योग करने में संलग्न है। भारतवर्ष में प्रांतीयता का भेद अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। हमारे विचार-क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है। हम अन्तर्जातीय समस्याओं में रुचि रखने लगे हैं। भौतिक सामग्री के विनिमय के साथ विचारों के विनिमय का भी अधिक सुयोग हो गया है। हमारे विद्यार्थी दूर देशों में विद्यार्जन कर अपने देश को उन्नत बनाने के प्रयत्न में हैं।

ये सब आविष्कार एक दार्शनिक महत्त्व भी रखते हैं। इन आविष्कारों से यह सिद्ध होता है कि संसार में नियम और शृंखला है। ग्रहण-सम्बन्धी हमारी भविष्यवाणियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जैसा हम सोचते हैं वैसा ही कार्य-घटना-क्रम में भी सिद्ध होता है। नियम हमारे काम के साधन बनाये जा सकते हैं। ये संसार में बुद्धि का

विस्तार करते हैं और इस बात का भी संकेत देते हैं कि इस भाँति के संसार के पीछे एक चेतन नियंत्रण है, यदि ऐसा न होता तो इसमें हमारी बुद्धि की गति न होती। विज्ञान संसार को बुद्धि-गम्य प्रमाणित कर ईश्वर की सत्ता स्थापित करने में सहायक होता है।

यह संसार सुख-दुःखमय है। इसमें पाप पुण्य का द्वन्द्व है। प्रत्येक भलाई के साथ बुराई लगी हुई है। जो विज्ञान मनुष्य जाति के सुख का सम्पादक है वही मनुष्य जाति की हत्या में भी सहायक होता है। वायुयान के कारण अब दुर्ग भी दुर्गम नहीं रहे। जिन वायुयानों में बैठकर हम देवताओं की भाँति व्योम-विहार करते हैं वे ही ऊपर से पुष्पों के स्थान में गोले बरसा कर मनुष्य जाति के निरंकुश घात के साधन बनते हैं। जापान में एटम बम के प्रयोग ने सहस्रों निरीह नर-नारियों का संहार कर दिया और वह भावी युद्धों के लिए विभीषिका का रूप धारण किये हुए है। जहाँ विज्ञान की शक्ति 'रक्षणाय' न रह कर 'परेषां परिपीडनाय' हो जाती है वहीं मनुष्य देवत्व को छोड़ कर राक्षस का रूप धारण कर लेता है। नाना प्रकार की विषैली गैसें ईजाद की जा रही हैं। जो दूरवीक्षण यन्त्र हमको आकाश के तारागणों की सैर करा कर विश्व की अनंतता का भाव अनुभूत कराते हैं वे ही घातक तोपों के सहकारी बनते हैं।

नवीन आविष्कारों ने मनुष्यों में आलस्य की मात्रा को भी बढ़ाया है और उसकी शारीरिक शक्ति को कम किया है। किन्तु यह सब विज्ञान का दुरुपयोग है। इसके लिए मनुष्य उत्तरदायी है, विज्ञान नहीं। जिस अग्नि से भोजन पकाया जाता है वही अग्नि मनुष्य के घर-बार को भस्म भी कर देती है। इसी से अग्नि की उपयोगिता कम नहीं होती। यही हाल वैज्ञानिक आविष्कारों का है।

दूसरे प्रकार के आविष्कारों में विकासवाद और विद्युत्-अणु सम्बन्धी ज्ञान मुख्य हैं। इनको वास्तव में आविष्कार न कहकर खोज (Discovery) कहना अधिक सत्य होगा। विकासवाद जैसा बतलाया

पाता है वैसा ठीक हो या न हो, परन्तु उसने ज्ञान का दृष्टिकोण बदल दिया है। सब शास्त्रों में क्रमोन्नति देखी जाने लगी है। जानवरों का जाति-विभाग विकास के सिद्धांतों पर ही अवलंबित हैं। समाज और साहित्य सब ही में विकास-वाद के नियम लगाये जाते हैं। विशेषीकरण (Specialization) के साथ एकीकरण का सिद्धांत सब कार्य-क्षेत्रों में व्याप्त हो रहा है। विकासवाद के सिद्धांत हमको भेद में अभेद दिखलाते हैं। भेद में अभेद देखने को ही श्रीमद्भगवत गीता में सात्विक ज्ञान कहा है। सारे विश्व में एक नियम और शृंखला की व्याप्ति पाई जाती है। यह केवल विकासवाद का ही फल नहीं है परन् सारे विज्ञान ने ज्ञान की एकाकारिता स्थापित करने में सहायता दी है। विद्युत्-अणुओं ने भौतिकवाद को भी बहुत धक्का पहुँचाया है। अब संसार भौतिक अणुओं से बना नहीं माना जाता, वरन् शक्ति के केन्द्रों का घात-प्रतिघात बताया जाता है। बीसवीं शताब्दी का विज्ञान हमको आध्यात्मिकता की ओर लिये जा रहा है। सर ओलीवर लाज प्रभृति की प्रेतवाद सम्बन्धी गवेषणाएँ भी इस में बहुत सहायक हो रही हैं। अणुओं के तोड़ने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसी का घातक प्रयोग एटम बम में देखा जाता है। सम्भव है कि आगे चलकर उसका प्रयोग मानव-हित के लिए औद्योगिक कार्यों में होने लगे। आइन्स्टाइन का सापेक्षवाद (relativity सम्बन्धी सिद्धांत) विज्ञान में हलचल मचा रहा है। विज्ञान के ध्रुव निश्चय चल हो रहे हैं। ये सब बातें हमको बतला रही हैं कि संसार कोई भौतिक दृढ़ पदार्थ नहीं है। सारा संसार ज्ञान और शक्ति का ही विस्तार है।

समय आवेगा जब धर्म और विज्ञान में विरोध न रहेगा। विज्ञान के संसर्ग से धर्म अपना अन्धविश्वास छोड़ देगा और कुछ अन्ध-विश्वास विज्ञान द्वारा सिद्ध भी हो जावेंगे, उसके फल-स्वरूप विज्ञान धर्म का आदर करेगा।

---

४७. नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार

नगर में रहने वाले को नागरिक कहते हैं। नगर में रहने के कारण तथा नगर की शासन-व्यवस्था से लाभ उठाने के कारण नागरिक पर कुछ उत्तरदायित्व आ जाता है। यदि मनुष्य अकेला रहे तो सिवाय पेट भर लेने के उसका कोई कर्तव्य न होगा अथवा वह अपना समय ईश-भजन या प्रकृति के निरीक्षण में व्यतीत करेगा। परन्तु समाज में रहने के साथ उसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है, क्योंकि उसका कर्तव्य केवल अपने ही प्रति न रहकर दूसरों के प्रति भी हो जाता है। जिस समाज में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उसमें शान्ति और साम्य स्थापित रखना और उसकी उन्नति करना उसका परम कर्तव्य हो जाता है।

नागरिक

नागरिकता एक प्रकार से मानवता और सभ्यता का पर्याय बन गया है। अच्छे नागरिक को अपने सभी सम्बन्धों में अच्छा मनुष्य बनना होगा क्योंकि मनुष्य के पारिवारिक, व्यापारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि सम्बन्ध सामाजिक दृढ़ता और संगठन में सहायक होते हैं। इन सब सम्बन्धों के पारस्परिक अविरोध के साथ निर्वाह में ही सच्ची नागरिकता है। लोकतन्त्र राष्ट्र की सफलता के लिए भी जनता में नागरिकता के भावों का मान आवश्यक है।

मनुष्य की उत्पत्ति समाज से हुई है। समाज से भरण, पोषण, शिक्षा, आदि प्राप्त कर वह पुष्ट हुआ है। समाज ही में उसकी आजीविका है। अतः समाज की उन्नति में बाधक होना घोर कृतघ्नता ही नहीं वरन् आत्महत्या है। समाज की उन्नति के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं। जो बातें सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं उनका साधन करना और उनके सम्पादित होने में योग देना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है।

सफाई और स्वास्थ्य

शरीर-रक्षा को शास्त्रों में पहला धर्म-साधन बतलाया है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। यदि शरीर ही नहीं तो धर्म कहाँ? मनुष्य-शरीर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना गया है। यदि वह स्वस्थ नहीं है तो सब साधन विफल हो जाते हैं। इसलिए कहा गया है 'तन्दुरुस्ती हजार निआमत'। मनुष्य को स्वयं स्वस्थ रह कर दूसरों के स्वस्थ रहने में सहायक होना चाहिए। यदि हमारे पड़ोसी स्वस्थ नहीं हैं और यदि हमारा जलवायु शुद्ध नहीं है, तो हमारे स्वास्थ्य को भी आघात पहुँचता है। हमारे बिगड़ने से समाज बिगड़ता है और समाज के बिगड़ने से हम बिगड़ते हैं। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से बिगाड़ का रोग बढ़ता रहता है और मनुष्य की हानि होती है। इसलिए मनुष्य सबसे पहले अपने आप स्वस्थ रहने का उद्योग करे।

स्वस्थ रहने के लिए अपने शरीर, अपने वस्त्र और अपने घर की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। अधिकतर रोग सफाई के अभाव से होते हैं। सफाई रखने से केवल शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता वरन् मन भी प्रसन्न रहता है, और आत्म-गौरव बढ़ता है। स्वयं अपने को स्वच्छ कर अपने मुहल्ले तथा सारे नगर को स्वच्छ और आलोकित रखने में सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। मतदातागण म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों पर जोर डालकर इस कार्य में सहायक हो सकते हैं। चुनाव के समय वे लोग व्यक्तिगत सबंध, आकर्षणों और प्रलोभनों को छोड़कर अच्छे कार्यकर्त्ताओं को ही अपना मत (Vote) दें। अस्पतालों के सुचारु-रूप से चलाने और गरीबों को यथावत् दवाई पहुँचाने में सहायक होना भी परम वांछनीय है।

शिक्षा

शिक्षा के लिए जितना लिखा जाय उतना ही थोड़ा है। शिक्षा से मनुष्य मनुष्य बनता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को देखे कि उसके बालकों, और नगर या मुहल्ले के अन्य बालक-बालिकाओं

की ठीक-ठीक शिक्षा होती है या नहीं। यदि नहीं तो किस कारण? यदि पाठशालाओं में सुधार की आवश्यकता हो तो उस सुधार के लिए यत्न करे और यदि लोगों को शिक्षा में अरुचि हो तो उनको शिक्षा के लाभ बतलाने और उनके बालकों के लिए शिक्षा सुलभ करवाने का प्रयत्न करे। शिक्षा का कार्य स्कूल और कालेज की शिक्षा में ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् वह जीवन भर चलता है। जनता को नागरिकता की शिक्षा देना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। हाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार की शिक्षा देने में किसी प्रकार का दम्भ न आने पावे। शिक्षा सेवाभाव से दी जाय।

सामाजिक संगठन और धार्मिक उदारता

सामाजिक उन्नति सहकारिता और संगठन पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं अपने सद्व्यवहार से लोगों में प्रेम का व्यवहार बढ़ावे, और दूसरों से घृणाभाव को कम करे। अपने किसी व्यवहार से वह दूसरों को अपमानित न करे, क्योंकि कोई अपमानित होकर समाज में नहीं रहना चाहता। नागरिक को चाहिए कि वह सांप्रदायिकता और मत-भेद से उठने वाले झगड़ों को कम कर समाज को अंग-भंग होने से बचावे। स्वयं दूसरों के मत का आदर कर लोगों में उदारता के भावों की उत्पत्ति करे। परस्पर उदारता और आदान-प्रदान से ही सामाजिक संगठन पुष्ट होता है।

आर्थिक उन्नति

जिस प्रकार व्यक्ति का धन हीन जीवन निरर्थक है वैसे ही समाज का भी। जो नागरिक सम्यक् आजीविका द्वारा धनोपार्जन नहीं करता वह समाज का घातक है। नागरिक को चाहिए कि स्वयं बेकार न हो और दूसरों को बेकारी से बचावे। जो बेकार हों उनके लिए बेकारी दूर करने के साधन उपस्थित करे। नगर में उद्योग-धंधों की वृद्धि में सहायता दे। जो लोग विद्या या अनुभव के अभाव से अपना व्यवसाय या व्यापार

नहीं बढ़ा सकते उनको अपनी विद्या और अनुभव से सहायता करे।

यद्यपि रक्षा और शान्ति पुलिस और मैजिस्ट्रेटों का कार्य है, तथापि उसमें नागरिकों का सहयोग आवश्यक है। रक्षा और शान्ति प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह वास्तविक अपराधियों का पता लगाने में सहायता दे और इसी प्रकार बेगुनाहों को पुलिस के अत्याचार से बचाने का उद्योग करे। न्याय में व्यक्तिगत संबंधों और प्रलोभनों को स्थान देना उचित नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह देश की रक्षा के लिए फौजी स्वयं-सेवकों अथवा सेवा-समितियों में काम करे, क्योंकि नगर की रक्षा देश की रक्षा पर आश्रित है। अच्छा नागरिक जो कुछ काम करे—चाहे मेंबरी हो, चाहे आनररी मैजिस्ट्रेटी हो और चाहे कलक्टरी हो—सब सेवाभाव से करे, केवल आत्म-गौरव बढ़ाने के लिए नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह समाज को केवल चोर डाकुओं से ही रक्षित न रक्खे, वरन् उन लोगों से भी रक्षित रक्खे जो सभ्यता के आवरण में लोगों को ठगते हैं। उसको यह भी चाहिए कि आपस के लड़ाई झगड़े के कारणों को उपस्थित न होने दे। यदि नगर में शान्ति-भंग होती है तो आपस में लड़ते तो दुर्जन हैं और हानि सज्जनों की होती है। जो व्यक्ति लड़ाई के कारण उपस्थित होते हुए देख कर उपेक्षा भाव से मौन रहता है, वह उस लड़ाई में सहायक होता है। हाँ, यह ध्यान रखना चाहिए कि विरोध के शमन के लिए भी ऐसे उपाय काम में न लाये जायँ, जिनसे विरोध बढ़े, वरन् शान्ति और प्रेम के साथ शान्ति स्थापित की जाय।

राजनीति के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी और धैर्य की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह राजनीतिक [illegible] नेता बने। जहाँ बहुत से नेता होते हैं वहाँ विनाश के साधन उपस्थित हो जाते हैं। धैर्य, दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है। सत्य का अवलंब

लेकर निर्भयता से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर मताधिकार का प्रश्न हो, जहाँ उसकी राय ली जावे, वह स्वतंत्रता-पूर्वक दे, उसमें किसी का पक्षपात न करे। धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो और न बन्धुत्व, जाति और सांप्रदायिकता का खयाल करे। मताधिकार का सदुपयोग ही लोक-तंत्र राज्य की सफलता का मूल साधन है। राजनीतिक उन्नति के लिए वह इस बात का ध्यान रक्खे कि वही राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिससे समाज में शान्ति और साम्य स्थापित रहे; सब को समान अधिकार रहें; कोई अपनी जाति या मत के कारण समाज के किसी लाभ से वंचित न रहे; सब को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास और उनके उपयोग से न्यायानुकूल लाभ उठाने के लिए समान अवसर मिलें; उचित कार्य करने में किसी की स्वतंत्रता में बाधा न आवे; सबका—चाहे वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष—मान और गौरव रहे; लोग भूखे न मरें, किसानों का भार हलका हो; बेकारों की बेकारी कम हो; संपत्ति की रक्षा हो; धर्म के शान्ति-पूर्वक आचरण में बाधा न पड़े; देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें; और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें। जिस प्रकार देश में उपर्युक्त रीति की व्यवस्था स्थापित होने की दृढ़तापूर्वक माँग करना और उस माँग की पूर्ति में सहायक होना नागरिक का कर्तव्य है उसी प्रकार राज व्यवस्था का मान करना, करों का देना और न्याय-पूर्ण शासन में राष्ट्र का सहायक बनना भी नागरिक-धर्म के अन्तर्गत समझना चाहिए।

अधिकार नागरिक अपने कर्तव्यों का पूर्णतया पालन करता हुआ अपने शरीर, सम्पत्ति एवं वैयक्तिक, पारिवारिक तथा जातीय स्वाभिमान की रक्षा, भाषण की स्वतंत्रता, हर प्रकार की व्यापारिक सुविधा, अस्पताल, पुस्तकालय आदि

सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना, नौकरियों में समानता का व्यवहार व राजकीय न्याय-विधान में अभेदभाव आदि नागरिक-अधिकारों के लिए झगड़ सकता है। अपने अधिकारों के लिए उदासीन रहना अपने प्रति अन्याय है। जो अपने को प्राप्य अधिकारों के वञ्चित रखता है वह अन्याय को प्रोत्साहन देता है और दूसरों के लिए बुरा उदाहरण उपस्थित करता है। अधिकारों के लिए जब झगड़ना हो तब वैयक्तिक लाभ की भावना से नहीं वरन् सामाजिक लाभ को अपने सामने रखना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दूसरों से मनुष्योचित व्यवहार करते हुए समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायता देना नागरिक का कर्तव्य है और अपने साथ मनुष्योचित व्यवहार की माँग उसका अधिकार है।'

---

४८. लोकतंत्र बनाम तानाशाही

मानव सभ्यता के विकास में पितृराज से आरम्भ करके शासनपद्धति ने कई रूप बदले हैं। एक प्रकार से हमारा इतिहास शासन-पद्धतियों का प्रयोग-भवन रहा है। इन पद्धतियों में राजतंत्र (Monarchy), लोकतंत्र (Democracy), अल्पतंत्र (Aristocracy), नौकरशाही (Beurocracy) और तानाशाही (Dictatorship) मुख्य हैं। वास्तव में तानाशाही का किसी भी तंत्र के साथ योग हो सकता है, क्योंकि लोकतंत्र या राजतंत्र कोई भी शासन-सत्ता किसी एक व्यक्ति को कार्य करने का पूर्ण अधिकार सौंप सकती है। तानाशाह अपना अधिकार तो प्रायः लोकमत से प्राप्त करता है परन्तु अपने कार्य करने में [illegible] स्वतन्त्र रहता है।

जनता की दृष्टि में ऊँचा उठा देता है। लोकतंत्र शासन की कई परिभाषाएँ दी गई हैं, किन्तु उनमें एब्रेहम लिङ्कन की परिभाषा सब से अधिक लोकप्रिय हुई है। वह इस प्रकार है Government of the people, by the people, for the people, by all, for all—अर्थात् जनता द्वारा, जनता के हितार्थ, जनता का शासन, सबके द्वारा सबके हित के लिए शासन। मेज़िनो की परिभाषा कुछ भिन्न है किन्तु वह वास्तविक आदर्श के अधिक निकट है; वह है The Progress of all through all under the leading of the best and the wisest श्रेष्ठतम और बुद्धिमत्तम के नेतृत्व में सब के द्वारा सब की उन्नति। वास्तव रूप में तो लोकतत्र यूनान के नगर-राज्यों (City states) में होता था क्योंकि उनके छोटे होने के कारण वह व्यावहारिक हो सकता था। वहाँ भी गुलाम लोग जो उच्चवर्ग से प्रायः दुगनी संख्या में थे, उस शासन-सत्ता से बाहर समझे जाते थे क्योंकि उनका व्यक्तित्व उनके मालिकों के व्यक्तित्व में सम्मिलित रहता था। बौद्ध-कालीन भारत में छोटे छोटे राज्यों की परिषदों में प्रायः लोकतन्त्र प्रणाली से ही काम होता था और वह यूनानी नगर राज्यों से मिलती-जुलती थी। भगवान बुद्ध से यह पूछे जाने पर कि वृजि राज्य पर आक्रमण किये जाने में सफलता होगी या नहीं, उन्होंने नीचे के शब्दों में अच्छे राज्य का आदर्श बतलाया था और वह लोकतंत्र राज्य ही का था—'हे ब्राह्मण! जब तक वृजि जाति में एकता है, जब तक वे मिल कर कार्य करते रहेंगे, जब तक वे सदाचार और संस्थाओं का आदर करते रहेंगे, जब तक लोग अपना कार्य सार्वजनिक सभाओं में विचार कर करते रहेंगे, जब तक वे लोग गुरुजनों की सेवा में रत रहेंगे, कुल-स्त्रियों तथा कुल-कुमारियों का समुचित आदर करते रहेंगे, तब तक उस जाति के अधःपतन की सम्भावना नहीं है। इसमें राजनीति के साथ धर्मनीति भी शामिल है।

सब से अधिक रज़ामन्दी रहती है और यही अच्छे शासन का व्यापक गुण है।

लोकतन्त्र राज्य में शासन जनता के प्रति उत्तरदायी रहता है। जनता सीधे तौर से नहीं किन्तु थोड़े हेर-फेर के साथ शासन का नियंत्रण करती है। जनता के हित-साधन में सजग रह कर ही उसके प्रतिनिधि अपने पुनर्निर्वाचन की आशा कर सकते हैं। जनता में से चुने जाने के कारण उसके प्रतिनिधि उसके सुख-दुःख की बात जानते हैं। उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'जाके पाँय न फटी बिवाई सो का जाने पीर पराई'। लोक-तन्त्र राज्य में कोई अपने को नीचा नहीं समझता। सब के ही स्वाभिमान की रक्षा होती है और कम से कम मताधिकार प्राप्त करने के समय उनको अपने प्रतिनिधियों या उनके एजेण्टों से मिलने का अवसर मिलता है और उस समय उनके मन में भी अपने अस्तित्व का भान होकर आत्म-भाव में वृद्धि होती हुई प्रतीत होती है। यह जनता के मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत ही आवश्यक है।

लोकतन्त्र राज्य जनता में राष्ट्रीय और देश-प्रेम की भावना को स्वाभाविक रीति से जागरित करता है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि अन्य प्रकार के शासनों में देश-प्रेम नहीं होता किन्तु इस में देश-प्रेम के लिए अधिक उत्तेजना मिलती है। शासित वर्ग में मन्थरा की मनोवृत्ति नहीं रहती कि 'कोउ नृप होइ हमें का हानी, चेरी छाड़ि न होउब रानी'। इसमें किसी वर्ग विशेष का प्रभुत्व नहीं रहता। यदि बहुसंख्यक समुदाय का प्रभुत्व होता है तो भी सकारण होता है। फिर बहुसंख्यक वर्ग के जो प्रतिनिधि अल्पसंख्यक वर्गों को अपने साथ कर लेते हैं उनको सफलता के लिए अधिक गुंजाइश रहती है। इसमें सब के जन्मसिद्ध अधिकार समान होते हैं। कम से कम, सिद्धांत रूप से, देवताओं की सभा की भाँति लोकतन्त्र राज्य में किसी की छुटाई बड़ाई का प्रश्न नहीं होता। इसमें क्रान्ति का भी विशेष भय नहीं रहता। इस

प्रकार की शासन-प्रणाली में शक्ति के साथ उत्तरदायित्व का समन्वय रहता है जो कि उसको दानवी होने से बचाये रखता है।

लोकतन्त्र शासन का नैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी पक्ष बहुत प्रबल है। उसमें सब से बड़ी बात यह है कि जिनका धन व्यय होता है उनकी आवाज़ भी सुनी जाती है। जो वंशी बजाने वाले को धन देता है वह उसकी धुन के सम्बन्ध में भी आदेश दे सकता है 'He who pays the piper must command the tune' यह लोकोक्ति लोकतंत्र राज्यों में बहुत अंश में चरितार्थ हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को शासनसत्ता का अंग होने का गौरव मिलता है और उसे शासन की नीति और गति-विधि के सम्बन्ध में ज्ञान भी होता रहता है। मत-प्रदान के समय प्रत्येक नागरिक को उत्तरदायित्व की पूर्ति की शिक्षा के साथ नागरिकता-सम्बन्धी चरित्र-निर्माण का सुअवसर भी मिलता है।

लोकतन्त्र शासन के जहाँ गुण हैं वहाँ दोष भी हैं। उसमें मतों की गिनती होती है तोल नहीं होता। उसमें संख्या का महत्त्व है, गुण का नहीं। चन्दन और बबूल एक बराबर हैं। घन्नू कुँजड़े का वोट उतना ही मूल्य रखता है, जितना कि राहुल सांकृत्यायन, डा० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय या श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का*। इन लोगों की वैयक्तिक योग्यता का कुछ मूल्य नहीं रहता। लोकमत प्रायः प्रगति-विरोधी होता है। चेचक के टीकों के सम्बन्ध में लोकमत कितना विरुद्ध था! रेलगाड़ी के प्रचार में विलायत की जनता बाधक सिद्ध हुई थी। लोकमत के आधार पर हिन्दुस्तान में सती प्रथा और बाल विवाह को हटाने के लिए अनेकों वर्ष लग जाते।

लोकतन्त्र शासन में व्यक्ति की गौरव-वृद्धि होती है, किन्तु उसका दुरुपयोग भी खूब हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को शासक समझने लगता है। [illegible] की जगत में सब ठाकुर ही ठाकुर होते

* [illegible] विचार परिषद् की विशिष्ट समिति के सदस्य।

हैं। जनता शासकों और अधिकारियों पर अनुचित दबाव डालने लगती है। मत का क्रय-विक्रय भी होने लगता है और योग्यता की अपेक्षा धन का मूल्य बढ़ जाता है। जब क्रय-विक्रय की नौबत आती है तब खरीदने को बबूल ही मिलता है। योग्यतम की अपेक्षा विपुल प्रभावशाली या अधिक धनवान व्यवस्थापक सभाओं में पहुँच जाते हैं। यद्यपि किन्हीं-किन्हीं शासनों में विशेषज्ञों के मानसिक तथा आर्थिक भार से जनता दब जाती है, और वे मूल रोग से भी अधिक आपत्तिजनक सिद्ध होते हैं, तथापि कहीं-कहीं लोकतन्त्र में अयोग्य लोगों के हाथ में शासन की बागडोर आ जाने से विशेषज्ञों की बड़ी छीछालेदर भी होती है और उसके फलस्वरूप नये प्रयोगों में भारी हानि उठानी पड़ती है। विचार-विनिमय शासन के लिए बड़ी आवश्यक वस्तु है, किन्तु उसके लिए समय की अपेक्षा रहती है। दो मुल्लाओं में मुर्गी हराम होती है, किन्तु जहाँ बहुत से मुल्ले हों वहाँ का अल्ला ही बेली होता है। Too many cooks spoil the broth अर्थात् रसोइयों का बाहुल्य रसोई को खराब कर देता है, यह बात प्रायः तो नहीं किन्तु कभी कभी अवश्य लोक-शासन में चरितार्थ हो जाती है। 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना'। व्यवस्थापक सभा के प्रत्येक सभासद बुद्धि-कौशल और वाक्पटुता का प्रदर्शन करने की धुन में वृथा समय नष्ट करते हैं। व्यक्ति की दीर्घसूत्रता की अपेक्षा समाज या सभा की दीर्घसूत्रता कार्य-संपादन में अधिक बाधा डालती है। बहुमत कभी-कभी भेड़िया-धसान में पड़ कर अधिक वाचाल से प्रभावित हो जाता है। इसलिए क्रिया का भार थोड़े ही आदमियों को सौंपा जाता है और लोकतन्त्र अल्पतन्त्र (Aristocracy) का रूप धारण कर लेता है। व्यवहार में तो लोकतन्त्र-राज्यों में भी शासन-सूत्र एक ही आदमी के हाथ में आ जाता है। शक्ति और प्रतिभा का चमत्कार निष्फल नहीं होता।

लोकतंत्र की उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही संसार में नाना-

शाही का जन्म हुआ है। प्राचीन रोम में भी एकाधिकारी तानाशाह नियुक्त होते थे। बहुत से तानाशाह लोक-मत से शासन-सूत्र ग्रहण करते हैं और बहुत से अपने आतङ्क के कारण लोक-मत को हाथ में ले लेते हैं। तानाशाही राज्य एक प्रकार से राजतंत्र ही होता है। उस में नौकरशाही की सी यान्त्रिक हृदय हीनता भी नहीं होती और तानाशाह अवसर पर लोक-प्रिय राजा की भाँति नियमों के जाल से ऊपर भी उठ सकता है। राजतंत्र की भाँति तानाशाही वंशानुगत नहीं होती। इसलिए वह दीपज्योति के कज्जल-उत्पन्न योग्य पिता की अयोग्य सन्तान के कलुष से बची रहती है। तानाशाह प्रायः कीचड़ के कमल की भाँति दीन-हीन परिस्थिति से उत्पन्न होकर अपने अदम्य उत्साह, लौह दृढ़ता, कष्ट सहिष्णुता और पौरुष के बल पर ऊँचा उठकर 'वीरभोग्या वसुंधरा' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं। फिर भी चलती का नाम गाड़ी है। लोक-मत भी [illegible] हो जाता है। वर्तमान युग के तानाशाहों में कमाल पाशा, हिटलर, मुसोलिनी और स्टैलिन प्रमुख हैं, किन्तु ये सब एक से नहीं हैं। इनके व्यक्तित्व का अलग-अलग स्तर है, किन्तु सभी दीन-हीन परिस्थितियों से ऊँचे उठे हैं।

पार्टियों का अस्तित्व मिटा-सा दिया जाता है। यद्यपि तानाशाही के लिए यह ज़रूरी नहीं कि उसकी वैदेशिक नीति क्रूर हो तथापि व्यवहार में ऐसा ही हुआ है। इस मामले में स्टैलिन की तानाशाही अधिक संयत है। राष्ट्र का वैभव बढ़ाना तानाशाह का मूल ध्येय रहता है और सदाशय भी होता है, किन्तु वह जिन साधनों को काम में लाता है वे सर्वथा नीति सम्मत नहीं होते। तानाशाह राष्ट्र के धरातल से ऊँचा उठकर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर नहीं जाता। वह नैतिक बल की अपेक्षा भौतिक बल को ही महत्त्व देता है। वही उसका कवच है, वही उसका इष्ट और उपास्य है। मुसोलिनी और हिटलर के पतन ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनता की तानाशाही के प्रति सदा एक सी श्रद्धा नहीं रहती।

न्याय और नीति की दृष्टि से लोक-तंत्र शासन सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। इसमें व्यक्ति और जनता का मान रहता है, सब को समान अवसर मिलने की सम्भावना रहती है। लोकतंत्र शासन में दोष अवश्य हैं किन्तु जुओं के भय से कथरी नहीं छोड़ी जाती, भूसी को फटक कर गेहुओं का संग्रह करना चाहिए। व्यवहार की दृष्टि से तानाशाही अधिक लोक-प्रिय है। वह चाहे तो राम-राज्य स्थापित कर सकती है, किन्तु राज्य और अधिकार का त्याग करने वाले और लोकमत को प्रतिष्ठा देने वाले राम संसार में देश के भाग्य से ही उत्पन्न होते हैं।

---

४६. इतिहास, उसकी सीमाएँ, उसके अध्ययन का उद्देश्य और महत्त्व

मनुष्यों की नैसर्गिक वृत्तियों में आत्मरक्षा सब से प्राचीन और प्रबल है। सारी एषणाएँ—पुत्र एषणा, दार एषणा, लोक एषणा, वित्त एषणा, प्रभुत्व कामना आदि इसी एक वृत्ति के अन्तर्गत हैं।

विश्व का ज्ञान-भण्डार इतिहास के विभिन्न रूपों का समुदाय माना जा सकता है। किन्तु आज कल श्रम-विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialisation) के कारण इतिहास के इन विभिन्न रूपों को अलग अलग नाम दे दिये गये हैं और अपने अपने विषय का स्वराज्य दे दिया गया है। जैसे—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि ग्रहों उपग्रहों का इतिहास ज्योतिष अथवा खगोल विद्या के सुपुर्द कर दिया गया है। पृथ्वी का इतिहास भूगर्भ विद्या का विषय बन गया है। वह पृथ्वी की तहों और पर्तों का अध्ययन कर उसकी आयु निश्चित करता है। मनुष्य नाम की जानवरों की उपजाति का इतिहास प्राणिशास्त्र के अन्तर्गत विकासवाद का विषय बन गया है। भाषा के इतिहास को हम भाषा-विज्ञान कहने लगे हैं। समाज का इतिहास समाजशास्त्रियों की चिन्ता का विषय है। फिर इतिहास का उचित क्षेत्र क्या है? किसी जाति के राजनीतिक विकास या ह्रास के क्रमिक लेखन को इतिहास कहते हैं।

उद्देश्य

इतिहास में केवल तिथियों का ही एकत्रित करना नहीं होता (उर्दू शब्द तवारीख इसी का द्योतक है। तवारीख तारीख की जमा अर्थात् बहुवचन है) वरन् विभिन्न घटनाओं में कार्य-कारण शृंखला को भी देखना है और शायद इससे भी कुछ अधिक; वह यह कि संघर्षों, अत्याचारों, उत्थान, पतन, उन्नति और ह्रास के चक्रों से मानव जाति के कौन से हेतु या लक्ष्य की पूर्ति होती है। यह इतिहास की मीमांसा या दर्शन का विषय कहा जा सकता है। किन्तु इतिहास का अध्ययन इससे अछूता नहीं रह सकता। राजनीतिक उन्नति भी सामाजिक, औद्योगिक, बौद्धिक, नैतिक उन्नति से स्वतन्त्र नहीं रह सकती। इतना ही नहीं, राष्ट्रों के उत्थान, पतन और विस्तार की कार्य-कारण-शृंखला के अध्ययन में वातावरण और अन्नजल की भौतिक परिस्थितियों को भी विचारना आवश्यक होता है, क्योंकि बहुत से उपनिवेशों का निर्माण

भौतिक परिस्थितियों के कारण ही हुआ है और बहुत से युद्ध भी औद्योगिक और आर्थिक कारणों पर ही निर्भर रहते हैं। इस प्रकार जो विषय दूसरे विज्ञानों को सौंप दिये गये थे, वे सब इतिहास के घेरे में आ जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि अन्य विज्ञान उन विषयों का विशेष रूप से कुछ-कुछ निरपेक्ष भाव से अध्ययन करते हैं और इतिहास उनका देश की उन्नति या ह्रास के अङ्ग-स्वरूप अध्ययन करता है। इतिहास में राजनीतिक दृष्टिकोण मुख्य रहता है। इसीलिए उसका राजनीति से विशेष सम्बन्ध है।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

इतिहास का राजनीति से ही सम्बन्ध नहीं है वरन् अन्य शास्त्रों से भी है। स्कूलों में प्रायः इतिहास के साथ भूगोल का गठबंधन रहता है। इसका कारण है, ऐतिहासिक घटनाएँ भौगोलिक सीमाओं को बदलती रहती हैं। इतिहास का सम्बन्ध काल-क्रम से है तो भूगोल का सम्बन्ध देश के विस्तार से है। इस प्रकार इतिहास और भूगोल मिल कर देश और काल (Space and Time) के अध्ययन की पूर्ति करते हैं।

इतिहास का सम्बन्ध साहित्य से भी है। राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य के निर्माण में साधक या बाधक ही नहीं होतीं, वरन् उसकी गतिविधि भी निश्चित करती हैं। किसी साहित्य का इतिहास राजनीतिक इतिहास की जानकारी के बिना लिखा नहीं जा सकता। भूषण का औरङ्गजेब के समय में होना आकस्मिक घटना नहीं थी, तत्कालीन परिस्थितियों ने भूषण का निर्माण किया। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से जो राजनीतिक धारा चली है, वह भी राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिफलन है*। वह हम को नये काव्यों और नाटकों के लिए सामग्री देता है। उसके अध्ययन से

---

*इस सम्बन्ध में "साहित्य समाज का दर्पण है" शीर्षक लेख पढ़ना हितकर होगा।

जातीय मनोविज्ञान में सहायता मिलती है। इतिहास अर्थशास्त्र को भी मूल्यवान सामग्री प्रदान करता है। इतिहास का पुरातत्त्व-विद्या (Archeology) से भी चोलीदामन का साथ है। दोनों ही एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। महेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई इतिहास पर नया प्रकाश डालेगी और इतिहास का अध्ययन प्रत्येक खुदाई के मूल्याङ्कन में सहायक होता है।

महत्त्व

इतिहास का इतने शास्त्रों से सम्बन्ध उसकी उपादेयता का ज्वलन्त प्रमाण है। किन्तु इतिहास के महत्त्व की इतिश्री इतने में ही नहीं हो जाती। वह भूत को वर्तमान में घसीट लाकर हमारे अनुभव का विस्तार ही नहीं करता वरन् हमको उन गर्तों में गिरने से बचाता है, जिन में कि हमारे पूर्वज गिर चुके हैं। वह गये वक्त को लौटा लाकर हमारे प्राचीन वैभव का चित्र हमारे सामने उपस्थित कर देता है। उससे हमारे आत्म-भाव की तृप्ति ही नहीं होती वरन् हम को कार्यशील होने के लिए प्रोत्साहन भी मिलता है। भूत को भविष्य की सारिणी मानकर हम अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं। इतिहास-प्रेम देश-प्रेम की आवश्यक सीढ़ी है। आत्मपरिचय द्वारा ही अपनत्व बढ़ता है।

आक्षेपों का निराकरण

इतिहास की उपादेयता के विरुद्ध दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं। एक यह कि जो नश्वर है उसकी रक्षा से क्या लाभ? दूसरा यह कि जहाँ गौरव-वृद्धि होती है वहाँ गौरव का ह्रास भी होता है। कभी-कभी इतिहास के पढ़ने से हीनता-भाव की भी वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि इतिहास के गड़े मुर्दों को उखाड़ कर अर्थात् पुराने लड़ाई-झगड़ों की कटु स्मृतियों को जगाकर वर्तमान की सम्भावनाओं और राष्ट्रीय एकता के विचारों में क्यों बाधा डालें? यह राष्ट्रीयता और मनुष्यत्व के विरुद्ध है। इन आक्षेपों में पहला तो निर्मूल है। यदि सब कुछ नश्वर है तो हमारा कोई कार्य ही अर्थ नहीं

रखता। स्वास्थ्यरक्षा के सभी साधन निष्प्रयोजन होते हैं। संसार यदि स्वप्न भी है तो उस स्वप्न के भीतर भी तो तारतम्य है। इतिहास में केवल उन्हीं चीजों का महत्त्व नहीं है जो हमारे गौरव को बढ़ाती हैं वरन् वे बातें भी (यदि वे सच्ची हैं) जो हमारे आत्म-भाव को गिराती हैं, अपना मूल्य रखती हैं। प्रत्येक हीनता-भाव, यदि उसका सदुपयोग किया जाय, उच्चता के लिए सोपान का काम दे सकता है। हमारी भूत की असफलता भविष्य की सफलता का कारण बन सकती है। हम उन गढ़ों और खाइयों से बच सकते हैं जिन में हमारे पूर्वज गिरे थे और जो हमें निगल जाने के लिए अब भी मुँह खोले हुए हैं। रही गड़े मुर्दे उखाड़ने की बात; वैर और द्वेष उस मनुष्य के लिए कोई अर्थ नहीं रखता जो प्रत्येक घटना में किसी व्यापक ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति देखता है। विदेशी आक्रमणों से जहाँ हानि पहुँची है वहाँ ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल के प्रसार में सहायता और प्रेरणा भी मिली है। सच्चे इतिहास से बहुत सी गलत फहमियाँ भी दूर हो सकती हैं। सद्-व्यवहार से कल के वैरी भी आज के मित्र बन सकते हैं। दीरघ दाघ निदाघ से कहलाते हुए अहि मयूर मृग बाघ अपने स्वाभाविक वैर को छोड़ सकते हैं; फिर हम तो इन्सान हैं। अभक्ति, महामारी, गरीबी, और दासता दीरघ दाघ निदाघ से कम नहीं हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

इतिहास में यद्यपि निष्पक्षता लाना कठिन है फिर भी उदार और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता है। यह हम मानते हैं कि इतिहास जातीय दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं। विजेता लोग अपने आत्म-भाव की तृप्ति के लिए विजित जातियों के इतिहास को गिरा कर लिखते हैं, किन्तु यदि विजित जातियाँ अपना इतिहास लिखें तो शायद वे भी दूसरे प्रकार की गलती कर सकती हैं। 'आर्य लोग भारतवर्ष में बाहर से आये' इस सिद्धांत के प्रचार से विदेशी शासकों को अपना शासन कायम रखने के लिए अवश्य कुछ नैतिक

आधार मिल जाता है, किन्तु केवल इस कारण ही यह धारणा गलत नहीं सिद्ध की जा सकती। इसके लिए स्वतन्त्र और अकाट्य प्रमाणों की खोज की आवश्यकता है। ऐसे मामलों में हमें वैज्ञानिक बुद्धि से काम लेना चाहिए, पक्ष और विपक्ष दोनों ही ओर की उक्तियों को तर्क की तुला में तोलना चाहिए। पक्ष की उक्तियों के ग्रहण करने के लिए जैसे सजग मनोवृत्ति की आवश्यकता है वैसे ही विपक्ष की उक्तियों के लिए भी मुक्तद्वार रहना अभीष्ट होगा। इतिहास में भेड़िया-धसान में पड़ना या फैशन के भूत के वशीभूत होना आत्महत्या करना होगा। इतिहासज्ञ के लिए केवल मानसिक आलस्यवश किसी प्रच-लित वाद को स्वीकार कर लेना बुद्धि का दिवालियापन है। इतिहास-वेत्ता की वैज्ञानिक की सी परीक्षा बुद्धि होनी चाहिए।

कुछ लोग जातीयता के नशे में अंग्रेज़ों की सब धारणाओं पर हड़ताल फेरने को तैयार हो जाते हैं और इसी प्रकार कुछ लोग विदेशी विद्वानों से निष्पक्षता का प्रमाण प्राप्त करने के लिए बिना सोचे समझे जातीय भावनाओं के विरुद्ध फतवा देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। यह दोनों ही मनोवृत्तियाँ दूषित हैं।

इतिहास निर्माण

हम को इस बात की आवश्यकता है कि निष्पक्षता के साथ हम इतिहास-निर्माण का काम अपने हाथ में लें। हमको इस बात से हतोत्साह न होना चाहिए कि हमारे पूर्वजों ने इतिहास नहीं लिखा। हमारे धमग्रन्थ, रामायण, महाभारत और पुराण काव्यमय इतिहास हैं। इनमें से काव्य का कर्दम (काव्य-प्रेमी क्षमा करें. वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से काव्यांश कर्दम ही है) दूर करना होगा। हमारे शिला लेख, दानपत्र, पट्टे, परवाने, प्राचीन भग्नावशेष आदि सामने गवाही देने को तैयार हैं। एक एक ईंट इतिहास की पोथी बन सकती है। परिश्रम और अध्यवसाय की आवश्यकता है। सत्य का अमृत-घट ऐतिहासिक सामग्री के मन्थन से ही निकलेगा। इसके लिए हम विदेशियों से भी

सहयोग कर सकते हैं, उनके परिश्रम से लाभ उठा सकते हैं; अन्धानुकरण की भावना से नहीं वरन् एक सजग निष्पक्ष परीक्षक की दृष्टि से। तभी ज्ञान के आलोक का प्रसार होगा और भ्रान्त धारणाएँ मिटेंगी।

---

५०. ग्राम-सुधार

'गाँवों और ग्रामीणों की सेवा का कार्य
परम पिता परमात्मा का कार्य है।'

—महामना मालवीय जी

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। इस देश के प्रायः पचहत्तर प्रतिशत निवासियों का जीवन खेती पर अवलंबित है। ये लोग तो गाँवों में रहते ही हैं: इनके अतिरिक्त इनके दैनिक जीवन में सहायता देने वाले बढ़ई, लोहार, चमार आदि मजदूरी पेशा लोग तथा इन पर शासन करने वाले ज़िमीदार और कुछ बनिये-ब्राह्मण भी इन्हीं गाँवों की जन-संख्या को बढ़ाते हैं। गाँव शहरों से प्राचीनतर हैं। कृषि कार्य-निपुण आर्यों के प्रथम उपनिवेश ग्राम ही बने होंगे। कृषि की प्राण-स्वरूप वर्षा से सम्बन्ध रखने के कारण ही इन्द्रदेव सुरराज कहलाये होंगे ग्रामों से ही भारतीय सभ्यता का उदय हुआ है। भारत-माता के गौरव गान में जो 'शस्य-श्यामला' तथा 'देश-विदेशे बितारिछ अन्न' कह जाता है, वह ग्रामों की ही बदौलत है। ग्राम-निवासी ही हमा अन्नदाता हैं।

झोंपड़ियों में रहकर महलों के स्वप्न देखने वाली बात चा हास्यास्पद समझी जाय, परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि अलकापुरी स्पर्धा करने वाले मणि-माणिक्य-मंडित महलों की महिमा और गरि झोंपड़ियों की ही आधार शिला पर स्थित है। ग्राम ही सच्चे दे मन्दिर हैं, क्योंकि कविसम्राट् रवि बाबू के शब्दों में हम कह सकते कि "यदि तुझे ईश्वर के दर्शन करने हैं तो वहाँ चल, जहाँ किसा जेठ की दुपहरी में हल जोत कर चोटी का पसीना एड़ी तक बहा रहा है

ग्रामों का गौरव महिमा के चाहे जितने गीत गाये जायँ, ग्रामवासी हमारे पालक पोषक होने के नाते चाहे विष्णु-पद पर ही क्यों न प्रतिष्ठित कर दिये जाँय, किन्तु उनकी दशा ऐसी नहीं जिसकी कि कोई भी स्पर्धा करने की इच्छा रक्खे। ग्रामवासी दरिद्रता-दानव के चंगुल में पड़ कर अस्थिपंजरावशेष होते जा रहे हैं। वे सदा अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा शलभ-शुक-मूषकादि ईतियों के भय से पनपने नहीं पाते। इन शास्त्र-प्रसिद्ध ईतियों के अतिरिक्त बनिया, ज़िमींदार, हाकिम, अफ़सरों के दौरे आदि और भी बहुत सी ईतियाँ उनकी जान का बवाल बनी रहती हैं। गाँव कीचड़ और गन्दगी के केन्द्र बने रहते हैं और उसके फलस्वरूप उनके निवासी रोग और मृत्यु के शिकार होते हैं।

बेचारा किसान आपादमस्तक ऋण-मग्न रहने के कारण अपने घर के घी-दूध का भी पूरा लाभ नहीं उठा पाता। गोचरभूमि की न्यूनता के कारण बेचारा अधिक जानवर नहीं रख सकता और जो दो एक रखता भी है, पैसे की चाह में उनका सारा दूध साइकिलों पर लद कर शहरों में पहुँच जाता है। भोला किसान चाहे जिस कागज पर अँगूठा लगा देता है। सोते जागते दिन दूने रात-चौगुने बढ़ने वाले ब्याज से पुष्ट होकर ऋण उसकी संपत्ति का शोषण कर लेता है। बीज के लिए अन्न घर में न रहने से बीज उधार लेना पड़ता है। वह अपने अज्ञान के कारण सहकारी-समितियों और तकावी का भी पूरा लाभ नहीं उठाने पाता। यदि महाजन से बचता है तो छोटे-छोटे पदाधिकारियों के लालच का शिकार बनता है। भेड़ जहाँ जाती है वहीं मुँडती है। दूसरों का अन्नदाता स्वयं भूखों मरता है, इससे बढ़कर और क्या विधि की विडम्बना हो सकती है! अन्न की तेजी के कारण किसानों की आर्थिक दशा अवश्य सुधरी है और जमींदारों का भी शासन और अत्याचार उठने वाला है किन्तु अभी उनकी शिक्षा-दीक्षा में विशेष उन्नति नहीं हुई है।

ग्रामों का ऋण स्वीकार करते हुए सरकार तथा लोक-सेवी देशभक्तों का ध्यान ग्रामों की दशा सुधारने की ओर गया है। कृषि-संबंधी शाही कमीशन तथा कृषि-विभाग इस बात के द्योतक हैं कि सरकार ने कृषकों की दशा सुधारना अपना कर्तव्य समझा है। प्राचीन काल में भी राजा जनक आदि प्रजा-हितैषी शासक स्वयं हल लेकर खेत में जाते थे। ये उपाख्यान किसान और राजा के घनिष्ट सम्बन्ध के परिचायक हैं।

प्रत्येक प्रांत में किसी न किसी रूप में ग्रामोत्थान का कार्य सरकार की ओर से और कहीं-कहीं जनता के उद्योग से जारी है। पंजाब में गुड़गाँवाँ के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर ब्रेन का नाम कृतज्ञता से लिया जाता है। उन्होंने सन् १९२० से २८ तक सरकार की सारी शक्तियों को केन्द्रस्थ कर ग्राम-सुधार का कार्य-क्रम जारी रक्खा। उन्होंने अपने समय में छः फुट गहरे चालीस हज़ार खाद के गढ़े खुदवाये। जिलों में कम्युनिटी कौंसिलें और सूबे में कम्युनिटी बोर्ड कायम हुए। ग्राम-सुधार शिक्षा-केन्द्र भी स्थापित हुए। संयुक्त-प्रांत में ग्रामोत्थान-समितियाँ हैं। इनके द्वारा बहुत कुछ लाभदायक प्रकाशन का कार्य हुआ है। मेजिक लालटेनों, सिनेमा और रेडियो द्वारा स्वास्थ्यप्रद जीवन तथा देश के उद्योग-धन्धों और कृषि-संबंधी उन्नति के साधनों पर प्रकाश डाला जाता है।

ग्रामोत्थान कार्य में जनता और सरकार दोनों के ही सहयोग की आवश्यकता है। ग्रामोत्थान कार्य, चाहे सरकार द्वारा हो और चाहे निजी उद्योग से हो, तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) सफाई और स्वास्थ्य—यद्यपि धनाभाव के कारण गाँव में शहर की सी सफाई नहीं रक्खी जा सकती तथापि उद्योग से बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है। घरों के पास के गढ़े मिट्टी से भरे जा सकते हैं। तालाबों और पोखरों पर मिट्टी का तेल डालकर मच्छरों का पैदा होना या बढ़ना बंद करने में विशेष कठिनाई न होगी। मैले के दबाने के लिए खाइयाँ खुदवाई जा सकती हैं। गोबर और कूड़ा भी गढ़ों

में दबाया जा सकता है। संयुक्त प्रांत की गोरखपुर कमिश्नरी में छः महीने में ७६७ गढ़े भरवाये गये; २००० से ऊपर खाद के गढ़े खुदवाये गये, ६००० से अधिक घूरे साफ किये गये। गाँव की सफाई के लिए ऐसे कार्य बड़े उपयोगी हैं। कुओं का पानी पोटाशियम पर-मेंगनेट यानी लाल दवा से शुद्ध कराया जा सकता है। मकान अधिक हवादार बनाये जा सकते हैं। ऐसे बहुत से काम हैं, जिनके करने से थोड़े पैसे में बहुत कुछ लाभ होने की संभावना रहती है। गाँव के लोगों को चेचक और कालरा के टीकों के लिए तैयार कराना, मले-रिया के दिनों में कुनीन बाँटना आदि ऐसे काम हैं जिनमें जनता सरकार का हाथ बँटा सकती है। यथा-संभव प्रत्येक तीन या चार गाँवों के वर्ग के लिए एक छोटा अस्पताल खुलवाना चाहिए और आवश्यक दवाइयाँ तो प्रत्येक गाँव के जिमींदार या पटवारी के पास रक्खी जानी वांछनीय हैं। गाँव की दाइयों को प्रसूति-काम की शिक्षा दिलाना एक आवश्यक कार्य है। गाँव वालों को शरीर और कपड़ों की सफाई के संबंध में मैजिक-लैण्टर्न वा साधारण व्याख्यानों द्वारा शिक्षा देना बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा।

(२) आर्थिक—यह समस्या बहुत बड़ी है। परन्तु सदुद्योग के आगे कोई कठिनाई नहीं रह जाती। कृषि-सुधार के लिए उत्तम-भूमि, उत्तम खाद, उत्तम बीज और सिंचाई का सुभीता आवश्यक उपकरण हैं। इन बातों में कुछ का सरकार से प्रबन्ध कराकर और कुछ के लिए अच्छी सलाह देकर किसानों को कृषि-कार्य में द्विगुणित उत्साह के साथ प्रवृत्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लोक-सेवी का यह भी कर्तव्य है कि वह किसान को अपनी उपज बाजार में अच्छे भाव से बेचने में सहायता दे।

पशुधन की उन्नति के लिए सरकार को गोचर भूमियों का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अच्छी नसल के साँडों का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। जहाँ तक हो पशु-धन बाहर न जाने दिया

जाय। पशुओं को बीमारियों से सुरक्षित रख कर उनको मरने से बचाया जाय। ग्राम-वासियों को बतलाया जाय कि पशु-सेवा एक धर्म है।

यद्यपि किसान लोग बड़े मेहनती होते हैं, तथापि वे सारा वर्ष कृषि-कार्य में नहीं लगे रहते। किसान को साल में छः महीने फुरसत रहती है। रस्सी बटना, डलिया बनाना, शहद पैदा करना, रुई ओटना, चरखा कातना, कपड़ा बुनना, लाख पैदा करना, गुड़ बनाना, साबुन बनाना, ईंटें पाथना, इत्यादि कामों को करके किसान अपनी फुरसत के समय का सदुपयोग कर सकता है।

कर्ज की समस्या सहयोग-समितियों द्वारा बहुत कुछ हल की जा सकती है। किंतु सहयोग-समितियों से लाभ उठाना सहज कार्य नहीं। उसके लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है। सहयोग-समितियों में भी बहुत कुछ कागजी घोड़ों का काम रहता है। भेंट पूजा भी चलती है। सुधारकों का काम है कि वे किसान को इनसे पूरा-पूरा लाभ उठाने में सहायता दें और यदि किसान का हिसाब बनिये से हो तो वे देखें कि बनिया किसान को लूटता तो नहीं है।

ग्रामीणों का बहुत-सा धन मुकदमेबाजी में भी व्यर्थ नष्ट होता है। अब सरकार की ओर से पंचायत राज्य की आयोजना बन गई है और उनका विधान भी बन गया है। इस के लिए ग्राम-पंचायतों को खुलवाना तथा उनको सफल बनाने का उद्योग करना ग्राम-सुधार का आवश्यक अंग है।

(२) शिक्षा संबंधी—शिक्षा का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। ग्रामीण लोगों को उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं; परन्तु उनके लिए प्रारंभिक शिक्षा का होना विशेष लाभदायक होगा। ऐसे स्कूल खोले जाने चाहिए जिनमें कि बच्चों को दिन में तथा प्रौढ़ों को रात में शिक्षा दी जाय। प्रौढ़ों की शिक्षा का समय ऐसा रहे कि उनके दैनिक कार्य में बाधा न पड़े। गाँवों में पुस्तकालयों और वाचनालयों

के खुलवाने से भी जनता की जानकारी बढ़ सकती है।

ग्रामीण लोगों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह रहता है कि यदि वे अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त कराएँ तो उनकी मज़दूरी और खेती-बाड़ी में हानि न हो। वर्धा की शिक्षा संबंधी योजना में इस ओर ध्यान दिया गया है। खेती के साथ उनको कुछ ऐसे उपयोगी धंधे सिखाये जायें जिनसे वे अपने अवकाश के समय में कुछ धन-उपार्जन कर सकें। संक्षेप में ग्रामीणों की शिक्षा में विदग्धता की अपेक्षा उपयोगिता का अधिक ध्यान रखना चाहिए।

५१. सह-शिक्षा

इस बीसवीं शताब्दी में विरले ही ऐसे लोग होंगे जो स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता में विश्वास न रखते हों। हमारी गृह-लक्ष्मियाँ हमारी अन्नपूर्णा ही नहीं वरन् सहचारिणी और सहधर्मिणी भी हैं। अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षिता स्त्रियों के साथ रह कर वैवाहिक जीवन का सामाजिक आनन्द कठिनाई से ही प्राप्त हो सकता है। स्त्रियाँ चाहे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करें या न करें फिर भी उनको सुयोग्य सहधर्मिणी बनाने के लिए उच्च-शिक्षा की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि वह शिक्षा किस प्रकार दी जाय? बालकों के साथ-साथ अथवा पृथक रूप से। शिक्षा घर पर भी दी जा सकती है; किन्तु वह बहुत व्यय-साध्य होगी। एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न विषयों के लिए भिन्न-भिन्न अध्यापक नहीं रख सकता और एक ही अध्यापक विभिन्न विषयों को एक सी सफलता के साथ पढ़ा भी नहीं सकता। जीवन में जिन सामाजिक गुणों की आवश्यकता है और जिनके बिना मनुष्य अनुदार, दम्भी, स्वजाति से घृणा करने वाला और कभी रोग एवं उन्माद ग्रस्त हो जाता है, उन गुणों का विकास

वर की शिक्षा में मुश्किल से ही हो पाता है। लड़कों की भाँति लड़कियों की शिक्षा भी घर के बाहर होनी चाहिए।

लड़कियों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए तो अलग स्कूल हैं, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा से लाभ उठाने वाली बालिकाओं की संख्या पर्याप्त है और उन पर जो व्यय किया जाता है उसका पूरा-पूरा बदला मिल जाता है। उच्च शिक्षा-प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या थोड़ी होती है। उनके लिए अलग योग्य से योग्य अध्यापक रखना बहुत व्यय-साध्य है। भविष्य में तो चाहे सम्भव हो किन्तु समाज की वर्तमान स्थिति में सुयोग्य, अध्यापिकाएँ मिलना भी कठिन है। यह कोई नहीं चाहेगा कि अपनी बालिकाओं को उच्च शिक्षा देकर भी योग्यतम अध्यापकों के विशेष ज्ञान से वञ्चित रक्खा जाय। यदि हमको अध्यापिकाएँ भी तैयार करना है तो उनको हमें योग्यतम अध्यापकों के सम्पर्क में रखना होगा। यह सम्भव है कि प्रत्येक प्रान्त में स्त्रियों के एक या दो उत्तम कालेज स्थापित किए जाएँ, किन्तु साधारण गृहस्थ अपनी बालिकाओं को बोर्डिङ्ग हाउस में रखने का आर्थिक भार नहीं सह सकते।

इन आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयों के अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि हम चाहते हैं कि स्त्रियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करके आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें तो हमको उन्हें सह-शिक्षा द्वारा पुरुषों के सम्पर्क में आने और उनसे स्पर्धा करने के लिए तैयार करना चाहिए। जो स्त्रियाँ स्त्रियों के समाज से बाहर नहीं जातीं वे पुरुषों के साथ व्यवहार में हिचकिचाती हैं। हमारे समाज के बदलते हुए आदर्शों में पुरुषों के साथ व्यवहार की योग्यता स्त्रियों का एक आवश्यक गुण बनता जा रहा है। जो स्त्रियाँ पुरुषों के सम्पर्क में आती हैं वे पुरुषों के आक्रमणों और अत्याचारों से अपनी रक्षा उन स्त्रियों की अपेक्षा, जो कभी पुरुष-समाज में नहीं आतीं, अधिक सफलता के साथ कर सकती हैं। आजकल भीरुता स्त्रियों का गुण

नहीं समझा जाता। इन्हीं कठिनाइयों और आवश्यकताओं के कारण सह-शिक्षा आवश्यक सी हो जाती है।

हिन्दू समाज ही क्या भारतीय समाज उन्नति की उस अवस्था में नहीं है जिसमें सह-शिक्षा एक स्वाभाविक बात सी प्रतीत हो। हमारे ऊपर मध्यकाल के पर्दे के संस्कार अभी तक बने हुए हैं। हम प्राचीन और नवीन सभ्यता की संघर्ष-रेखा में खड़े हुए हैं। हम नवीन सस्कारों के कारण बालिकाओं की उच्च शिक्षा को आवश्यक भी समझते हैं और उसी के साथ पुराने संस्कारों के कारण पीछे भी हटते हैं। ऐसी अवस्था में सह-शिक्षा का विरोध स्वाभाविक ही है और उसमें थोड़ा बहुत तथ्य भी है।

सह-शिक्षा के विरोध में सबसे पहला आक्षेप तो यह है कि यह एक नयी चीज है। प्रचीन काल में ब्रह्मचारी लोग स्त्रियों के सम्पर्क से पृथक रक्खे जाते थे। हम बिलकुल निश्चय पूर्वक यह तो नहीं कह सकते कि गुरुकुलों में बालकों के साथ बालिकाएँ भी पढ़ती थीं किन्तु इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते हैं कि शिक्षा-लाभ के लिए और विशेषकर उच्च ब्रह्म-विद्या की शिक्षा के अर्थ स्त्रियाँ भी बालकों के साथ ऋषियों का शिष्यत्व धारण करती थीं, इसका एक प्रमाण हमको भवभूति के उत्तररामचरित में मिलता है। यदि उस समय सह-शिक्षा का प्रचार न होता तो महाकवि भवभूति तपस्विनी आत्रेयी के मुख से यह न कहलाते कि वाल्मीकि जी के आश्रम में लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनके साथ उनका पाठ नहीं चल सकता। आत्रेयी से यह पूछे जाने पर कि वे वाल्मीकि का आश्रम छोड़ कर अगस्त्य आदि मुनियों से ब्रह्म विद्या सीखने क्यों आई, वे कहती हैं:—

उनकी (लव और कुश की) बुद्धि बड़ी तीव्र और धारणा-शक्ति अत्यन्त ही प्रबल है। उनके साथ भला हमारा किस प्रकार निर्वाह हो सकता है। क्योंकि:—

वितरत गुरु इक सम करत, बुध मूरख को ज्ञान '

करत न, हरत न कछुक तिन, बोध शक्ति परिमान ॥
किन्तु समय परिणाम के, अन्तर बिपुल लखात ।
रहत मूढ़ के मूढ़ इक, अन्य चतुर बनि जात ॥
जिमि दिनेस सम भाव सों, नभ में करत प्रकास ।
पूरन प्रति थल पर परत, तासु किरन आभास ॥
मनि-मंजुल समरथ सदा, बिम्ब ग्रहन के माँहि ।
पै माटी के ढेल कहुँ, द्युतिमय दीसत नाँहि ॥

उत्तररामचरित से यह भी पता चलता है कि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश ही नहीं रहते थे वरन् और भी ऊधमी और शैतान बालक रहते थे जिन्होंने कि जनक आदि के आने पर उन्हें दढ़ियाल कहा था ।

दूसरा आक्षेप जो किया जाता है वह यह कि स्त्रियों और पुरुषों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं । उनकी शिक्षा भी अलग-अलग प्रकार की होनी चाहिए । साधारण शिक्षा तो बालक और बालिकाओं की एक सी होगी । साहित्य और विज्ञान तो वही होगा । किन्तु स्त्रियों को ललित-कलाओं की अधिक आवश्यकता है और पुरुषों को उपयोगी कलाओं की । आजकल बालकों को भी ललित-कलाओं की शिक्षा थोड़े बहुत अंश में देनी ही पड़ती है । बालिकाएँ उनमें विशेषता प्राप्त कर सकती हैं । बालकों को भी उनकी भिन्न भिन्न रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन करना पड़ता है । फिर यदि दो-एक विषय बालिकाओं की खातिर बढ़ा दिये जायँ तो वे साधारण विषयों की शिक्षा का भी पूरा पूरा लाभ उठा सकेंगी ।

सह-शिक्षा के विरोध में जो सब से बड़ा आक्षेप है वह नैतिक और आचार सम्बन्धी है । लोगों का कहना है कि बालक और बालिकाओं के साथ पढ़ने से उनके नैतिक पतन की सम्भावना रहती है । आग और पानी को साथ नहीं रखना चाहिए । यह बात लज्जा के साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि हमारे विद्यार्थी-समाज में अभी

वे उच्च नैतिक आदर्श नहीं आये हैं जिनके कारण बालिकाएँ उनसे सम्मान-पूर्वक मिल सकें; किन्तु इस दोष का अतिरञ्जन भी बहुत होता है। बालक और बालिकाएँ जितना एक दूसरे से दूर रहते हैं, एक दूसरे के लिए अचम्भे और आकर्षण की वस्तु बनते हैं। साथ रहने से वे एक दूसरे का आदर करना सीख जाते हैं। अच्छे स्वस्थ वातावरण में बालक-बालिकाएँ निरापद रूप से एक साथ पढ़ सकते हैं। आमोद-प्रमोद के लिए उनके पृथक प्रबन्ध हो सकते हैं। उनके बैठने-उठने के सम्मिलित वक्ष (Common Room) अलग हो सकते हैं। वाद-विवाद-प्रतियोगिता में बालक-बालिकाएं सम्मिलित रूप से भाग ले सकते हैं।

हमारे समाज की वर्तमान स्थिति में सह-शिक्षा में कठिनाई अवश्य है, क्योंकि सब प्रेम-सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्ध में परिणत नहीं हो सकते; किन्तु जैसे जैसे वर्ण-व्यवस्था के बन्धन शिथिल होते जायंगे वैसे-वैसे यह कठिनाई दूर होती जायगी।

सह-शिक्षा की उपयोगिता में सन्देह नहीं, वह आर्थिक दृष्टि से भी अधिक सुविधाजनक है। हमारा सामाजिक वातावरण किसी अंश में उसके अनुकूल नहीं है। उसके लिए प्रचार और शिक्षा द्वारा हमको उसमें अनुकूलता लानी होगी। समाज की बलिवेदी पर स्त्रियों के बहुत से हितों का बलिदान हो चुका है। अब उनके शिक्षा-सम्बन्धी हितों का बलिदान करना उनके साथ अन्याय होगा। विद्यार्थियों का इसमें उत्तरदायित्व है कि वे अपने सिर से इस लाञ्छन को दूर करें कि उनके कारण बालिकाएँ उच्च शिक्षा से वञ्चित रहती हैं। भावी समाज में जिस तरह से स्त्रियों को पुरुषों के साथ व्यवहार करने की योग्यता प्राप्त करना वाञ्छनीय होगा उसी प्रकार पुरुषों को भी स्त्रियों के साथ सद्व्यवहार सीखने की आवश्यकता है। थोड़े से आत्मसंयम और शिष्ट व्यवहार से सह-शिक्षा निरापद बनाई जा सकती है। इससे पुरुष और स्त्री समाज दोनों का ही गौरव बढ़ेगा।

५२. हिन्दू-समाज में स्त्रियों का स्थान

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

× × ×

मानवता है मूर्तिमती तू
भव्य-भाव-भूषण-भण्डार
दया क्षमा ममता की आकर
विश्व-प्रेम की है आधार
तेरी करुण साधना का माँ,
है मातृत्व स्वयं उपहार ॥

विश्व का भरण-पोषण करने के कारण परमात्मा विश्म्भर के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी भरण-पोषण करने के हेतु गृहस्थ आश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठता दी गई है; 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही'। यह भरण-पोषण का भार यद्यपि स्त्री और पुरुषों दोनों पर ही है तथापि उसका अधिकतम भार गृहलक्ष्मियों पर ही है। प्राचीन काल में स्त्रियाँ केवल संतान की जन्मदात्री और अन्नपूर्णा के रूप में ही प्रतिष्ठित न थीं वरन् वे सामाजिक कार्यों में सहयोगिनी और सहधर्मिणी भी थीं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने संन्यास लेने की इच्छा से जब निजी सम्पत्ति अपनी दोनों स्त्रियों में (मैत्रेयी और कात्यायनी में) बाँटनी चाही तब मैत्रेयी ने कहा कि धन से अमृतत्व नहीं मिल सकता "अमृतत्वस्य नाशोस्ति वित्तेन"। उसने उनके आध्यात्मिक धन में भाग लेना चाहा, और खूब तर्क-वितर्क के साथ ब्रह्मज्ञान का उपदेश ग्रहण किया। कोई धर्म और यज्ञ पत्नी के बिना पूरा नहीं होता था। सती सीता के वनवास के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी ने जो यज्ञ किया उसमें सह-धर्मिणी रूप से उनकी स्वर्णमयी प्रतिमा की स्थापना

की थी। उत्तररामचरित नाटक से यह भी पता चलता है कि उस समय सहशिक्षा का भी प्रचार था। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश की अलौकिक प्रतिभा के कारण जब आश्रम में देवी आत्रेयी का सहपाठ न चल सका था तब वे अगस्त जी के यहाँ वेदान्त पढ़ने गई थीं; 'तिन सों मैं वेदान्त पढ़ने को प्रन धरि मन में, वाल्मीकि ढिग सों सिधाय विचरति या वन में।'

प्राचीन काल में स्त्रियाँ विद्या-अध्ययन में ही पुरुषों के साथ योग नहीं देती थीं वरन् रण-क्षेत्र में भी उनके साथ रहती थीं कैकेयी ने वे दो वर, जिनके आधार पर राजा दशरथ ने अपने आज्ञाकारी पुत्र रामचन्द्र को वनवास दे दिया था, युद्ध-क्षेत्र में ही प्राप्त किये थे। भवानी दुर्गा ने यह प्रण करके कि 'जो मुझे युद्ध में जीतेगा वही मेरा भर्ता होगा' अनेकों राक्षसों को परास्त किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में स्त्रियों की दशा काफी अच्छी थी। वे चाहे स्वेच्छा से अपने स्वातन्त्र्य का बलिदान कर देती थीं किन्तु उन में व्यक्तित्व था। वे विवाहों में भी स्ववश होती थीं। ऐसी अवस्था में बाल-विवाह की प्रथा सम्भव न थी। स्त्रियाँ अपने प्रेम और आत्म-बलिदान की भावना से ही पुरुषों का दासत्व स्वीकार करती थीं। वे अपने पतियों को उपदेश भी दे सकती थीं। किरातार्जुनीय से ज्ञात होता है कि पाण्डवों को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए द्रौपदी ने ही उत्तेजना दी थी। काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कान्ता के उपदेश को काव्य के उपदेश का उपमान बनाया है। मदालसा का "शुद्धोसि बुद्धोसि निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि" से प्रारम्भ होने वाला पुत्र के प्रति उपदेश वेदान्त शास्त्र की उच्चतम शिक्षा का द्योतक है।

प्राचीन काल में स्त्रियों की जो सामाजिक दशा थी समय के हेर-फेर से वह क्रमशः गिरती गई। स्त्रियों ने गृहलक्ष्मी होने का जो भार अपने ऊपर सेवा-भाव से लिया उसके कारण घर से बाहर के कार्यों

में उनका बहिष्कार होने लगा और धीरे-धीरे वे अबला और आश्रिता बन गईं। जिस धर्म को उन्होंने प्रेम-वश अपने ऊपर धारण किया था वह पुरुषों की स्वार्थ-परायणता के कारण उनके ऊपर लादा जाने लगा। स्त्रियाँ सहधर्मिणी के स्थान में दासी और उपभोग की वस्तु बन गईं। पुरुष की ईर्षा ने उनको अपने घर की चहारदीवारी में बन्दिनी बना दिया, विशेषकर उस समय जब वे स्वयं बलहीन होकर उनके गौरव की रक्षा करने में असमर्थ हो गये। लज्जा स्त्रियों का भूषण है किन्तु जब ईंट-चूने की दीवालों से उसकी साधना होने लगी तब वह अभिशाप बन गई। स्त्रियों को उनके बन्धन में प्रसन्न रखने के लिए उसको प्रतिष्ठा का चिह्न बना दिया गया।

पुरुषों को स्त्रियों का प्रेम वर-स्वरूप प्राप्त था, उसको पुरुषों ने अपना अधिकार समझा; केवल जीवन में ही नहीं वरन् मरणोपरान्त भी। स्त्री का मातृत्व उसके गौरव का विषय था। इसी गौरव के कारण और जाति की शुद्धता अक्षुण्ण रखने की भावना से उसके ऊपर पुरुष की अपेक्षा सदाचार का उत्तरदायित्व कुछ अधिक मात्रा में लादा गया। उसने उसे सहर्ष स्वीकार भी किया, किन्तु क्रमशः उससे सारा अधिकार छिन गया। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी स्त्री को किसी अवस्था में स्वतन्त्रता का अधिकारी नहीं बतलाया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

स्त्री का धर्म वास्तव में तपोधर्म बन गया—'याज्ञपरः पुरुषधर्मः, तपः-प्रधाननार्य्यः'। हम उन महर्षियों को अधिक दोषी नहीं ठहराते। शायद उस समय परिस्थिति ऐसी हो गई हो; किन्तु केवल स्त्री होने के कारण स्वातन्त्र्य के अधिकार से उन्हें वञ्चित कर देना उनके साथ अन्याय है। तथापि यह मानना पड़ेगा कि स्मृतिकारों ने उनको बड़े आदर और पूजा-भाव से रखने का आदेश दिया है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' मनु महाराज ने एक दूसरे को सन्तुष्ट

रखने का उपदेश पति और पत्नी दोनों को समान रूप से दिया है।

पुरुषों की स्वार्थपरायणता का प्रभाव केवल धर्म में ही नहीं परिलक्षित होता वरन् साहित्य में भी इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। वाल्मीकीय रामायण में वियोग की विह्वलता राम और सीता में एक सी दिखाई गई है किन्तु पीछे के साहित्य में स्त्रियों में उसका आधिक्य हो गया। यह उनके हृदय की सहज कोमलता के कारण भी हो सकता है। तप और संन्यास की भावना से प्रेरित होकर कवियों ने स्त्रियों को नरक का द्वार तक कह डाला। शायद स्त्रियाँ लिखतीं तो पुरुष को ऐसा ही कहतीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ 'सहज अपावनि नारि' कहा है वहाँ नारी-द्रोह के कारण नहीं वरन् अपनी संन्यास-भावना के वश होकर। तुलसीदास जी ने नारी जाति को चाहे जो कुछ कहा हो लेकिन सीता, कौशल्या आदि देवियों के बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। रीति-काल में नारी केवल विलास की सामग्री बन गई। पुरुषों ने स्त्रियों की हीनता का राग इतना अलापा कि उस आदमी की भाँति जिस से कि चार ठगों ने बकरी को कुत्ता कह कर बकरी छीन ली थी, स्त्रियाँ स्वयं भी अपने को दीन-हीन समझने और पैर की जूती तक कहने में संकोच को छोड़ बैठीं। कुछ लोग तो अब भी उनके भोलेपन से लाभ उठाकर उनको गिरी हुई अवस्था में ही रखना चाहते हैं और कुछ लोग उनके उत्थान में सहायक होने लगे हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों के प्रति जो अन्याय हुआ है या हो रहा है उसके कई रूप हैं। उनमें से मुख्य ये हैं:—

१—पर्दा—यह पुरुषों-द्वारा स्त्रियों की गौरव-रक्षा में असमर्थता तथा उनके ईर्षा-भाव और संयम के अभाव का प्रमाण-पत्र है। पुरुष जितने ही बलहीन होते गये, वे दूसरों की दासता स्वीकार करते गये और अपनी हीनता-ग्रंथि (Inferiority Complex) को ढीला करने के लिए बेचारी स्त्रियों को दबाने लगे। सौभाग्य से अब यह प्रथा उठती जाती है।

२—अनमेल विवाह—जब स्त्रियाँ स्वयंवरा न रहीं तब कन्याओं से छुटकारा पाने के लिए उनको अयोग्य वरों के हाथ सौंप देने की प्रथा चल पड़ी। कुलीनता के भूत ने इस कार्य में और भी उत्तेजना दी। यह बुराई भी दूर होती जा रही है।

३—कन्या पक्ष का नीचा समझा जाना और इस कारण कन्या के जन्म को अभिशाप समझना—कन्या का पिता केवल विनय और शील के कारण आये हुए अतिथियों के आगे नीचा बनता था। उस शील ने पीछे से वास्तविकता का रूप धारण कर लिया। दहेज, जो प्रेम और आदर का चिह्न था, कर्ज की भाँति प्राप्य धन बन गया। इसी कारण कन्या-जन्म शोक का विषय समझा जाने लगा। अब यह भावना भी दूर होती जाती है।

४—उच्च शिक्षा का अभाव—हमारे समाज में उच्चशिक्षा नौकरी का साधन मात्र मानी जाने लगी थी और इसीलिए वह पुरुषों के विशेष अधिकार की वस्तु बन गई। शिक्षा आजीविका उपार्जन का ही साधन नहीं वरन् जीवन को सार्थक बनाने के लिए भी आवश्यक है। पुरुषों के योग्य जीवन-संगिनी बनने तथा उनके जीवन को सरस एवं सार्थक बनाने के लिए स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना वाञ्छनीय है। भारतीय समाज इस सम्बन्ध में भी सजग होता जा रहा है।

५—बहुविवाह—'पुन्नाम्नः नरकात् त्रायते इति पुत्रः' पुत् नाम के नरक से छुड़ाने वाला होने के कारण पुत्र 'पुत्र' कहलाता है। नरक के भय ने तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकारी प्राप्त करने की इच्छा ने बहुविवाह की प्रथा को जन्म दिया। यह प्रथा प्रायः कलह का कारण होती है। कुलीन वर प्राप्त करने का मोह भी इसके लिए उत्तरदायी है। शिक्षा के साथ यह प्रथा भी कम होती जा रही है।

६—विधवाओं की हीन दशा—स्त्री के लिए वैधव्य सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। हिन्दू-समाज ने उस दुर्भाग्य की चेतना को सजग कर दे

के बहुत से साधन उपस्थित कर दिये हैं। विधवाएँ यदि अविवाहित रहती हैं तो उनके लिए सादे जीवन की व्यवस्था निन्द्य नहीं कही जा सकती; किन्तु उनको विवाहादि शुभ कार्यों में शामिल न होने देना उनके प्रति अन्याय है। उनके पुनर्विवाह पर सामाजिक रोक-थाम करना अनुचित है। विधुर-विवाह की भाँति आपत्-धर्म के रूप में उसे स्वीकार करना न्याय ही होगा।

७—शारीरिक सम्बन्ध की प्रधानता—नारी को रमणी के रूप में अधिक देखा गया, सहचरी के रूप में कम। माता, भगिनी आदि रूपों का साहित्य में भी कम वर्णन आया है। स्त्री को स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं दिया गया, जड़ पदार्थों की भाँति उसे भी उपभोग की वस्तु समझा गया है।

८—उत्तराधिकार से वञ्चित होना—यह विवादास्पद विषय है। विवाहित पुत्रियाँ तो दूसरे घर की हो जाती हैं किन्तु अविवाहित और विधवा कन्याओं को उत्तराधिकार का कुछ भाग मिलना न्याय होगा—यद्यपि इस सम्बन्ध में वैधानिक रूप से कन्याओं की स्थिति खराब है तथापि व्यवहार में उससे अपेक्षाकृत अच्छी है। कन्याओं को विवाह और अन्य अवसरों पर पिता की सम्पत्ति का थोड़ा-बहुत अंश मिलता ही रहता है। हिन्दू कोड बिल भारतीय स्त्री समाज की उत्तराधिकार सम्बन्धी हीनताओं तथा अन्य विषमताओं को दूर करने के लिए विधान-परिषद् में उपस्थित किया जा रहा है किन्तु लोकमत इसके बहुत पक्ष में नहीं है। उसमें कुछ बातें, जैसे बहुविवाह निषेध, अच्छी हैं किन्तु सब बातों में पश्चिम का अनुकरण श्रेयस्कर नहीं है।

यद्यपि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की स्थिति वैसी नहीं जैसी कि चाहिए तथापि उनकी हीन-स्थिति के सम्बन्ध में अतिरञ्जना भी अधिक हुई है। स्त्री अधिकांश घरों में गृह की स्वामिनी है। उसका बच्चों पर ही नहीं वरन् पति पर भी यथोचित अधिकार रहता है। प्रायः हिन्दू-सद्गृहिणियाँ स्वयं मितव्ययता के पक्ष में रहती हैं;

५३. क्या युद्ध अनिवार्य है ?

मनुष्य विकसित जीव कहा जाता है। उसने अपना चोला बदल दिया है और केवल जीव विज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि में वह बन्दरों का वंशज वा सगोत्री माना जाता है। विद्या-बुद्धि में उसने आश्चर्यजनक उन्नति की है। भौतिक बल में वह पशु समुदाय से पिछड़ा हुआ है किन्तु उसकी कमी उसने अपने बुद्धि बल से पूरी कर ली है। वह घोड़े के समान दौड़ नहीं सकता, किन्तु उसकी बनाई रेलगाड़ी ने तेजी और बोझा ढोने की शक्ति में घोड़ों को कहीं पीछे छोड़ दिया है। मनुष्य के पर नहीं हैं, किन्तु उसके बनाए हुए वायुयानों ने आकाश-मार्ग में जल और थल से भी अधिक वेगवती गति प्राप्त कर ली है। उसके बेतार के संवाद 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं' से सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर लेते हैं। मनुष्य में बाघ और चीते का बल नहीं है, किन्तु उसकी एक गोली भयङ्कर से भयङ्कर शेर को भी चारों खाने चित सुला देती है।

मनुष्य ने नैतिक उन्नति भी पर्याप्त रूप में की है। उसने विज्ञान के सहारे जीवन के उपकरणों को सुलभ बनाकर संघर्ष को बहुत कम कर दिया है। जीवन-संग्राम (Struggle for existence) और योग्यता की अवस्थिति (Survival of the fittest) विकास के मूल कारण माने गये हैं। फिर भी मनुष्य ने इस जीवन-संग्राम की घातकता को बहुत अंशों में दूर कर दिया है। अब जीवन-संग्राम व्यापार में ही अधिकांश रूप से संकुचित हो गया है। इस संघर्ष की कमी में ही मनुष्य की मनुष्यता है और उसका परम गौरव है। उन्नति के स्थायी साधन ही मनुष्य को पशु-समाज से ऊँचा उठाए हुए हैं। इतनी उन्नति होते हुए भी मनुष्य की स्वार्थ-परायणता उसको पशु-समाज से भी नीचा गिरा देती है। जब उसके भीतर का पशु जाग

उठता है तो उसके बुद्धि-बल विशिष्ट पंजों और दाँतों की संहार-शक्ति सीमा से बाहर हो जाती है।

मनुष्य की सामाजिक उन्नति ने व्यक्ति के संघर्ष को बहुत कम कर दिया है। व्यक्ति का बदला व्यक्ति नहीं लेने पाता वरन् समाज लेता है। इस प्रकार आजकल पुराने जमाने की सी खूनी वैर की परम्परा बहुत काल तक नहीं चलने पाती। समाज की सामूहिक शक्ति पारस्परिक विरोध को बहुत अंश में नियंत्रित रखती है। किन्तु जहाँ जन-समूहों और जातियों में संघर्ष होता है वहाँ किसी विश्व-व्यापिनी शक्ति के अभाव में स्वार्थ का न्याय-निर्णय युद्ध के न्यायालय में ही होता है। उस समय अस्त्र शस्त्र-संचालन बल ही न्याय का माप दंड बन जाता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति चरितार्थ होने लगती है। संहार-काय व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो दण्डनीय समझा जाता है, किन्तु जब वह किसी राष्ट्र के अधान संगठित रूप से होता है, वीरत्व, देशभक्ति और सभ्यता के भव्य नामों से पुकारा जाने लगता है। उस समय लूट-खसोट, धोखेबाजो और हत्या सभी क्षम्य हो जाती हैं (Every thing is fair in love and war) अब सभ्यता में इतनी उन्नति अवश्य हुई है कि कोई केवल साम्राज्य-वृद्धि के नाम पर युद्ध नहीं छेड़ता। अब युद्ध सभ्यता और संस्कृति के प्रसार, न्याय और शान्ति की स्थापना आदि जैसे प्रदर्शनीय, भव्य और विशाल उद्देश्यों से किये जाते हैं, किन्तु उनके भीतर अपने व्यापार की उन्नति और अपनी जाति के लोगों की सुख-समृद्धि का अधखुला उद्देश्य सन्निहित रहता है। कभी कभी आक्रमणकारी से रक्षा के लिए भी युद्ध छेड़ना पड़ता है। युद्ध की सब से बड़ी समस्या यही है कि एक शक्तिशाली आक्रमणकारी की स्वार्थान्धता सारे संसार को युद्ध के वात्याचक्र में डाल देती है। जर्मनी और जापान की राज्य-लिप्सा ने समस्त राष्ट्रों में एक बवंडर उपस्थित कर दिया था। उस समय आक्रान्त राष्ट्रों के लिए दो ही रास्ते थे; या तो आक्रमणकारी की

अधीनता स्वीकार कर अपना सर्वस्व नाश करते अथवा प्रत्याक्रमण और मोर्चेबन्दी में जन-संहार को आश्रय देते। आत्मरक्षा के लिए प्रायः दूसरों का ही अवलम्बन करना पड़ता है।

मानव जाति में युद्ध का रोग बहुत पुराना है और हर एक युद्ध युद्ध का अन्त करने के लिए ही होता है, किन्तु उसमें भावी युद्ध के बीज सुरक्षित बने रहते हैं, जो कि समय पाकर अङ्कुरित हो उठते हैं। यह कहना कठिन है कि मनुष्य स्वभाव से ही युद्ध-प्रिय है। मनुष्य का हृदय वज्र से भी कठोर है और कुसुम से भी कोमल है। कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में वीर अर्जुन की कातर पुकार कि 'रुधिर-प्रदग्ध राज्यभोग से भिक्षावृत्ति अच्छी है' मानव हृदय की कोमलता की द्योतक है और भगवान कृष्ण का 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का उपदेश कर्त्तव्य की कठोरता का परिचायक है। इतना जन-संहार होने पर भी पाण्डव लोग विजयश्री का बहुत दिन तक उपभोग न कर सके। फिर भी वह अन्तिम युद्ध न था। उसके बाद कितने ही युद्ध हुए और सब से बुरे वे युद्ध थे जो गृह-कलह से प्रेरित होकर आपस की मारकाट में परिणत हुए और जिनका वर्णन वीर-गाथा के श्रवण-सुखद नाम से पुकारा गया। गत महायुद्ध की विभीषिका से संसार ने आँख खोली ही थी वर्तमान महायुद्ध का दानव आ खड़ा हुआ। अभी यह युद्ध पूरी तरह समाप्त न हुआ था कि तीसरे महायुद्ध की आशंका होने लगी। मनुष्य का वैज्ञानिक बल जितना बढ़ा है युद्ध उतना ही अधिक संहारक होगया है। कल के बल से वर्षों का कार्य घण्टों में समाप्त हो जाता है। युद्ध की प्रचण्ड ज्वाला में दोनों ओर से धन-जन का स्वाहा होता है। देश का सारा उत्पादन-कार्य जन-संहार के अर्थ किया जाता है। युद्ध की विभीषिका के कारण कोई सुख की नींद नहीं सोने पाता और युद्ध के बाद अकाल और महँगी जनता की जान चूस लेती हैं।

जिन देशों में युद्ध का ताण्डव नृत्य हो रहा था उनके हाहाकार और करुणा-क्रन्दन से विश्व गूँज रहा था। कोई ऐसा घर न होगा

जहाँ अपने प्रिय-जनों के लिए शोक न हो। शोक मनाने की भी किसी को फुर्सत नहीं थी। श्री सियाराम शरण जी ने अपने 'उन्मुक्त' नाम के खण्डकाव्य में एक काल्पनिक युद्ध का वर्णन करते हुए वर्तमान युद्ध के भीषण संहार का एक बड़ा हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। देखिए—

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ सौ यानों से।
सुना सभी ने बधिर हुए जाते कानों से॥
उनका,—क्या मैं कहूँ—घोष-दुर्घोष भयङ्कर।
प्रेतों का सा अट्टहास, शत शत प्रलयङ्कर॥
उल्काओं का पतन, वज्रपातों का तर्जन।
नीरव जिनके निकट—हुआ ऐसा कटु गर्जन॥
कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्द्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधना फल वह नर का,
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय,
गिरकर अपनी ध्वस्त चिताओं में थे जलते,
कहीं उजलते, कहीं सुलगते, धुआँ उगलते॥

इन रोमाञ्चकारी दृश्यों के अस्तित्व में भी युद्ध की शृङ्खला अटूट बनी हुई देखकर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह ध्वंस अनिवार्य है? क्या युद्ध जन-समाज की अदम्य आवश्यकता है? कोई भी इस ध्वंस के पक्ष में नहीं हो सकता किन्तु करना सभी को पड़ता है। जिन राष्ट्रों के पक्ष में नीति और न्याय होता है, जो केवल आत्म-रक्षा के लिए ही युद्ध में शामिल होते हैं उनको भी नीति और न्याय की रक्षा के लिए जन संहार का आश्रय लेना पड़ता है। नीति और न्याय की अन्तिम विजय अवश्य होती है किन्तु उसके लिए जितना बलिदान और जन संहार होता है, क्या वह अनिवार्य है? क्या विश्व-शान्ति का कोई उपाय है?

युद्ध रोकने के लिए जितने उपाय सोचे गये वे सब निष्फल

हुए। राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई, किन्तु उसका अधिकार किसी ने न माना। उसके अस्तित्व में आते ही उसके शासन से बाहर भागने का उद्योग हुआ। निःशस्त्रीकरण एक सुख-स्वप्न ही रहा। इन बातों को देख कर कुछ लोग तो यह कहने लग जाते हैं कि युद्ध जीव-विज्ञान की एक आवश्यकता है। (War is a biological necessity) वे कहते हैं कि जीवन के उपकरणों के उत्पादन की अपेक्षा जन-संख्या की वृद्धि कहीं अधिक हो रही है। यदि जीवन के उपकरण १, २, ३, के अनुपात में बढ़ते हैं तो जन-संख्या २, ४, ८, १६, के अनुपात में दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती है। इसलिए जन-संहार द्वारा जन-संख्या जीवन के उपकरणों के अनुपात में बनी रहती है। इसीलिए प्रकृति बीमारियाँ उत्पन्न करती है। किन्तु अब बढ़ते हुए विज्ञान ने माल्थस (Malthus) की इस कल्पना का खोखलापन प्रमाणित कर दिया है। विज्ञान की सहायता से जीवन के उपकरण भी उसी परिमाण में बढ़ाये जा सकते हैं। यह मानना तो ठीक न होगा कि युद्ध जीव-विज्ञान की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य का नैतिक विकास उसके बौद्धिक विकास के अनुपात में नहीं हुआ। साहित्य भी नीति की उपेक्षा करता है। साहित्य ने राष्ट्रीयता का प्रचार किया है, अन्तर्राष्ट्रीयता का नहीं। अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नेशनलिज्म (Nationalism) आदि पुस्तकों में अवश्य लिखा गया है किन्तु यह उद्योग समुद्र में बूँद के बराबर है। जो नीति वैयक्तिक सम्बन्ध में बरती जाती है, वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में नहीं बरती जाती। शक्ति के कम करने की आवश्यकता नहीं वरन् उसके संतुलन की आवश्यकता है। संतुलन स्थापित करने के लिए बल प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा, किन्तु उसका आधार नीति और न्याय होना चाहिए। विजय के लिए पूरा प्रयत्न किया जाय किन्तु विजय प्राप्त होने पर दबे को इतना न दबाया जाय कि उसमें प्रतिहिंसा उत्पन्न हो। विजित के साथ उदारता का व्यवहार

किया जाय तभी विश्व में शांति का स्वप्न देखा जा सकता है। जिन बन्धनों से विजित को बाँधा जाय उनका स्वयं न तिरस्कार किया जाय। दानव की शक्ति का होना बुरा नहीं किन्तु उसका दानवी प्रयोग न होना चाहिए। संहार की अपेक्षा रक्षा का अधिक महत्त्व है। मनुष्य में प्रभुत्व की भावना अवश्य है किन्तु आत्म-रक्षा की भावना उससे कम प्रबल नहीं है। संहार भी रक्षा के लिए होता है। रक्षा के कारण विष्णु भगवान को देवताओं में सर्वोच्च स्थान मिला है। क्षत या हानि से जो परित्राण करे वही सच्चा क्षत्रिय है। राष्ट्रों में सच्चे क्षत्रिय की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। इसके लिए सत्-शिक्षा और सत्-प्रचार की आवश्यकता है। हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्रीयता वहीं तक क्षम्य है जहाँ तक कि अपने राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के बराबर लाने का प्रयत्न हो। अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए उन्नत राष्ट्रों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रों को अपने बराबर लाने में सहायक हों। दूसरों की कमजोरी दूर करना शक्तिशाली राष्ट्रों का धर्म है। कमजोर जब तक कमजोर रहेंगे तब तक वे दूसरों की राज्य-लिप्सा के केन्द्र बने रहेंगे और जब तक यह लिप्सा रहेगी तब तक विश्व शांति एक सुख-स्वप्न ही रहेगी।

मनुष्य को अपने मनुष्य होने का गौरव होना चाहिए। मनुष्यता इस बात में नहीं कि हमने अपना या अपनों का कितना भला किया वरन् इसमें कि हमने दूसरों को कितना उठाया। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है:—

> आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।
> तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिअ सोइ॥

दूसरों को उठाने से हम स्वयं भी उठेंगे और हमारा नैतिक मान बढ़ेगा। आजकल शक्ति की उपासना वैभवों की उपासना समझी जाती है। उसका नैतिक मूल्य नहीं होता। नीति की उपासना स्वातन्त्र्य की

उपासना है। राष्ट्रों में भय की प्रीति न होकर प्रीति का भय होना चाहिए। संहार और भौतिक बल का संघर्ष तो जानवरों में होता है, मनुष्य जानवरों से इसीलिए ऊंचा है कि वह बिना संहार के भी विज्ञान के सहारे उन्नति करता है। मनुष्य को अपना यह गौरव अक्षुण्ण रखना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उसी न्याय और नीति का व्यवहार होने लगे जिसका वैयक्तिक संबंधों में होता है तो युद्ध अनिवार्य नहीं है। यदि न्याय की स्थापना के लिए संहार का आश्रय न लेकर पारस्परिक समझौते से काम लिया जाय तो मनुष्य जाति का गौरव स्थापित होगा। विज्ञान के चमत्कारों को यदि मानव-हित सम्पादन के काम में लाया जायगा तो विज्ञान का नाम सार्थक होगा और मनुष्य अपने बुद्धि-बल पर वास्तविक गर्व कर सकेगा।

———

५४. गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

—श्री सुमित्रा नन्दन पंत

संसार में जो हल-चलें, क्रांतियाँ और मौलिक परिवर्तन होते हैं उनका मूल स्रोत विचारों में ही पाया जाता है। भौतिक बल भी विचारों का सहायक और अनुगामी होता है। फ्रान्स और रूस की क्रांतियाँ भी विचारों के फल-स्वरूप ही अस्तित्व में आई थीं। हिटलर और मुसोलिनी के पीछे भी विचार ही काम कर रहे थे। आजकल भारतीय राजनीतिक विचार-क्षेत्र को तीन विचार सूत्र प्रमुख रूप से प्रभावित कर रहे हैं। ये हैं—गांधीवाद, समाजवाद और साम्यवाद। ये ही वर्तमान आन्दोलनों की प्रेरक शक्तियाँ हैं।

गांधीवाद

गांधीवाद कोई नया वाद नहीं है। भारत की सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा और क्षमा की वैष्णवी और जैन

आध्यात्मिक आधार

भावनाओं का वर्तमान राजनीति के वातावरण में प्रस्तुत किया हुआ नया संस्करण है। उसको हम इन भावनाओं का राजनीतिक प्रयोग कह सकते हैं। महात्मा गांधी ने राजनीति को आध्यात्मिक आधार शिला पर प्रस्थापित कर उसका मान ऊँचा किया उन्होंने उसको कूटनीति की कोटि से उठाकर धर्म-नीति के रूप में देखा है। उनका समता का भाव आस्तिकता समन्वित है। अन्तरात्मा को ही वे अपने सब कार्यों की प्रेरक शक्ति मानते हैं। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्' की उपनिषद् प्रदत्त शिक्षा उनके अपरिग्रह की भावना का मूल आधार है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का उपदेश उनके न्याय के पीछे काम करता है। इसी न्याय की भावना को लेकर वे हरिजन आन्दोलन में प्रवृत्त हुए। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने' का वैष्णव गीत उनकी सेवा-भावना को बल प्रदान करता है। भारतीय तप और त्याग की आत्मा उनके सिद्धान्तों में मुखरित होती है। हिन्दू और जैन संस्कृति के सत महाव्रत—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद (स्वाद की परवाह न करना), अस्तेय(चोरी न न करना), अपरिग्रह (धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना) एवं अभय उनकी जीवनचर्या के मूल सूत्र हैं। उसमें टाल्स्टाय और रस्किन की सादे जीवन की पुकार प्रतिध्वनित होती है। इसी आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का दृढ़ भवन तैयार किया है। आइए उसके विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात करें।

गांधी जी का अर्थशास्त्र भी धर्म और न्याय पर अवलम्बित है। वे जानते हैं कि दुनिया इतनी सम्पन्न नहीं है कि

आर्थिक

वह सबकी माँग को पूरा कर सके। इसीलिए वे

सरल जीवन और अपरिग्रह पर बल देते हैं। आत्म-निर्भरता, स्वावलम्बन और मजदूरों के साथ न्याय के निमित्त वे गृह-उद्योगों के पक्ष में हैं। जहाँ मशीन से काम होता है वहीं शोषण का सूत्रपात हो जाता है और मशीन से बने हुए अतिरिक्त माल की खपत के लिए साम्राज्यवाद की नींव पड़ती है। चर्खा उनकी अर्थ-नीति का मूल मन्त्र है। खादी शुद्धता और पवित्रता का प्रतीक है। उसमें शोषण की कालिमा नहीं और हाथ से बनी होने के कारण वह एक विशेष आत्मीय भाव से सम्पन्न रहती है। गांधीवाद पूँजी-पतियों को एकदम निर्मूल करना नहीं चाहता वरन् वह उनको समाज में मजदूरों की सम्पत्ति के संरक्षक रूप से बनाये रखने में सहमत है। गांधीवाद चाहता है कि पूँजीपति अतिरिक्त लाभ रक्खें किन्तु वे उसका उपयोग मजदूरों के हित में करें। गांधी जी वर्ग-संघर्ष नहीं चाहते थे वरन् वे सर्वोदय के पक्ष में थे। वे उपदेश और धर्म-नीति से ही पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन चाहते थे। अहिंसात्मक प्रयोगों द्वारा यदि पूँजीपति हटाये जा सकते तो उनको कोई आपत्ति न थी।

सामाजिक—गांधी जी सामाजिक विषमताओं में विश्वास नहीं करते। वे श्रीमद्भगवत्गीता के नीचे के श्लोक को जीवन में चरितार्थ करते रहे थे।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

इसी भावना को लेकर उन्होंने हरिजन आन्दोलन को अपने कार्यक्रम में प्रमुखता दी। वर्ण-व्यवस्था में गांधीवाद उसी अंश में विश्वास करता है जहाँ तक कि वह किसी दूसरे के लिए अपमान-जनक न हो। राजनीतिक विषमताओं को दूर करने के लिए गांधी जी सामाजिक विषमताओं को दूर करना अनुलङ्घनीय सोपान मानते थे।

राजनीतिक—गांधी जी की राजनीति मानवता-मूलक है।

गांधीवाद में उस संकुचित राष्ट्रीयता के लिए, जो दूसरों को आक्रान्त करती है, स्थान नहीं है। उसका मूल स्वर है 'जीओ और जीने दो'। वह साम्प्रदायिक भेदों से परे है। हिन्दू और मुसलमान सब राष्ट्र के लाभों के समान रूप से अधिकारी हैं। गांधी जी राम राज्य के आदर्श में विश्वास करते थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने आदर्श राज्य के रूप में राम-राज्य का इस प्रकार वर्णन किया है:—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

× × ×

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सुधर्म निरत श्रुति नीती॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

अंग्रेजों के प्रति 'भारत छोड़ो' का नारा गांधी जी ने इसलिए उठाया कि वे विषमता का व्यवहार करते थे और पारस्परिक फूट डालकर शोषण करना चाहते थे। वैसे अंग्रेज, पारसी, ईसाई, हिन्दू, मुसलमान सब के लिए वे भारत में स्थान मानते थे। वे प्रभुत्व और शोषण के पक्ष में न थे।

गाँधी जी की कार्य-पद्धति सत्य और अहिंसा पर अवलम्बित थी।

कार्य-पद्धति

सत्याग्रह उनकी कार्य-पद्धति का मूल रूप था। वे सदा सत्य को स्वीकार करते थे। हठधर्मी उनमें न थी। वे अपनी भूल स्वीकार करने में सबसे पहले रहते थे और जो सत्य उनको जँच जाता था उसके पालन में प्राण-पण से तैयार रहते थे। उनके सत्याग्रह का काव्यमय रूप हमको श्री मैथिलीशरण जी के 'अनघ' में मिलता है:—

आग्रह करके सदा सत्य का जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो कभी न प्रकट करने में अनुभव जो भी बोध करो,
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो दृढ़ता सहित विरोध करो,
किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो, न क्रोध करो।

गांधी जी की अहिंसा अन्याय को स्वीकार नहीं करती। वह अन्याय के आगे झुकना नहीं जानती। वह निष्क्रिय प्रतिरोध का उपदेश देती है। उसमें घृणा को स्थान नहीं। गांधी जी की क्षमा निर्बल की क्षमा नहीं वरन् सबल की क्षमा है। वह अन्यायी का प्रतिरोध करते हुए उससे प्यार करना सिखाती है। हिंसा का तारतम्य कभी खतम नहीं होता। हिंसा से हिंसानल कभी शान्त नहीं हो सकता। हिंसा का एक अहिंसा ही उत्तर है। गांधी जी मारने की अपेक्षा मर कर या कष्ट सह-कर दूसरे के हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते थे। वे मनुष्य की श्रेष्ठता में विश्वास करते थे और हृदय-परिवर्तन के सम्बन्ध में दृढ़ आशावादी थे। वे सामूहिक बल के साथ-साथ वैयक्तिक आत्मबल में भी विश्वास करते थे। एक सच्चा सत्याग्रही समाज में परिवर्तन करने में समर्थ हो सकता है—इसीलिए उनको रवि बाबू का यह गीत—'यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे तबे एकला चल एकला चल रे' बहुत पसन्द था। उनके लिए एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता की लोकोक्ति सर्वथा ठीक न थी।

गांधीवाद मानवतावाद का ही दूसरा रूप है। उसमें मनुष्य की दैवी शक्तियों में अमित विश्वास है। वह किसी को हेय और तिरस्कार योग्य नहीं समझता।

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य अहिंसा ने मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।
गांधीवाद हमें जीवन पर देता अंतर्गत विश्वास,
मानव की निस्सीम शक्ति का उसमें मिलता चिर आभास।

समाजवाद

समाजवाद और साम्यवाद एक दूसरे से मिलते-जुलते वाद हैं। वास्तव में साम्यवाद समाजवाद का ही एक विकसित रूप या अवान्तर भेद है। इसके जन्मदाता जर्मन निवासी कार्ल-मार्क्स थे। विज्ञान की उन्नति से [illegible] मशीनों द्वारा जो सामूहिक उत्पादन होने लगा

उसी ने पूँजीपतियों को जन्म दिया। उत्पादन के सारे साधन पूँजीपतियों के हाथ में आगये और उसी के साथ उत्पादन के सारे लाभों पर उनका स्वत्व होगया। श्रमजीवी उत्पादक होते हुए भी उत्पादन के लाभ से वंचित रहने लगे। उद्योग-व्यवसायों के सम्बन्ध में जो स्थिति पूँजीपति और मजदूर की है भूमि के सम्बन्ध में वही स्थिति जिमीदार और किसान की है। किसान अन्न का उत्पादक होकर भी जिमीदार की धौंस सहते और बेगार करते जीवन बिताता है। इस प्रकार दो वर्ग हो जाते हैं—एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। शासन के सूत्र भी शोषक वर्ग के हाथ में रहते हैं, इसलिए वे शासन की सैनिक शक्ति के बल पर शोषित वर्ग के ऊपर आने के प्रयत्नों को दबाते रहते हैं।

पूँजीवाद ही साम्राज्यवाद के लिए भी उत्तरदायी है, क्योंकि मशीन के सामूहिक उत्पादनों की खपत के लिए दूसरे देशों के बाजार चाहिए और मशीन के द्रुत उत्पादन के कारण बेकार मनुष्यों के लिए काम। गांधी जी ने इन्हीं कारणों से मशीन के उत्पादन को हेय माना। मशीन के बहिष्कार द्वारा वे उद्योगीकरण की बुराइयों को दूर करना चाहते थे। 'न रहेगा बाँस न बाजेगी बाँसुरी' समाजवाद ने मशीन को प्रोत्साहन दिया किन्तु सब आपत्तियों के मूल स्रोत पूँजीपतियों को मिटाकर वैयक्तिक उत्पादन के स्थान में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त चलाया। राज्य ही उत्पादन करेगा और राज्य ही उसके लाभ को श्रमिकों में वितरण करेगा और जो लाभ बचेगा वह भी राष्ट्र के ही काम में आयगा।

समाजवाद का दृष्टिकोण भौतिक है। वह भौतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ही विकास का कारण मानता है। भौतिक परिस्थितियाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism के सिद्धान्त के अनुकूल नई संस्थाओं को जन्म देती हैं। पहले एक स्थिति (Thesis) उत्पन्न होती है, जब वह पूर्णतया बढ़कर अति को पहुँच जाती है तब उसकी प्रतिक्रिया से उसके प्रतिकूल

स्थिति उत्पन्न होती है जिसको प्रतिस्थिति (Anti Thesis) कहते हैं। उसकी भी प्रतिक्रिया होती है और फिर दोनों का समन्वय होता है।

हेगिल (Hegel) ने इस सिद्धान्त को आध्यात्मिक आधार पर प्रतिपादित किया था मार्क्स ने उसको भौतिक आधार दिया। पूँजीपतियों की संस्था ने श्रमजीवियों के संगठन को जन्म दिया। अब वह संगठन समन्वय रूप से वर्गहीन समाज की सृष्टि करेगा। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समाज में प्रयोग है।

संक्षेप में जहाँ गांधीवाद का आधार आध्यात्मिक है वहाँ समाजवाद का आधार भौतिक है; जहाँ गांधीवाद गृह उद्योगों में विश्वास करता है, वहाँ समाजवाद मशीन की सहायता से उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष का समर्थन करता है। गांधीवाद किसी वर्ग को मिटाना नहीं चाहता, वह विभिन्न वर्गों में परस्परानुकूलता लाना चाहता है। इसके विरुद्ध समाजवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। गांधीवाद व्यक्ति के आत्मिक बल में विश्वास करता है, समाजवाद सामूहिक वल का पाठ पढ़ाता है। साधनों के सम्बन्ध में भी गांधीवाद और समाजवाद में अन्तर है। समाजवाद लक्ष्य की उत्तमता को मानता है किन्तु साधनों की नैतिकता पर वह विशेष वल नहीं देता। गांधीवाद साधनों की नैतिकता में भी विश्वास करता है।

साम्यवाद

साम्यवाद ने दिया विश्व को नव भौतिक दर्शन का ज्ञान,
अर्थशास्त्र औ, राजनीति विशद ऐतिहासिक विज्ञान।

साम्यवाद समाजवाद का ही एक भेद है। इसको अंग्रेजी में कम्यूनिज्म कहते हैं। यद्यपि यह संसारव्यापी संस्था है तथापि इसका केन्द्रीय गढ़ रूस है। जहाँ तक उत्पादन के साधनों का प्रश्न है, साधारण समाजवादी और साम्यवादी एकमत हैं, किन्तु उनके साधनों में मतभेद है। यद्यपि साधारण समाजवादी भी नितान्त अहिंसावादी नहीं हैं, तथापि वे वैधानिक आन्दोलनों और कानूनी सुधारों में अधिक विश्वास करते हैं। हड़ताल उनका मुख्य अस्त्र है और उनकी शृङ्खलाओं द्वारा वे श्रमजीवियों की दशा सुधारना चाहते हैं। साम्यवादी सुधारों को केवल आँसू पोंछने की वस्तु समझते हैं। उनके मत से ये सुधार श्रमजीवियों को लुभाये रखकर अन्तिम लक्ष्य से भ्रष्ट करते हैं। साम्यवादी का अन्तिम लक्ष्य है—सशस्त्र क्रान्ति द्वारा पूँजीपतियों से सत्ता छीन कर सर्वहारा श्रमजीवियों का अधिनायकत्व स्थापित करना। साम्यवादियों का विश्वास है कि बिना सशस्त्र क्रान्ति के शक्ति नहीं मिल सकती। इतिहास इसका साक्षी है। शस्त्रों की शक्ति से पूँजीवाद स्थित है और शस्त्रों की शक्ति से ही वह जायगा। वह साधारण प्रजातन्त्र में विश्वास नहीं करता। वह शक्ति को श्रमजीवियों में केन्द्रित रखने के पक्ष में है और सब को श्रमजीवी बनाकर रखना चाहता है। वास्तव में वह वर्गहीन समाज चाहता है और उसकी स्थापना हो जाने पर वह राष्ट्र की भी आवश्यकता नहीं समझता, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान हो जाने पर वेदान्ती लोग कर्म को अनावश्यक बतलाते हैं। वह अवस्था अराजकता की न होगी वरन् उसमें लोग अपनी स्वेच्छा से संगठित रहेंगे। किसी का किसी पर दबाव न होगा। हर एक आदमी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुकूल काम करेगा और हरेक अपनी आवश्यकता के अनुकूल राज्य से पायगा।

साम्यवाद राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानता। वह दुनिया के श्रमजीवियों को एक कर, विश्व-क्रान्ति चाहता है। वह समाजवादी

व्यवस्था को सब देशों में उनकी इच्छा के भी विरुद्ध शस्त्रों की शक्ति द्वारा स्थापित करना चाहता है। अच्छे उद्देश्य को लेकर शस्त्र बल प्रयोग और नृशंस से नृशंस कार्य भी उसकी दृष्टि में श्लाघ्य हो जाता है। यद्यपि शोषण को दूर करने का ध्येय स्तुत्य है तथापि साधनों में तथा भावी समाज के सङ्गठन-क्रम में मत-भेद हो सकता है। सब देशों की परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं। सब एक लाठी से हाँके नहीं जा सकते। साम्यवाद मत-भेद को स्वीकार नहीं करता। यही इसकी कमजोरी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद गतिशील सिद्धान्त है। वह समाज को एक-सा नहीं मानता। समाजवादी समाज से भी अच्छे समाज की सम्भावना भविष्य के गर्भ में छिपी हुई हो सकती है। स्वस्थ मत-भेद को स्वीकार न करना उस भविष्य के सम्भावित समाज की स्थापना में बाधक होना है।

समन्वय

गान्धीवाद और समाजवाद का, जिसमें साम्यवाद भी शामिल है, समन्वय असम्भव नहीं है। दोनों ही जन-हित पर अवलम्बित हैं। गान्धीवाद किसी वर्ग विशेष में सीमित नहीं है। वह सर्वोदय चाहता है, किन्तु साथ ही वह भी सबको किसी न किसी रूप में श्रमी बनाना चाहता है। गान्धीवाद भी शारीरिक श्रम अनिवार्य मानता है। सिद्धान्ततः गान्धीवाद यन्त्रों का विरोधी है और समाजवाद गृह-उद्योगों का, किन्तु व्यवहार में दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। गृह-उद्योग सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते (कागज का ही मसला गृह उद्योग से हल नहीं हो सकता) और आत्मनिर्भरता और [illegible] की भावना में गृह-उद्योगों की आवश्यकता [illegible] है। रूस में भी गृह उद्योगों का नितान्त बहिष्कार नहीं हो सका [illegible] भारतीय सरकार राष्ट्रीयकरण में [illegible] अनिवार्य [illegible] है। [illegible] नहीं चाहती।

थोड़ी-सी सावधानी की आवश्यकता है। समाजवादी व्यवस्था के लिए भी समय अपेक्षित रहता है। धर्म के मामले में व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में समाजवाद भी बाधक नहीं है। यद्यपि वह स्कूल और कालेजों में धर्म-शिक्षा नहीं चाहता तथापि वह नैतिकता की शिक्षा का विरोधी नहीं। कानून से न धर्म में विश्वास हटाया जा सकता है और न उत्पन्न किया जा सकता है। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है। इस बात को साम्यवाद को स्वीकार करना पड़ेगा।

पूंजीपति देशों में श्रमियों की दशा बहुत कुछ सुधरती जा रही है। अमरीका में बहुत से मजदूर लोग भी मोटर रख सकते हैं और रूस में भी सब के पास मोटर नहीं है। हमको साम्यवाद को प्रत्येक देश की परिस्थिति के अनुकूल ढालना होगा। भारत की आत्मा आध्यात्मिक है। भारत के अध्यात्मवाद में साम्यवाद के लिए सुदृढ़ आधार मिल सकता है। जहाँ 'सर्वे सुखिनः भवन्तु' का आदर्श है वहाँ मजदूर भी दुखी नहीं रह सकते यदि उस आदर्श का पालन किया जाय। सब लोग सुखी तभी हो सकते हैं जब स्वार्थ सीमित कर दिये जायँ और शक्ति का दुरुपयोग न हो। शक्ति का दुरुपयोग सर्वहारा द्वारा भी हो सकता है; कल के शोषित भविष्य के शोषक बन सकते हैं। साम्यवाद की आवश्यकता पूँजीपतियों के शक्ति के दुरुपयोग के कारण हुई। ऐसा न हो कि सर्वहारा के अत्याचार से दूसरी किसी परिस्थिति का जन्म हो। साम्यवाद के आक्रमण से बचने के लिए सब से आवश्यक वस्तु है आत्म-सुधार और स्वार्थों पर नियन्त्रण। यही गांधीवाद का मूल है। हम अपनी शक्ति का प्रयोग 'पर-पीडनाय' न कर 'पर-रक्षणाय' करें तभी जगत का कल्याण हो सकता है।

५५. विश्व-शान्ति के उपाय

युद्ध मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों का एक सामूहिक संहारात्मक प्रदर्शन है। सभ्यता के नियम-विधानों ने व्यक्तियों की पाशविकता पर तो बहुत कुछ नियन्त्रण कर रक्खा है, किन्तु जहाँ तक राष्ट्रों का प्रश्न है मनुष्य अपनी पाशविक अवस्था से बहुत आगे नहीं बढ़ा है। आदि काल से युद्ध होते आये हैं और मनुष्य जाति की धन और यश लिप्सा की बलिवेदी पर कोटि-कोटि क्या असंख्य नरमेध होते रहे हैं। युद्ध के दिनों में धर्म-नीति का ह्रास हो जाता है और वन्य हिंस्र पशुओं की नीति का व्यवहार चल पड़ता है। विज्ञान ने राष्ट्रों के नख और दन्तों को सुदूर-व्यापी और तीक्ष्णतम बना दिया है। युद्ध के दिनों में मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क की सारी शक्तियाँ जन-संहार में केन्द्रित हो जाती हैं और उसके फलस्वरूप जो ध्वंस होता है वह कल्पनातीत है। प्रजातन्त्र राज्यों के स्वतन्त्रता-सम्बन्धी सूत्रों को भुला दिया जाता है हम अपनी चिरसञ्चित धर्म की धारणाओं, नैतिक भावों और मानवता परक कोमल वृत्तियों को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। हमारा सौन्दर्य-बोध नष्ट हो जाता है। कला और साहित्य की गति मन्द हो जाती है और स्वतन्त्र नागरिकों की जबानों पर ताले लग जाते हैं। चारों ओर अविश्वास, वीभत्सता, दुःख और संताप का साम्राज्य छा जाता है। सारे निर्माण-कार्य स्थगित हो जाते हैं और [illegible]

युद्ध के रक्त-प्लावन में विलीन हो गई। इन युद्धों के भीषण आर्थिक परिणामों से संसार आज भी क्षयग्रस्त हो रहा है। मदांधता का भीषण भूत पीछा नहीं छोड़ता। इन युद्धों में हारे हुए राज्यों की तो कमर ही टूट जाती है और जीते हुए राज्य भी मृत-प्राय हो जाते हैं। जीते हुए राज्यों की जनता कर भार से दब कर हाथ-पैर भी नहीं हिला पाती। यदि जीत होती है तो शोक, सन्ताप, विग्रह और वैमनस्य का।

युद्ध की इस भयङ्करता से बचने के लिए आदि काल से प्रयत्न होते आये हैं। युद्ध से पहले सभी लोग युद्ध निवारणार्थ दूत भेजा करते थे। महाभारत को बचाने के लिए स्वयं भगवान कृष्ण दुर्योधन के दरबार में दूत बनकर गये थे। भगवान रामचन्द्र जी ने अङ्गद को दूत बनाकर भेजा था। जिस प्रकार मनुष्य युद्ध चाहता है उसी प्रकार वह शान्ति भी चाहता है। युद्ध भी वह इसीलिए लड़ता है कि भावी युद्ध बन्द हो जाँय।

युद्ध रोकने के प्रयत्न चिरकाल से हो रहे हैं। हमारे यहाँ सबसे अधिक शान्ति, प्रिय महाराज अशोक हुए हैं। कलिङ्ग के जन-संहार से उनका हृदय-परिवर्तन हो गया था और उन्होंने युद्ध से विराम लेकर शान्ति का साम्राज्य फैलाया। उन्हीं के राज्य चिह्नों को आज भारत ने अपनाया है। चीन में लाओट्जो बड़े भारी शान्ति के प्रचारक हुए हैं। उनके ही समकालीन भगवान बुद्ध ने 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' का पाठ पढ़ाया था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी बड़े जोरदार शब्दों में युद्ध की निन्दा की है।

> सुमति विचारहिं परिहरहिं, दल सुमनहु संग्राम।
> सकुल गये तनु बिनु भये, साखी जादो काम॥

यूरोप में भी टालस्टाय आदि शान्ति के प्रचारक रहे हैं। आज कल के युग में बर्टेंड रसल और उनके साथी बहुत से लोग शान्तिवादी हैं। पहले महायुद्ध में शामिल न होने के कारण उनको जेल जाना पड़ा था। हमारे देश के परम पूज्य बापू शान्तिवादियों में

अग्रगण्य हैं। वे अपने स्वार्थ से पहले दूसरे के स्वार्थ को देखते थे। बापू के ही नाम पर शान्ति-निकेतन में संसार के शान्तिवादियों की एक बृहत् सभा दिसम्बर सन् ४९ में हो रही है। इंगलैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया, फ्रान्स आदि प्रायः सभी देशों में शान्ति-सभाएँ हैं। किन्तु वे व्यक्तियों की हैं, अन्तर्राष्ट्रीय नहीं हैं। वे इस बात की अवश्य द्योतक हैं कि मनुष्य शान्ति चाहता है। विश्व में शान्ति की पुकार है।

अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर विश्व-शान्ति के दो महान प्रयत्न हुए हैं। एक प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२० में वुडरो विलसन के उद्योगों द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संघ और दूसरा पिछले महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप अस्तित्व में आया हुआ संयुक्त राष्ट्र-संघ। पहले का कार्य-केन्द्र जेनोवा था और दूसरे का है लेक सक्सेस। दोनों ही की स्थापना का उद्देश्य राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को वैध मार्गों से तय करना और युद्धों की सम्भावना को न्यूनातिन्यून कर देना है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के कई अङ्ग हैं। उनमें साधारण परिषद् के अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् (Security Council), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि मुख्य हैं। संघ के अन्तर्गत कई संस्थाएँ भी काम करती हैं। उनमें संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक परिषद् विशेष महत्त्व की है। इसको अंग्रेजी में यूनेस्को Unesco (United Nations Educational Scientific and Cultural Organisation) कहते हैं। इसका उद्देश्य है शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना

जापान उससे अलग हो गया। फिर अबीसीनिया के मामले पर इटली ने अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। यद्यपि वर्तमान संयुक्त राष्ट्र-संघ पहले राष्ट्र-संघ की अपेक्षा अधिक सुगठित और शक्ति-शाली है तथापि इसमें भी बड़ी शक्तियों का स्वार्थ अधिक काम करता है। सुरक्षा परिषद् में पाँच बड़ी शक्तियों (अमरीका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन) को स्थायी सदस्यता मिली हुई है और ६ अस्थायी सदस्य हैं। कोई काम इन बड़े राष्ट्रों की पूर्ण सहमति के बिना नहीं हो सकता है। इनमें से कोई भी अपनी निषेध शक्ति (Veto Power) द्वारा मामले को खटाई में डाल सकता है। इसमें भी दो गुट हैं, एक अमरीकन-ब्रिटेन गुट्ट और दूसरा रूस (अब चीन भी उसमें शामिल हो जायगा)। इसके अतिरिक्त इसके पास भी अपने निर्णयों को मान्य कराने की कोई शक्ति नहीं है। इसीलिए इंडोनेशिया, दक्षिण अफ्रीका, पेलिस्टाइन, काश्मीर आदि के मामले लटके हुए हैं।

निःशस्त्रीकरण के भी कई उद्योग हो चुके हैं, किन्तु कोई उसमें अगुआ नहीं हो सका है। अगुआ कोई हो भी नहीं सकता जब तक दूसरे राष्ट्र भी साथ-साथ न सुधरें। कोई अगुआ बनकर हिंसक राष्ट्रों का शिकार नहीं बनना चाहता।

शान्ति के जितने उपाय राष्ट्रीय धरातल पर होते हैं उनमें सचाई की अपेक्षा दिखावट अधिक है। इन उपायों को सफल बनाने के लिए युद्ध के कारणों की खोज और उनका निराकरण आवश्यक है। उसके पश्चात् जो चिकित्सा सोची जाय उसके प्रयोग के लिए भी या तो शक्ति-शाली प्रचार हो या उन निर्णयों को मनवाने के लिए अन्त-र्राष्ट्रीय सेना हो जो अपने भौतिक बल का दबाव डाल सके।

युद्ध के कारणों में सब से प्रमुख है देशों की आर्थिक और व्यापारिक परिस्थिति। दूसरा है संकुचित राष्ट्रीयता और राष्ट्रों में ऊँच नीच का जाति-भेद। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि लोग जिस धर्म-नीति का वैयक्तिक व्यवहार में प्रयोग करते हैं उसका

वे राष्ट्रों के व्यवहार में प्रयोग करना नहीं सीखे हैं। राज-नीति हमेशा कूट-नीति ही रही है (महात्मा गांधी ने अवश्य उसे धर्म-नीति का रूप देने का प्रयत्न किया था)। एक चौथा कारण यह भी है कि अभी फालतू शक्ति के निकास का कोई वैध एवं शान्तिमय मार्ग भी नहीं सोचा गया है।

युद्ध रोकने के लिए सबसे पहले आन्तरिक शान्ति और सम्पन्नता अपेक्षित है। आन्तरिक शान्ति के अभाव में दूसरे देश बन्दर-न्याय करने के लिए उद्यत हो जाते हैं और फिर बन्दर बन्दरों में भी झगड़ा होने लगता है। आन्तरिक शान्ति के लिए सम्प्रदायों और दलों में उदारता अपेक्षित है। जहाँ तक हो राष्ट्र आत्म-निर्भर होकर अपने यहाँ की बेकारी दूर करें। पूर्ण आत्म-निर्भरता सम्पन्न से सम्पन्न राष्ट्र के लिए सम्भव नहीं है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बल और प्रभुत्व के आधार पर नहीं वरन् पारस्परिक सद्भावना और आदान-प्रदान के आधार पर व्यापारिक समझौते किये जा सकते हैं। इनमें राष्ट्रीय परिषदें भी सहायक हो सकती हैं। राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताओं का सामूहिक रूप से विचार होना आवश्यक है। फिर उनकी पूर्ति की आदान-प्रदान पूर्ण योजना बनाई जा सकती है। इसके लिए राष्ट्रों को भी अपरिग्रह भावना से काम लेना पड़ेगा। इसके अर्थ शिक्षा और प्रचार की आवश्यकता है।

राष्ट्रीयता एक सराहनीय गुण है, किन्तु उसकी भी सीमाएँ हैं। जिस प्रकार साम्प्रदायिकता दोष मानी गई है उसी प्रकार राष्ट्रीयता भी उचित सीमाओं का उल्लंघन कर जाने पर दोष की कोटि में आ जाती है। हिटलर ने आर्यत्व के गर्व में यहूदियों का नाश किया। यद्यपि यूरोप के लोग भारत के जाति-भेद की हँसी उड़ाते हैं तथापि उन लोगों में गोरे-काले का भेद जातिवाद से कम नहीं है। इसी कारण दक्षिण-अफ्रीका और इंडोनेशिया का प्रश्न हल नहीं हो पाता है। श्वेत जातियाँ संसार के उद्धार का अपने ऊपर उत्तरदायित्व समझती हैं और इस उत्तरदायित्व के बहाने वे अपना प्रभुत्व स्थित रखना चाहती हैं।

प्रभुत्व वासना की भावना मनुष्य में स्वाभाविक है। यही युद्धों के लिए उत्तरदायी है। इस पर विजय पाने के लिए इसकी प्रतिकूल प्रवृत्तियों, जैसे दया, प्रेम और सेवा, को जाग्रत करना होगा।

व्यक्ति व्यक्ति के बीच झगड़ों को मिटाने के अर्थ सरकार ने न्यायालय स्थापित कर रक्खे हैं और उनके निर्णय व्यक्तियों को मान्य होते हैं। कोई व्यक्ति अपने आप कानून को अपने हाथ में नहीं ले सकता। किन्तु राष्ट्रों में यह बात नहीं है। जितने वे महान और शक्तिशाली होते हैं उतना ही वे अपने को दूसरों के शासन से परे समझते हैं। वे स्वयं निर्णायक और स्वयं दंडदाता बन जाते हैं। इसी बात को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित किया गया है। लेकिन उसके निर्णय मान्य कराने का कोई साधन नहीं है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैन्यबल चाहिए जो कि न्यायालय के निर्णयों को मान्य करा सके। उसमें सभी राष्ट्र योग दें। इस प्रकार के सम्मिलित सैन्यबल में सब से बड़ी कठिनाई नेतृत्व की है। नेतृत्व के लिए नियम बनाने होंगे। वह भी मताधिकार से हो सकता है। सम्मिलित सैन्य भी तभी सफल हो सकता है जब राष्ट्र व्यक्तियों की सैन्य-शक्ति पर नियंत्रण हो, ऐटम शक्ति का प्रयोग निषिद्ध कर दिया जाय।

सुरक्षा परिषद और संयुक्त राष्ट्र संघ में एक बात सब से दूषित यह है कि विजित राष्ट्रों को उसमें कोई स्थान नहीं। युद्ध के अभियुक्तों के साथ निर्दयता का व्यवहार, उनको फाँसी देना आदि द्वारा घृणा के बीज बोना है। वे भविष्य में समय पाकर अङ्कुरित हो उठते हैं। राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी जब तक 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' की नीति का अनुसरण न होगा तब तक हिंसा का तारतम्य न बन्द होगा। राष्ट्र व्यक्तियों में साधारण व्यक्तियों की सी न्याय के लिए सिर झुकाने तथा कानून को अपने हाथ में न लेने की भावना उत्पन्न करने के लिए हमको संसार के ऐसे संघ-शासन का निर्माण करना होगा जिसमें

राष्ट्र अपना-अपना निजी व्यक्तित्व रखते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मिलित निर्णयों का मान करें। वही संघ राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताओं का प्रेमपूर्वक संयोजन करे। इसके लिए बड़े राज्यों को अपना बड़प्पन छोड़कर साधारण धरातल पर आना होगा।

इन सब उपायों के साथ-साथ हमको लोगों की फालतू शक्ति के लिए भी निकास ढूँढना पड़ेगा। वीरता के लिए नये आलम्बन देना होगा। युद्धवीर के स्थान में दयावीर की प्रतिष्ठा करनी होगी। हमारे अभियान किसी राष्ट्र के प्रति न होंगे वरन् अपने ही देश की बुराइयों तथा गन्दगी को दूर करने के प्रेम-पूर्वक प्रयत्न होंगे। रचनात्मक कार्य के लिए युद्ध का सा उत्साह उत्पन्न करना होगा। राष्ट्रों में यदि सैन्य-भर्ती अनिवार्य की जाय तो वह सेवा और रचनात्मक कार्य के लिए हो। हमारे सैनिकों में यह भावना उत्पन्न होनी चाहिए कि वे मारने के लिए नहीं हैं वरन् सेवा और बचाने के लिए हैं। इन भावनाओं के जाग्रत करने के लिए नये प्रकार के साहित्य की सृष्टि करनी होगी। राष्ट्रीय गर्व सेवा का गर्व होगा। हमारी उच्च भावना जाति-भावना से परे होगी वरन् सेवा-कार्यों पर अवलम्बित होगी। राष्ट्रों का पारस्परिक मान बढ़ाने के लिए हमको सब राष्ट्रों के बुद्धि-जीवियों का संगठन करना आवश्यक है। बुद्धिजीवी साहित्यिक क्षुद्र भावनाओं से प्रायः परे हुआ करते हैं। वे यदि मिलकर प्रयत्न करें तो युद्ध के विरुद्ध जनमत उत्पन्न कर सकते हैं। यद्यपि नक्कारखाने में तूती की आवाज कम सुनाई पड़ती है फिर भी नैतिक चेतना धीरे-धीरे जाग्रत की जा सकती है। इस मामले में हम यूएनेसस्को से बहुत कुछ आशा रख सकते हैं। दूसरों की संस्कृति और कला का मूल्य जान लेने से उसके नष्ट करने के लिए सहसा हिम्मत नहीं पड़ती है। दूसरों को बर्बर और असभ्य समझने की भावना दूर करने की आवश्यकता है। हमारे साहित्यिकों का कर्तव्य है कि परस्परिक भेद-भावना को दूर करके एक ऐसी विश्व भ्रातृत्व की लहर उत्पन्न करें

जिससे सब लोग विश्व को एक नीड़ बनाने की भावना को चरितार्थ कर सकें।

---

५६. महात्मा कबीर

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में संत-साहित्य का एक विशेष स्थान है। ीर गाथा-काव्य ने क्षत्रिय राजाओं को प्रोत्साहन देने में भेरी-नाद ा काम किया था, किंतु इस नाद का मूल स्वर आपस की मार-काट ी रहा। पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता ने राजाओं के तूणीर खाली कर नकी शक्ति को कुण्ठित कर दिया था। इस गृह कलह ने विदेशियों े लिए स्वागत-गान सुनाया।

जब भारत में मुसलमानों के पैर जम गये तब निकट संपर्क में ाने के कारण दोनों जातियाँ एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। चार-विनिमय प्रारम्भ हुआ और जो लोग कट्टरता से परे थे वे एक सरे की ओर झुके।

मुसलमानों में सूफी लोग कुछ मुलायम तबीयत के लोग थे। हिन्दुओं के एकात्मवाद से प्रभावित थे। उन्होंने हिन्दू जीवन की म-कथाओं के आधार पर प्रेम-काव्य की नींव डाली। संत कवियों वेदान्त का व्यावहारिक पक्ष लेकर हिन्दू-मुसलिम तथा ब्राह्मण-शूद्र ी एकता का उपदेश देना शुरू किया।

उस समय शूद्रों की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। मुसलमानों तो वे लोग हिन्दू होने के कारण तिरस्कृत समझे जाते थे और न्दुओं में शूद्र होने के कारण दुत्कारे जाते थे। रामानुजाचार्य ादि आचार्यों ने भक्ति का लोक-पावन संदेश सुनाकर शूद्रों के प्रति ुदयता का वातावरण तो उपस्थित कर दिया था किन्तु उनकी यति में मौलिक सुधार की आवश्यकता थी। संतों ने भक्ति और ान की गंगा-जमुनी धारा को भाषा के बहते नीर में अवतरित कर

उसे सर्व-सुलभ बनाया। 'जाति-पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' की शंख-ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी। कबीरदास जी काल-क्रम से तो संत कवियों में पहला स्थान नहीं पाते किंतु महत्ता में सबसे आगे नहीं तो किसी के पीछे भी नहीं हैं।

अन्य महापुरुषों की भाँति कबीर का जीवन-वृत्त भी तिमिराच्छन्न है। यह बात तो विवादास्पद है कि वे जन्म से मुसलमान थे या हिन्दू, किंतु उनका पालन-पोषण नीरू और नीमा जुलाहे दंपति के यहाँ हुआ था। ऐसी किंवदन्ती है कि उन्होंने इस बालक को लहरतारा तालाब के पास पड़ा पाया था। यह बालक एक ब्राह्मण-विधवा का कहा जाता है जिसको रामानन्द जी ने धोखे में पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। आशीर्वाद सफल हुआ, किन्तु लोका-वाद के भय से उसने बालक का परित्याग कर दिया था। कबीर ने अपने को गर्व के साथ जुलाहा कहा है। 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर ग्याना।

जीवनवृत्त

कबीर की जन्म-तिथि भी विवाद का विषय बन रही है। कबीर पंथियों में महात्मा कबीरदास के जन्म और मरण के सम्बन्ध में जो तिथियाँ मान्य हैं उनके अनुकूल तो उनकी आयु एक सौ बीस वर्ष की होती है; किन्तु उसे स्वीकार करने से उनके जीवन की दो प्रमुख घटनाएँ, अर्थात् रामानन्द से दीक्षा प्राप्त करना और सिकन्दर लोदी के दरबार में पेश होना, उनके जीवन-काल में ही पड़ जाती हैं। एक सौ बीस वर्ष की आयु कबीर जैसे पहुँचे हुए महात्मा के लिए दुर्लभ नहीं कही जा सकती। कबीर पंथियों के मत में कबीर का जन्म संवत् १४५५ में और उनका स्वर्गवास संवत् १५७५ में हुआ। यह विषय विवाद-ग्रस्त अवश्य है और इस पर ही उनका रामानन्द से दीक्षित होने का प्रश्न अवलम्बित है।

रामानन्द से दीक्षित होने के सम्बन्ध में डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी तथा डाक्टर मोहनसिंह जी ने आपत्ति उठाई है, किन्तु जब तक

बीर की जन्म-तिथि और रामानन्द जी की निधन-तिथि प्रामाणिक रूप स्थापित न हो जाय तब तक एक लोक-प्रतिष्ठित परम्परागत धारणा को निर्मूल ठहरा देना उचित नहीं है। इस पर केवल कबीरदास का ही कथन नहीं है वरन् उनके प्रमुख शिष्य धरमदास की भी गवाही है। देखिए—

काशी में प्रगटे दास कहाए नीरू के गृह आए।
रामानन्द के शिष्य भए, भवसागर पंथ चलाए।

मुसलमान लोग उनको शेख तकी का शिष्य मानते हैं। यद्यपि कबीर शेख तकी से सम्बन्धित स्थानों में रहे थे तथापि जिस प्रकार उन्होंने पीर साहब का उल्लेख किया है उससे यह नहीं प्रकट होता कि वे उनको गुरु मानते थे। देखिए—

नाना नाच नचाय के, नाचे नट के वेप।
घट घट अविनाशी बसै सुनहु तकी तुम सेप॥

संभव है कि यह उनके अक्खड़पन के कारण हो, किन्तु गुरु को तो कबीरदास परमात्मा के स्थान में मानते थे। जिन शब्दों में उन्होंने रामानन्द का उल्लेख किया है उनसे इनमें अन्तर है। देखिए—

'गुरु रामानन्द चरण कमल पर मोहिन (माया) दीनी वार'

कबीर का विवाह लोई नाम की स्त्री से हुआ था और उससे एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली नाम की दो सन्तान उत्पन्न हुई थीं। कबीर कमाल के अनुदार विचारों से असन्तुष्ट थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—

'बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।'

कबीरदास जी की मृत्यु मगहर में हुई थी। हिन्दुओं में मरने के लिए काशी में महत्त्व दिया जाता है। परमात्मा को सर्वत्र मानने वाला इस तरह के रूढ़िवाद को कब मान सकता था? वे अपनी भक्ति पर विश्वास रखते थे। 'जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहिं कौन निहोरा।'

कबीर के सिद्धान्तों में हम दो प्रकार के सिद्धान्त पाते हैं; एक

धार्मिक तथा दार्शनिक, दूसरे सामाजिक उनके सिद्धान्तों में हम उस समय के प्रभावों का समन्वय पाते हैं। वैष्णव-धर्म से उन्होंने दया और भक्ति ली। उन्होंने मांस खाने का जो विरोध किया है वह वैष्णव धर्म का ही प्रभाव है। कबीर शाक्तों के गाँव की अपेक्षा वैष्णव की झोंपड़ी को महत्ता देते हैं। उन्होंने शाङ्करवाद से जीव-ब्रह्म की एकता और मायावाद लिया। बौद्ध-धर्म से सुन्न वा शून्य का विचार लिया। गोरख-पंथियों से हठयोग की साधना पाई। सूफ़ियों की प्रेम-साधना की कलम उन्होंने वेदान्तवाद पर चढ़ाई। मूर्तिपूजा और अवतारवाद के खंडन में उन पर कट्टर मुसलमानों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कई लोग शब्द के मानने में ईसाई मत से उन्हें प्रभावित समझते हैं। कट्टर मुसलमानों के खंडन में वे शायद सूफी संप्रदाय से ही प्रभावित हुए हों।

कबीर के सिद्धान्त

दार्शनिक विचारों में तो कबीर उपनिषदों और शाङ्कर मत से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने जीव और ब्रह्म की एकता मानी है और संसार को भी ब्रह्म से भिन्न नहीं बताया। कबीर ने मायावाद का भी आश्रय लिया है।

दार्शनिक विचार

कबीर यद्यपि पढ़े-लिखे नहीं थे 'मसि कागद छूओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ', तथापि वे बहुश्रुत थे। उन्होंने 'तत्त्वमसि', 'कनककुण्डल' 'समुद्रतरङ्ग' 'कीट-भृङ्ग' आदि वेदान्त की शब्दावली का प्रचुरता से प्रयोग किया है। उनका ब्रह्म शब्द-रूप है और वह सब प्रकार के गुणों से परे है। उसके लिए कोई एक निश्चित गुण बतलाना उसको सीमित कर देना है। उसके लिए उपनिषदों की भाँति नेति-नेति ही कहा जा सकता है। न वह हलका है न वह भारी है, न वह भीतर है न वह बाहर है, वह संख्या से भी परे है। उसके लिए साकार, निराकार, सगुण और निर्गुण शब्द भी लागू नहीं हो सकते। देखिए—

कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावे आकारा।
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जाने जानन हारा॥

वह सारे संसार में व्याप्त होकर उसको अतीत करता है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है; जो कुछ है वह सब बाजीगर का खेल है। केवल बाजीगर सच्चा है। संसार उसी परमात्मा से उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है।

साधो एक आप जग माहीं
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दरपन में छाहीं।
जल तरंग जिमि जल ते उपजै फिर जल माहिं रहाई॥

कबीर ने परमात्मा और जीव की एकता मानते हुए—जब तक द्वैतभाव मिटता नहीं तब तक के लिए—जीव ब्रह्म का सम्बन्ध प्रेमिका और प्रेमी का माना है। उन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन प्रेम के ही रूपकों द्वारा हो सकता है।

कबीर ने ज्ञान को तो मुख्यता दी ही है किन्तु उन्होंने उसके साथ ही भक्ति का भी महत्त्व स्वीकार किया है। कबीर ने राम नाम की ही महत्ता गाई है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी नाम को स्वयं राम से अधिक महत्ता दी है। किंतु कबीर ने दाशरथी राम को नहीं माना है। वे राम शब्द के उपासक हैं। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त कबीर ने प्राणायाम और हठयोग की क्रियाओं को भी मन की शुद्धि के लिए साधन रूप से माना है। इस प्रकार कबीर मुसलमानी धर्म से प्रभावित होते हुए भी पूरी तौर से हिंदू संस्कृति में रँगे हुए थे।

धर्म के सम्बन्ध में कबीर के विचार बड़े उदार थे। वे राम और रहीम को एक मानते थे और दोनों को एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूप समझते थे। देखिए—

दुइ जगदीश कहाँ ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीम केशव हरि हजरत नाम धराया॥

गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर राखे यक नमाज यक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये।
कोई हिन्दू कोई तुरक कहावे एक जिमी पर रहिये॥
वेद किताब पढ़ैं वे कुतबा वे मौलाना वे पांडे।
बिगत बिगत के नाम धरायो यक माटी के भांडे॥

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता का उपदेश देते हुए दोनों में से ढोंग और मिथ्याडम्बर के हटाने के लिए बड़ी जोरदार आवाज उठाई है क्योंकि वे जानते थे कि यह वृथाडम्बर ही आपस में भेद-भाव उत्पन्न कर रहा है। उन्होंने दोनों को ही खूब खरी-खोटी सुनाई है।

सामाजिक साम्य

कबीर ने सब में एक परमात्मा के दर्शन करके ब्राह्मण और शूद्र में साम्य-भाव स्थापित करने का उद्योग किया है। इस सम्बन्ध में कबीर अपने समय से बहुत आगे थे।

गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए बाह्मन शुद्रा॥

कबीर के इसी साम्य-भाव के कारण उनके सिद्धान्तों का प्रचार तथा-कथित नीच जातियों में अधिक हुआ।

कबीर का कवित्व

संत कवियों की वाणी का प्रसार कविता-द्वारा हुआ था क्योंकि उन दिनों लोगों के हृदय तक पहुँचने के लिए कविता ही भावाभिव्यञ्जना का माध्यम थी। कबीर की भी भाव-धारा कविता में ही प्रस्फुटित हुई, किन्तु उस कविता में कला की कृत्रिमता न थी। अकृत्रिमता ही उसकी कला है। कबीर ने कविता को साधन मात्र माना है, उसको साध्य नहीं बनाया है। जहाँ तक हृदय की सचाई, विचारों की गहराई और अनुभूति की तीव्रता का प्रश्न है वहाँ तक कबीर के कवित्व में सदेह नहीं किया जा सकता। यदि कुशल अभिव्यक्ति कला की कसौटी

मानी जाय तो उनको हम एक उत्तम कलाकार भी कह सकते हैं। चाहे उनकी कविता में छन्दों के नियमों की अवहेलना हो, किन्तु उनके पद गाने की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। कबीर के उपस्थित किये हुए रूपक और मानसिक चित्र बड़े उपयुक्त और सजीव हैं। उन्होंने केशव की भाँति अलङ्कारों और छन्दों की प्रदर्शिनी तो नहीं की है किन्तु उनकी कविता में बहाव के साथ स्वाभाविक रूप से आए हुए अलङ्कारों का अच्छा पुट है। उनकी कविता में श्लेष, यमक आदि शब्दालंकार और रूपक उपमा, अन्योक्ति आदि बड़े सुन्दर अर्थालंकार हैं। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रायः रूपकों और अन्योक्तियों में ही हुआ करती है। इसलिए इनके अलंकार केवल अलंकार नहीं हैं वरन् वे एक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। कबीर की एक सुन्दर अन्योक्ति देखिए—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरेइ नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपत न ऊपर आगि तोर हेतु कहु का सन लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहिं मुए हमारे जान॥

---

५७. सूरदास

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर॥

जन्म और जीवन

महात्मा सूरदास जी का जन्म सं० १५४० के लगभग बतलाया जाता है। इनके जन्म-स्थान के संबंध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार इनका जन्म-स्थान देहली के निकट सीही ग्राम में है और दूसरे मत से आगरा के निकट रनकुता (रेणुका क्षेत्र) में है। इनकी जाति के संबंध में भी थोड़ा मत-भेद है। कोई इनको सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं और कोई साहित्य-लहरी के एक छन्द के आधार पर इन्हें चन्दबरदाई

सूरदास जी के सिद्धांत और उनका भक्तिभाव

इनकी दीक्षा वल्लभ संप्रदाय की है। वल्लभ-संप्रदाय में भगवान की कृपा को मुख्यता दी गई है। भक्त को अपने कर्मों का इतना भरोसा नहीं होता जितना कि भगवान की कृपा का। इसी कृपा का नाम 'पुष्टि' है और इसीलिए यह पुष्टिमार्ग कहलाता है। इस संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना है। इसीलिए सूरदासजी के बाल-लीला-सम्बन्धी वर्णन बड़े सुन्दर हैं। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त 'सिद्धाद्वैत' के नाम से प्रख्यात हैं। इसके अनुकूल जीव और संसार दोनों परमात्मा के अंश हैं। जीव में सत् और चित् तो हैं किन्तु आनन्द की कमी है। प्रकृति में चित् की भी कमी है। ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द है। यद्यपि उपासना में द्वैत भाव के बिना काम नहीं चलता तथापि ये कहीं कहीं जीव और ब्रह्म की एकता की ओर झुक गये हैं।

जौ लौं सत्यस्वरूप न सूझत।
तौ लौं मनु मनि कंठ बिसारे फिरत सकल बन बूझत॥

× × × ×

एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलि कै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो॥
एक जीव एक ब्रह्म कहावत सूरस्याम झगरो।
अब की बेर मोहि पार उतारो नहिं पन जात टरो॥

× × × ×

जाय समाय 'सूर' महानिधि में, बहुरि न उलटि जगत महँ नाचै॥

इनकी भक्ति सख्य-भाव की है। कहीं कहीं तो ये बड़े अक्खड़ बन जाते हैं, यहाँ तक कि भगवान से लड़ने को भी तैयार हो जाते हैं और कहीं-कहीं इतने दीन हो जाते हैं कि इनकी भक्ति दास्यभाव में परिणत हो जाती है। यहाँ पर दोनों ही प्रकार का एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमही कै तुम हो माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं॥

× × × ×

जैसे हि राखो तैसे हि रहौं।
जानत हो दुख सुख सब जन को मुख करि कहा कहौं॥

× × × ×

कमलनयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं।
'सूरदास' प्रभु जगत कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं॥

सूरदास जी अनुचर अवश्य थे किन्तु घर के मुँह लगे अनुचर थे, [illegible]व प्रताप बदत न काहू निडर भए घर चेरे।' तुलसीदास जी निडर [illegible]कर मर्याद' नहीं खोते थे। सूरदासजी अनन्य भक्त थे, वे अपनी [illegible]नन्यता में और किसी देवता को कुछ नहीं गिनते थे—'और देव [illegible]ब रंक भिखारी त्यागे बहुत घनेरे।' वे कृष्ण भगवान को छोड़ कर [illegible]सी की भक्ति नहीं करना चाहते थे।

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥
कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

भक्ति-भाव में सूरदास जी उद्धव जी के अवतार माने जाते हैं।

[illegible] सूरदास जी का काव्य गीत-काव्य है। वैष्णव-धर्म में गीतगोविंद के [illegible]दासजी की रचयिता जयदेव कवि गीत-काव्य के प्रथम आचार्य [illegible]शैली की माने जाते हैं। इन्हीं की शैली को मैथिल-कोकिल [illegible]विशेषताएँ विद्यापति ठाकुर ने अपनाया है। ऐसा कहा जाता

है कि महात्मा सूरदास जी ने हिन्दी में उसी शैली को अपनाकर साहित्य और संगीत का एक अपूर्व सम्मिश्रण किया। किन्तु वास्तविक बात तो यह मालूम पड़ती है कि सूर ने जयदेव और विद्यापति के प्रभाव से ब्रज के प्रचलित लोक-गीतों को साहित्यिक रूप दिया। गीत-काव्य के लिए माधुर्य्यमयी, सुकोमला ब्रजभाषा ही उपयुक्त थी। गोस्वामी तुलसीदासजी को भी गीत-काव्य के लिए इसी का आश्रय लेना पड़ा था। यद्यपि सूरदास जी की भाषा ब्रजभाषा ही है, तथापि इन्होंने फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों को ब्रजभाषा में ऐसा मिला लिया है कि वे भिन्न भाषा के नहीं प्रतीत होते; उदाहरणार्थ—मसकत, मुहकम, कुलहि इत्यादि। सूर ने गुजराती बुंदेलखंडी आदि प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी बड़ी कुशलता के साथ व्यवहार किया है। इनकी भाषा में कहीं-कहीं सलिता, सायर आदि प्राकृत के भी प्रयोग आये हैं।

सूरदास जी ने अलंकारों का बड़े सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है। इनके अलङ्कार बड़े अनूठे और उपयुक्त हैं। सूर ने कृष्ण जी के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने वाले अलङ्कारों की सार्थकता पर काव्यमय विवेचन करते हुए उनके द्वारा गोपियों की भावाभिव्यक्ति बड़े मार्मिक ढंग से कराई है।

> नंदनँदन के अंगअंग प्रति उपमा न्याय दई।
> आनन इन्दु वरन सम्मुख तजि करखे ते न नई॥
> निरमोही नहि नेह, कुमुदिनि अन्तहि हेम हई॥

श्रीकृष्ण के मुख को इन्दुवरन बतलाते हैं। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उनके मुख की ओर वे कुमुदिनी की भाँति सदा देखती रहती थीं, खींचे से भी इधर-उधर नहीं झुकती थीं, किन्तु कृष्ण जी ने चन्द्रमा का दूसरा धर्म भी निभाया यानी उनको पाले से मार दिया। चन्द्रमा को हिमकर कहते ही हैं, गोपियों को कुमुदिनी कह कर उनकी कोमलता और सुकुमारता की भी व्यञ्जना कर दी। नेत्रों के सम्बन्ध में

प्रचलित उपमानों की उपयुक्तता का विवेचन कर अन्त में मीन की उपमा को ठीक ठहराया क्योंकि वह पानी में डूबी रहती है 'सूरदास मीन ता कछु इक जल भर संग न छाँडत'। इसके द्वारा अपने सदा रोते रहने की भी व्यञ्जना कर दी। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहाँ इनके अलंकार कृत्रिम से मालूम होते हों।

सूर ने शब्द चयन में बड़ा कौशल दिखलाया है। कुछ शब्दों में बड़ी गहरी व्यञ्जना है, 'लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आप उतारी', 'चाप काँख फिरत हो निर्गुन को यहाँ गाहक कोऊ नाहीं', तब यह जोग मोट हम आगे हिये समुझि विस्तारी', इन वाक्यों में खेप, चाप, काँख मोट शब्दों द्वारा योग की स्थूलता, निरर्थकता और असारता का चित्र-सा खिंच जाता है। 'दादुर जल बिन जिये पवन भखि मीन तजै हठि प्रान' में दादुर और पवन-भखि अत्यन्त सार्थक हैं। पवन से तो प्राणायाम की व्यंजना होती है और दादुर से उद्धव की सारहीन टर-टर। तुलसी की भाँति सूर ने भी गोरख-पंथ का पर्याप्त विरोध किया है।

सूर ने मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है। इनके द्वारा उनकी भाषा की सजीवता बढ़ गई है और भावाभिव्यञ्जना को अधिक शक्ति मिली है, 'जोग कथा ओढ़ैं कि दसावें' में गोपियों की खीझ बड़ी शक्ति के साथ निकल पड़ी। 'यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार' में ब्रज गोपिकाओं की प्रेम की विवशता से भरी कोमलता और आत्मीयता हमारे सामने आकर खड़ी सी हो जाती है। गोपियों ने मथुरा को काजर की कोठरी कहा है, काजर की कोठरी में कृष्ण और उद्धव के शरीर और मन की श्यामता पर एक मुहावरे के सहारे बड़ा सुन्दर व्यंग्य है।

उन्होंने एक ही प्रसंग पर अनेक पद लिखे हैं। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद इस ग्रंथ

वर्ण्य विषय

कवि के मुख से निस्सृत हुए, उसमें पुनरुक्ति भले

ही हो पर वे इतने मर्मस्पर्शी तथा हृदयहारी हैं कि अरसिक को भी एक बार रसलीन कर देते हैं।

सूरदासजी ने यद्यपि थोड़े विषयों का वर्णन किया है तथापि जिन विषयों का इन्होंने वर्णन किया है, बड़े विस्तार से किया है। साथ ही साथ तारीफ की बात यह है कि एक ही बात को इन्होंने नये-नये रूप में देखा है, इसलिए इनके वर्णनों में अरुचि नहीं उत्पन्न होने पाती। नेत्रों के बारे में जितना इन महाकवि ने कहा है उतना शायद ही और किसी कवि ने कहा हो। इन्होंने आलम्बन के नेत्रों "रुचिर कमल मृग मीन मनोहर श्वेत अरुण अरु कारे" की अनुपम छवि का ही वर्णन नहीं किया है वरन् रूप-सागर में अवगाहन करने वाली दर्शक की सदा अतृप्त रहने वाली पिपासा-भरी आँखों का भी बहुत ही हृदय-ग्राही वर्णन किया है। देखिए—

इन्दु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥

यद्यपि इन्होंने प्रधानतया शृंगार और वात्सल्य का ही वर्णन किया है तथापि शांत, अद्भुत, हास्य और दो एक स्थलों में भयानक के सम्बन्ध में भी इन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। वात्सल्य और शृंगार में तो ये अपना सानी नहीं रखते। विशेषतः बाल-लीला, गोपीविरह तथा कृष्ण द्वारा भेजे हुए उनके दूत ऊधो और गोपियों के संवाद-वर्णन में ये सरसता, स्वाभाविकता तथा उत्कृष्टता की चरम सीमा को लाँघ गये हैं।

सूरदास जी का वात्सल्य और शृंगार

ऊपर कहा गया है कि इनकी प्रतिभा का पूर्णविकास वात्सल्य और शृंगार के ही वर्णन में हुआ है। बाल-लीला के वर्णन में संसार भर के कवियों में (यद्यपि संसार भर के बारे में कोई बात कहना प्रतिवाद के भय से खाली नहीं है) शायद ही कोई कवि सूरदास जी की बराबरी कर सकता हो। यद्यपि ईसाइयों के

रोमन कैथोलिक संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना की भाँति शिशु ईसा और माता मरियम की उपासना होती रही है तथापि शिशु ईसा का वर्णन कहीं भी इतने विस्तार और स्वाभाविकता के साथ नहीं आया। हाँ, इस उपासना से यूरोप की चित्र कला को अवश्य उत्तेजना मिली है। सूरदास जी के श्रीकृष्ण शुद्ध राजसी आडम्बर-रहित बालक के रूप में आते हैं। सूरदास जी के वर्णनों में बालकों का साम्यभाव पूर्णतया प्रदर्शित है—'खेलत में को काको गुसैंया'। बालकों की परम शोभामयी अपूर्णता और उनके चलने के बाल-प्रयासों की मनोहर असफलता बड़े ही सुन्दर रूप में दिखाई गई है। बाल-प्रकृति का आदि से अन्त तक बड़ा सच्चा और सजीव चित्र खींचा गया है। बालकों का सोते-सोते हुए मुस्करा देना भी सूरदास की 'पैनी दीठि' से नहीं बचा है—

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।

दूध के दाँतों का निकलना, उसी समय भगवान का 'घुटरुवन चलना', इन सब बातों का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है। चलना सीखने में भगवान साधारण मनुष्यों के बालकों के से ही दिखाई पड़ते हैं—

सिखवत चलन यशोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरती परै पैया।

× × ×

घर आँगन अति चलन सुगम भयो देह देहरी में अटकावत।
गिरि-गिरि परत जात नहीं उलँघी, अति स्रम होत न धावत॥

बालकों की अनुकरणशीलता, उनकी बाल-अभिलाषा, स्पर्द्धा और महत्त्वाकांक्षाओं का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन है जो पढ़ते ही बनता है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ॥

× × ×

हरि अपने आगे कछु गावत ।
तनक तनक चरनन सों नाचत मन ही मनहि रिझावत ।
बाँह उचाई कजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत ॥

बच्चे अपनी सुन्दरता और अन्य बातों पर मन ही मन में रीझा करते हैं। बाँह उठाकर गौओं को बुलाना कैसा सुन्दर बालोचित अनुकरण है। बच्चे अपने आप नाचते-गाते हैं, इस बात को 'हरि अपने आगे कछु गावत' में कैसे सुन्दर रूप से बतलाया है। इसी प्रकार भगवान की गो-दोहन सीखने की इच्छा, उनकी गो-दोहन में असफलता, माखन-चोरी, मिट्टी खाना आदि बाल-लीलाओं का बड़ा ही विशद वर्णन किया गया है। यशोदा मैया की वात्सल्यमयी चिंता बड़ी मर्मस्पर्शिनी है। भगवान अपने पिता माता के पास पहुँच जाते हैं और राजसी ठाट-बाट से रहते हैं। तब भी यशोदा मैया देवकी को संदेशा भेजे बिना सन्तोष नहीं करतीं—

सँदेसो देवकी सों कहियो ।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो ॥
तुम तो टेव जानतहि ह्वै हो, तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतहि, माखन रोटी भावै ॥

इसी प्रकार सूरदास जी का प्रेम-वर्णन भी बहुत ही उत्कृष्ट है। ऊपर की पंक्तियों में 'हौं तो धाय तिहारे सुत की' कह कर यशोदा ने अपनी अधिकारहीनता बतलाते हुए भी कृष्ण की चिंता में अपने को अधिक प्रमाणित किया है और एक प्रकार से कृष्ण के चले जाने की झींझ को मिटाया है और साथ में 'चार्ज' भी सिर पर सौंप दिया है। भगवान कृष्ण की बाल-लीला बड़े ही स्वाभाविक-रूप से प्रेम-क्रीड़ा में परिणत हो जाती है। फिर उसी प्रेम में संयोग का हासोल्लास और वियोग की विरह-वेदना उपस्थित हो जाती है। गोपियों का प्रेम

चाहे स्वार्थमय हो परन्तु है सच्चा। कृष्ण भगवान की विरह-वेदना बड़ी तीव्र थी। विरह के लिए दूर और निकट का प्रश्न न था, उनका दुःख तो यह था कि 'ऊधो, अब नहीं स्याम हमारे। मधुबन बसत बदलिगे वे माधव मधुप तिहारे'। वे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की उपासिका न थीं वरन् उनके माधुर्य्य पर मुग्ध थीं। ज्ञान वैराग्य द्वारा वे भगवान के निर्गुण रूप की उपासना नहीं करना चाहती थीं, वे तो यह भी नहीं जानती थीं कि वह निर्गुण कौन से देश का निवासी है। वे तो कान्ह के ऊपर मुग्ध थीं। वे अपने हृदय की एकनिष्ठता से प्रेरित हो ऊधो को फटकारती हुई कहती हैं "रहु रे मधुकर मधु मतवारे। कहा करौं निर्गुण लैकै हौं जीवहु कान्ह हमारे"। भगवान से वे हौव्वे का सा भय नहीं करती थीं, वे उनसे प्रेम करना चाहती थीं। वियोग में ही वे संयोग समझती थीं। वियोग के पागलपन के आगे उनके लिए योग हेय था—

> मधुकर कौन मनायो मानै !
> सिखवहु तिनहुँ समाधि की बातें जे हैं लोग सयाने।
> हम अपने व्रज ऐसहि बसिहैं, विरह-बाय बौराने॥

वास्तव में ऊधो-गोपी-संवाद निर्गुण और सगुण उपासना का विवाद है। जहाँ गोपियों का मन लग गया वहाँ से हट नहीं सकता। 'मन नाहीं दस बीस' यह प्रेम की अचलता और दृढ़ता है। मनमोहन गोपियों के मन से निकाले नहीं निकलते, क्योंकि वे बाँके हैं। बाँकापन सौंदर्य का द्योतक है। 'उर में माखन चोर गड़े। अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जु अड़े।' कैसी सुन्दर उक्ति है ! भगवान ने त्रिभंगीपन की सार्थकता दिखा दी है।

सूरदास जी का महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने लोगों का ध्यान भगवान के सौन्दर्य और माधुर्य की ओर आकर्षित सूरदास जी का किया। हतोत्साह और परास्त हिन्दू जाति कुछ महत्त्व अपनापन रखना चाहती थी. दर्शन शास्त्र की

जटिल समस्याओं और निर्गुण ब्रह्म के शुष्क ज्ञान की ओर उनका मस्तिष्क नहीं झुक सकता था। यह बात तभी होती है जब कि हृदय में उत्साह होता है। सौन्दर्य का आकर्षण मरते हुए को भी जिला देता है। सौन्दर्य के शर्करावेष्टन में उन्होंने धर्म के तत्त्व को हिन्दू जाति के शरीर में प्रवेश करा कर उसमें एक नई स्फूर्ति उत्पन्न कर दी और इस प्रकार उनमें एक धार्मिक स्वतंत्रता का भाव स्थापित हो गया।

यद्यपि यह सत्य है कि बहुत से लोगों में शर्करा के बहिरावेष्टन से शर्करा ही की चाट पड़ गई और वे धर्म के तत्त्व को भूल गये तथापि वैष्णव कवियों के हृदय से निकली हुई प्रेम-धारा ने सहस्रों मनुष्यों के जीवन में एक अलौकिक परिवर्तन उत्पन्न किया और उनके हृदय में त्याग की भावना जागरित कर उनको सांसारिक वासनाओं से मुक्ति प्रदान की और उन्हें ब्रह्मानन्द में मग्न कर दिया।

---

५८. गोस्वामी तुलसीदास

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

गोस्वामी तुलसीदासजी उन विरले महात्माओं में से हैं जो अपने देश व जाति का इतिहास बनाते हैं। इन महात्मा के जीवन-चरित्र के विषय में जो कुछ संसार को ज्ञात है उसके चार आधार हैं—(१) नाभाजी का भक्तमाल और उस पर उनके शिष्य प्रियादास की टीका, (२) तुलसीदासजी के शिष्य बाबा रघुनाथदास जी का लिखा हुआ तुलसी-चरित्र, (३) बाबा वेणीमाधव का लिखा हुआ मूल गुसाईं चरित्र, (४) तुलसीदासजी के ग्रंथों के आन्तरिक प्रमाण।

साधारणतया तुलसीदासजी का जन्म राजापुर ग्राम जिला बाँदा में

संवत् १५८६ में माना जाता है। अब कुछ लोग सूकर क्षेत्र या सोरों के पक्ष में झुकते जाते हैं। मानस-मयंक टीका के अनुसार इनका जन्म सवत् १५५४ में कहा जाता है, किन्तु इस मत से संवत् १६८० तक इनकी आयु १२६ वर्ष की होती है जो असंभव नहीं है, परन्तु कलिकाल में कठिन अवश्य है। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता क नाम हुलसी था गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सों सुत होय)। कहा जाता है इनकी माता ने इनके जन्म के दो चार दिन पश्चात् ही शरीर त्याग दिया था और नवजात शिशु की अवस्था में ही वे, चाहे अभुक्त मूल में जन्म लेने के कारण, चाहे और किसी कारण वश, अपने पैतृक घर से बहिष्कृत कर दिये गये थे। यह चाहे सत्य हो या न हो, परन्तु इतना अवश्य है कि ये महात्मा अपने बाल्य-काल में माता-पिता के स्नेह और घर के लाड़-प्यार-मय जीवन से वंचित रहकर द्वार-द्वार घूमते फिरे थे। इनका पहला विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे एक बालक भी हुआ। परन्तु थोड़े दिन में माता और बालक दोनों की मृत्यु हो गई, तब इनका विवाह कचनपुर-निवासी लछमन उपाध्याय की कन्या बुद्धिमती से हुआ।

जन्म और बाल्यकाल

प्रत्येक बड़ी बात का कारण छोटा ही होता है। इन महात्मा को अपनी दूसरी स्त्री के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। एक बार इनकी स्त्री अपने मातृगृह चली गई। उसका वियोग इनको असह्य हो गया। ये बड़ी कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए तिमिरमय रात्रि में उनके पास जा पहुँचे। उनकी इस आतुरता को देखकर उनकी स्त्री ने कहा—

प्रबोध

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ॥

अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम में, होत न तौ भव-भीति॥

इसके सुनते ही उनका वासनामय प्रेम श्रीरामचन्द्र जी के प्रति दृढ़भक्ति में परिणत हो गया। लोक-प्रेम का स्थान ईश-प्रेम ने ले लिया। तत्क्षण गृह-त्याग कर गुरु की शरण में पहुँचे। बाबा नरहरिदास जी इनके गुरु थे 'कृपासिंधु नर रूप हरि'। इनकी दीक्षा रामानन्द-सम्प्रदाय की थी।

गृह-त्याग के पश्चात् ये चित्रकूट, काशी, अयोध्या आदि स्थानों में रहे। संवत् १६३१ में इन्होंने अपनी अमर-कृति राम-चरित-मानस का प्रारम्भ किया।

संवत् सोलह सौ इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

मृत्यु

संवत् १६८० में असी-गंग के तीर पर श्रावण शुक्ला सप्तमी को इसका दूसरा पाठ 'श्रावण श्यामा तीज' है) इन्होंने इस नश्वर शरीर को त्याग कर उस यशःशरीर को धारण किया जिसको जरा और मरण का भय नहीं है।

तुलसीदासजी के समय की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति

सोलहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का उदय हुआ। मुगलों ने थोड़े बहुत युद्धों के पश्चात् शान्ति स्थापित कर ली थी। अकबर के समय में सम्राट् की उदारता के कारण पूरी धार्मिक स्वतंत्रता हो गई। हिन्दू-धर्म के व्याख्याताओं का राज-दरबार में प्रवेश हो गया और उसके साथ हिन्दी का भी। जब धार्मिक स्वतंत्रता होती है तब सब धर्मों की उन्नति होने की संभावना रहती है। उसी के साथ-साथ धर्म में जो उत्तेजना दबाव और अत्याचार से आती है, वह जाती रहती है और दो धर्म एक दूसरे को आदान-प्रदान करते हुए मिल-

मिल्त हो जाते हैं। कुछ इस खिल्त-मिल्त होने के भाव को बचाने के अर्थ, कुछ सूफी मत के प्रभाव को घटाने के निमित्त, और कुछ शुष्क ब्रह्मवाद से ऊबे हुए लोगों को हार्दिक संतोष देने के लिए भक्तिकाव्य का प्रचार हुआ। उस समय की शान्ति और राजकीय धार्मिक उदारता ने धर्मोत्थान के इच्छा रूपी बीज को उर्वरा भूमि दी थी भक्ति-मार्ग तो फलता-फूलता जा रहा था, किन्तु उसमें कर्तव्य-परायणता और सदाचार के उच्च आदर्श की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया था। यही बात किसी जाति को जीवित रखने के लिए, जाति को शान्ति-जन्य विलासिता की बाढ़ में डूबने से बचाने के निमित्त, परमावश्यक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी के चरित्र का वर्णन कर हिन्दू-जनता के लिए एक उच्च आदर्श उपस्थित कर दिया और समाज में मर्यादावाद के प्रति आदर-भाव की वृद्धि की। हिन्दू-धर्म के मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना कर, साम्प्रदायिक भेद-भाव को दूर कर, और पाखंड और विडम्बना का खंडन कर गोस्वामी जी ने हिन्दू धर्म को पुनर्जीवन दिया।

तुलसीदास का स्वभाव

तुलसीदास जी बड़े ही साधु स्वभाव के थे। वे अपने को दीनों से दीन समझते थे। और उनको अपने पांडित्य का ज़रा भी अभिमान नहीं था। देखिए—

कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीना,
सकल कला सब विद्या हीना।
× × ×
कवित विवेक एक नहिं मोरे,
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

वे अपनी सफलता का एक मात्र कारण यही मानते थे कि उनकी कविता का विषय श्री रामचन्द्र जी का विमल यश है, उसी के कारण वह भक्तजनों को प्रिय लगेगी। जिस प्रकार पवन के साथ धूल भी ऊपर चढ़ जाती है उसी प्रकार रामचन्द्र जी के सुयश के कारण उनकी फीकी

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
सन्तन ढिग बैठि बैठि लोक-लाज खोई॥

भक्ति के प्रभाव से सब सांप्रदायिक विरोध नष्ट हो जाते हैं। हिंदू-मुसलमान का भेद नहीं रहता। देखिए एक मुसलमान कवयित्री ताज क्या कहती है—

नंद के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै
तांण नाल प्यारे, हिंदुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

जिस प्रकार उसके लिए जाति-पाँति का ध्यान नहीं रहता उसी प्रकार उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। उसे मुक्ति की भी चाह नहीं रहती, उसे तो केवल 'प्रेम' की चाह रहती है। वह यदि कुछ माँगता है तो भक्त तुलसीदास जी की तरह यही कहता है कि 'देहु भक्ति अनपायिनी'। उसको एक ही बल, एक ही भरोसा और एक ही आशा तथा विश्वास रहता है। वह यही चाहता है कि वह चकोर की भाँति अपने प्रियतम को देखता रहे 'रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजिए'। वह हानि-लाभ सुख-दुख को भी कुछ नहीं समझता। वह दुख को भी सुख मानता है. वह द्रौपदी की भाँति दुखों का स्वागत करता है; क्योंकि दुख में भगवान की याद आती है।

सच्चा भक्त कठिनाइयों से विचलित नहीं होता, प्रेम का बदला भी नहीं चाहता, प्रेम करना ही उसका एक-मात्र लक्ष्य बन जाता है। तब उसकी चातक की सी गति हो जाती है—

उपल बरसि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक जलद तजि, कबहुँ आन की ओर॥

धन वैभव घट जाने की उसको परवाह नहीं, भौतिक बल की उसे चिंता नहीं। उसे यदि चिंता है तो केवल इस बात की कि उसका प्रेम न घटे—

श्रवन घटहु, पुनि दृग घटहु, घटहु सकल बल देह।
इते घटे घटिहै कहा, जो न घटे हरि नेह॥

भक्त को भगवान के न मिलने पर दुख होता है। वह उस दुख की भी सराहना करता है। विरह का शाप उसको वरदान हो जाता है। कबीर की भाँति वह विरह-शून्य हृदय को मसान समझता है। विरह का काँटा उसके हृदय में खटकता है, किन्तु उसकी कसक को मधुर समझता है—

कहा निकासन आई उर ते काँटो अरी हठीली।
चुभ्यौ रहन दे, लागति नीकी वाकी कसक चुभीली॥

यह तो भक्त का निरालापन है कि वह काँटे को भी नहीं निकालने देता; वह उपदेष्टा को उलटा उपदेश देता है। ऊधो गोपियों को समझाने आते हैं, उन्हें योग की शिक्षा देते हैं, वैराग्य का महत्त्व बतलाते हैं, प्रेम-दुःख से गोपियों को मुक्त करना चाहते हैं, लेकिन क्या उत्तर मिलता है—

श्याम गति, श्याम मति, श्याम ही हैं प्रानपति,
श्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम हैं।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आए दौरे,
योग कहाँ राखें यहाँ रोम रोम श्याम हैं।

× × × ×

कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जान परै कान्ह हैं कि प्रान हैं।

योग के उपदेष्टा ऊधो भी इस उत्तर को सुन कर दंग रह जाते हैं। आत्म-विस्मृति उनको भी घेर लेती है—

लखि गोपिन को प्रेम, नेम ऊधो को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन मैं फूल्यो॥
छिन गोपिन के पग धरै धन्य तुम्हारो नेम।
धाइ-धाइ द्रुम भेटही ऊधो छाके प्रेम॥

भक्त के लिए संसार की सभी बातें उलटी होती हैं। वह श्याम रंग में डूबने को उज्ज्वल होना समझता है—'ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रंग,

ज्यों-ज्यों उज्जलु होय'। उसके लिए सोना और जागना एक हो जाता है। मरण ही उसके लिए जीवन होता है।

पाने में मैं तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्ति हो, जीवन
चिर-तृष्णा हो मिट जाना!

क्या ही सुन्दर भाव है! संसार के सुख और ऐश्वर्य को पाने में प्रियतम को खोना है और संसार को खो देने में प्रियतम को पाना है। अतृप्ति ही जीवन है। प्रेम-पिपासा मिटती नहीं, यदि उसको तृष्णा है तो बस मिट जाने की।

भक्त जन विरोधों के संघात बन जाते हैं। कभी तो दीन से भी दीन, कभी हठों से भी हठी दिखाई पड़ते हैं। कभी तो 'हौं सब पतितन को टीको', 'मो सम कौन कुटिल खल कामी......, पापी कौन बड़ो है मोते सब पतितन में नामी, सूर पतिन को ठौर कहाँ है. सुनिए श्रीपति स्वामी, 'सूरदास द्वारे ठाढ़ो आँधरो भिखारी' कहते हैं और कभी अकड़ बैठते हैं और लड़ने को तैयार हो जाते हैं—

आज हौं एक-एक करि टरिहौं—
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।

भक्त के लिए कोई नियम नहीं, कोई शृंखला नहीं, कोई बन्धन नहीं। वह स्वच्छन्द है, वह उन्मुक्त है, वह अपनी धुन का पूरा है। यदि उसकी कोई चीज़ स्थिर है तो उसकी लगन है, इसके सिवाय उसके मन की बात जानना कठिन है। वह कभी रोता है और कभी हँसता है, कभी रीझता और कभी खीझता है। वह संसार में नहीं रहता, उसकी मथुरा तीन लोक से न्यारी होती है। उसके हृदय का मर्म नहीं जानता है। उसके भीतरी मर्म को—दर्द को—सांसारिक लोग नहीं समझ सकते। 'जाके पायँ न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई', भक्ति की रीति भक्त ही जानता है। सांसारिक लोग तो इस

इतना ही कह सकते हैं कि—

'प्रेम को पैंड़ो ही है न्यारो।'

६०. विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा

"वास उसी में है विभुवर का, बस सच्चा साधु वही,
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़ कर उनकी बाँह गही।
आत्म-स्थिति जानी उसने ही; पर-हित जिसने व्यथा सही;
पर हितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही॥"

—मैथिलीशरण गुप्त।

"जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है,
प्यारी! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।"

—प्रिय-प्रवास

संसार के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि सभी प्राणी स्वहित-साधन में तत्पर रहते हैं। अपने पर प्रेम करना किसी से सीखना नहीं पड़ता। अपने लिए सबके सब उदार ही हैं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य स्वभाव से ही अपने ऊपर प्रेम करता है, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है जो अपने अतिरिक्त और किसी व्यक्ति को प्यार न करते हों। मनुष्य अपने हित-चिन्तन के साथ दूसरे का भी हित-चिंतन कर ही लेता है।

क्रूरातिक्रूर मनुष्य के हृदय-क्षेत्र में दया के कोमल बीज समूल नष्ट नहीं हो जाते। कभी-कभी समय पाकर वे अंकुरित हो आते हैं। निष्ठुर व्याध दिन भर भीषण हत्या-काण्ड में प्रवृत्त रहता है—किस लिए? अपने और अपने बाल बच्चों के भरण पोषण के निमित्त। अपने प्यारे बच्चों के लिए तो निष्करुण व्याध का भी हृदय अत्यन्त कोमल हो जाता है। ऐसे-ऐसे नर पिशाच, जिनका हृदय कभी किसी के लिए दयार्द्र और प्रेम-प्लावित नहीं हुआ, शुष्क वैज्ञानिक अथवा अर्थशास्त्र-विशारद पंडितों के विभीषिका-पूर्ण मस्तिष्क में घुसते हों,

हुआ है। जब अपने व्यक्तित्व का नाश हुआ, तब सारे भेद भी उसी के साथ छिन्न-भिन्न हो गए।

प्रेम का अर्थ ही है—व्यक्तित्व का परित्याग। फिर जहाँ ज्ञान हो कि सब स्थानों में एक ही पवित्रात्मा का प्रकाश अथवा विकास है, वहाँ प्रेम—रुके हुए जल स्रोत की भाँति—सारे बन्धनों को तोड़-फोड़ कर चारों ओर फैलने लगता है। प्रेम का शुद्ध स्रोत अथाह है। प्रेम की स्वाभाविक वृद्धि विश्व-प्रेम द्वारा सम्भव है। भौतिक पदार्थों की भाँति प्रेम की परिमिति नहीं। व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

विश्व-प्रेम उन्हीं के लिए कठिन एवं दुस्साध्य है, जो अपनी आत्मा को पंच महाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं जा सकता, किन्तु उसके मानने वाले भी व्यक्तित्व से बाहर जाने का यत्न किया करते हैं। वे भी पर-हित-साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है, तब फिर आत्मा के विस्तार को कौन रोक सकता है! जादू वही है जो सिर पर चढ़ कर बोले।

क्या हमें प्रतिक्षण इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि हम इस क्षुद्र शरीर में संकुचित नहीं हैं! हमारे आदर्श हमें अपनी परिमितता से बाहर ले जाते हैं। हमारी देह और इन्द्रियाँ एकदेशीय हों तो हों, पर हमारी आत्मा में एकदेशीयता का लेश भी नहीं।

आत्मा का विस्तार जितना बढ़ाओ, उतना ही बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे हमारी औदार्यमयी सहृदयता की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे हमारी आत्मा का वृत्त भी बढ़ता जाता है। साधारण मनुष्य के लिए उसका घर ही उसकी आत्मा है। जाति-सुधारक के लिए जाति और राष्ट्र-निर्माता के लिए राष्ट्र ही उसकी आत्मा है। देशानुरागी की आत्मा निज परिवार, कुटुम्ब और जाति में ही संकुचित नहीं रहती। उसकी स्वार्थ-सिद्धि तो देश के परम कल्याण में

है। देश का ऐश्वर्य उसका ऐश्वर्य है। जिस बात से देश का मुख कलंकित हो, उस बात से उसे भी दारुण दुःख होता है। जिससे देश का मुख उज्ज्वल हो, उसका लांछन छूट जाय, मस्तक उन्नत हो, वही उस देश-भक्त के परमानन्द का प्रधान कारण होता है। मनुष्य-मात्र की हित-कामना करने वाले का आत्म-विस्तार देश-हितैषी की आत्मा के विस्तार से भी वृहत् है। फिर प्राणीमात्र से अविरल प्रेम करने वाले महापुरुष की आत्मा का तो कहना ही क्या? वह तो समष्टि की आत्मा से एक हो जाती है। एक शरीर में केन्द्रीभूत आत्मा के वृत्त का विस्तार जितना ही बढ़ता चला जाय, उतनी ही अधिक आनन्दामृत की वृष्टि होगी—यह मिट्टी की काया कंचन की हो जायगी—इसी धरती पर स्वर्ग उतर आवेगा। आत्मा का विस्तार केवल इस बात को जान लेने से नहीं बढ़ता कि हम सब एक ही हैं! यह ज्ञान विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा के लिए परमावश्यक है, किन्तु इसका प्रत्यक्षीकरण अथवा स्पष्टीकरण बिना प्रेम और सेवा के नहीं होता।

विश्व-प्रेम देश और जाति के संकुचित बन्धनों को नहीं स्वीकार करता है। उसके लिए शत्रु-मित्र का भेद नहीं रहता। दीन दुर्बल और दलित ही विश्व-प्रेमी के सगे-सम्बन्धी बन जाते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाले उदार-हृदय के लिए कोई वस्तु अदेय नहीं रहती और कोई सेवा गर्हित नहीं समझी जाती। कुरूपता उसके लिए विकर्षण नहीं उत्पन्न करती और वीभत्सता उसके लिए अर्थ-शून्य हो जाती है। रुधिर और पीब स्रवित करने वाले कुष्ठी के गलित अङ्ग उसकी मरहम पट्टी करते समय उसकी घृणा के विषय नहीं बनते। [illegible] बोली की विभीषिका उसको कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं करती। [illegible] के कष्ट उसके कर्तव्य-मार्ग में बाधक नहीं बनते।

विश्व-प्रेम की पावनी गंगा के प्रकाश-पुंज में जातीयता की [illegible] हो जाती है। सब की सेवा विश्व-हितैषी का धर्म

न जाता है। वह शत्रु-दल में भी निर्भय-भाव से प्रवेश कर जाता है। वह अत्याचारी के आगे सर नहीं झुकाता किन्तु वह उससे घृणा भी नहीं करता। पाप से दूर भागता हुआ भी वह पापी को प्रेम प्रसारित बाहु-पाश में आबद्ध करने को तैयार रहता है। वह सेवा-धर्म को अनेक रूपों में अपनाता है। भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना, रोगी की सेवा सुश्रूषा करना, अशिक्षितों को शिक्षित बनाना, भूले भटकों को राह लगाना, अत्याचारियों से परित्राण दिलाना, आश्रयहीनों को आश्रय देना, बेरोजगारों को रोजगार में लगाना, शत्रुओं में मेल कराना, यह विश्व-मानव-देव के प्रति उसकी नवधाभक्ति के विभिन्न अङ्ग हैं। उसकी भक्ति के रूप नवधा ही नहीं वरन् शतधा भी हो सकते हैं। विश्व प्रेम का साधक सेवा के अवसर पाकर उल्लसित हो उठता है और अपने सुख दुख को भूल जाता है। वह उपकृत के आगे नत मस्तक हो उसके स्वाभिमान की रक्षा करता है। वह दूसरों का तोष दान से नहीं वरन् मान से भी करता है।

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा द्वारा ही व्यक्तित्व का जटिल बन्धन टूट सकता है। सेवा-द्वारा ही अपनी आत्मा का पूर्ण विस्तार जाना जा सकता है। विश्व-प्रेम से ही समष्टि-व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्व-सेवा द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। संकोच का अकुञ्चित विस्तार हो जाता है—संकीर्णता के स्थान में सुव्यवस्थित उदारता का राज्य हो जाता है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी बन सकते हैं—सारे संसार को अपना बना सकते हैं—कलियुग को सतयुग में पलट सकते हैं।

फिर निराश क्यों?

मुद्रकः—सरयू प्रसाद पांडे, 'विशारद' नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।
प्रकाशक—इन्द्रचन्द्र नारङ्ग, हिंदी भवन, टैगोर टाउन, इलाहाबाद

न जाता है। वह शत्रु-दल में भी निर्भय-भाव से प्रवेश कर जाता है। वह अत्याचारी के आगे सर नहीं झुकाता किन्तु वह उससे घृणा भी नहीं करता। पाप से दूर भागता हुआ भी वह पापी को प्रेम प्रसारित बाहु-पाश में आबद्ध करने को तैयार रहता है। वह सेवा-धर्म को अनेक रूपों में अपनाता है। भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना, रोगी की सेवा सुश्रूषा करना, अशिक्षितों को शिक्षित बनाना, भूले भटकों को राह लगाना, अत्याचारियों से परित्राण दिलाना, आश्रयहीनों को आश्रय देना, बेरोजगारों को रोजगार में लगाना, शत्रुओं में मेल कराना, यह विश्व-मानव-देव के प्रति उसकी नवधाभक्ति के विभिन्न अङ्ग हैं। उसकी भक्ति के रूप नवधा ही नहीं वरन् शतधा भी हो सकते हैं। विश्व प्रेम का साधक सेवा के अवसर पाकर उल्लसित हो उठता है और अपने सुख दुख को भूल जाता है। वह उपकृत के आगे नत मस्तक हो उसके स्वाभिमान की रक्षा करता है। वह दूसरों का तोष दान से नहीं वरन् मान से भी करता है।

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा द्वारा ही व्यक्तित्व का जटिल बन्धन कट सकता है। सेवा-द्वारा ही अपनी आत्मा का पूर्ण विस्तार जाना जा सकता है। विश्व-प्रेम से ही समष्टि-व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्व-सेवा द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। संकोच का अकुञ्चित विस्तार हो जाता है—संकीर्णता के स्थान में सुव्यवस्थित उदारता का राज्य हो जाता है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी हो सकते हैं—सारे संसार को अपना बना सकते हैं—कलियुग को सतयुग में पलट सकते हैं।

फिर निराश क्यों ?

मुद्रकः—सरयू प्रसाद पांडे, 'विशारद' नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।
प्रकाशक—इन्द्रचन्द्र नारङ्ग, हिंदी भवन, टैगोर टाउन, इलाहाबाद